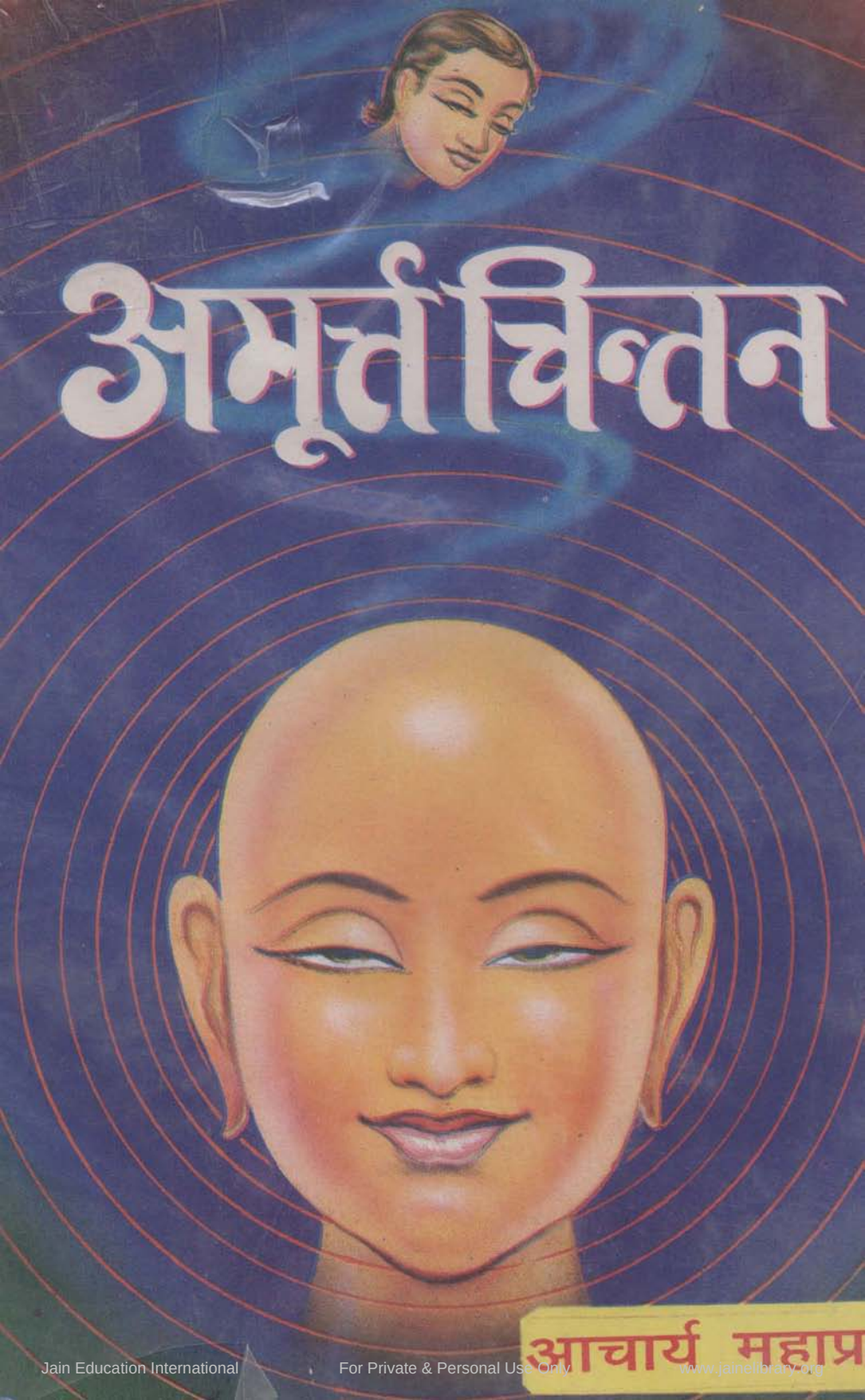

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमूर्त्त चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमूर्त्त चिन्तन

(चिन्तन अचिन्तन का)

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती, लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादक : **मुनि दुलहराज**
संकलक : समणी स्थितप्रज्ञा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

सौजन्य : श्री भीखमचन्द जी बोरड़
(श्रीडूंगरगढ़)

संस्करण : २०००

मूल्य : ५०.०० रुपये

मुद्रक : शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स

AMURTA CHINTAN
Acharya Mahaprajna

Rs. 50.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

मनुष्य की जीवन-शैली उसके चिन्तन पर निर्भर है। उसकी शरीर-संरचना, कार्यपद्धति और व्यक्तित्व की निर्मिति का आधार भी उसका चिन्तन है। वह जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। उसकी वृत्तियों, नीतियों और व्यवहारों पर भी उसके चिंतन का प्रभाव रहता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल सिमोंटोन के अनुसार पॉजिटिव थिंकिंग के प्रभाव बहुत आश्चर्यकारक होते हैं। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य जो कुछ सोचे, पूरे मन से सोचे और समझपूर्वक सोचे। यह पूर्व एवं सुविचारित सोच मनुष्य के व्यक्तित्व का बहुत बड़ा हिस्सा है।

विचारों के आधार पर व्यक्तित्व परिवर्तन की बात कोई माने, न माने, हम अपना अभिप्राय किसी पर थोपना नहीं चाहते। पर जिन लोगों को यह विश्वास न हो, वे युवाचार्य महाप्रज्ञ की अनुभूत कृति 'अमूर्त्त चिंतन' पढ़ें और अपनी धारणाओं के जंगल को काटकर अनुभवों की नई पौध उगाएं।

आत्महीनता से उपजी कुंठाओं और विकृतियों को तोड़कर संतुलित जीवन जीने के लिए अनुप्रेक्षा और भावना का प्रयोग अमोघ सिद्ध हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में यही सब कुछ रूपायित है। अपनी सुबोधता और वैज्ञानिकता के आधार पर यह पुस्तक किसी भी वर्ग की प्रबुद्ध पीढ़ी को आगे बढ़ाने में समर्थ है।

महाप्रज्ञजी का साहित्य उत्तरोत्तर अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। इस साहित्य के पाठक अपनी ज्ञान चेतना और अनुभव चेतना पर आए आवरण को तोड़कर अपने भीतर एक नए मनुष्य को जन्म देने में सफल हों, यही इस लोकप्रियता की सार्थकता है।

अणुव्रत भवन, नई दिल्ली
११ जनवरी, १९८८

आचार्य तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

हमारे जगत् का अर्थ है—इन्द्रिय चेतना और मूर्त्त पदार्थ का गठबंधन। हमारा ज्ञान इन्द्रियों की परिधि में केन्द्रित है। जो पदार्थ है, वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श की परिधि में अवस्थित है। पांच इन्द्रियां और ये पांच विषय इतना छोटा-सा है—हमारा जगत्। वास्तव में यह जगत् इतना छोटा नहीं है। यह बहुत बड़ा है। इन्द्रियों की शक्ति बहुत सीमित है। वे मूर्त्त पदार्थ को जानती हैं, पर उन्हीं को जो स्थूल हैं। परमाणु मूर्त्त हैं। इन्द्रियां उन्हें नहीं जान सकतीं। अनन्त परमाणु मिले। एक स्कंध बन गया। उसकी परिणति सूक्ष्म है। इन्द्रियां उसे भी नहीं जान सकती। इन्द्रियां केवल उसी पदार्थ को जानती हैं जो अनन्त-अनन्त परमाणुओं से बना हुआ स्कंध है, और जिसकी परिणति स्थूल हो गई है। वे सारे मूर्त्त जगत् को भी नहीं जानतीं तब अमूर्त्त जगत् को जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अमूर्त्त तत्त्व शब्द, गंध, रस और स्पर्श से अतीत होते हैं। उसके परमाणु (प्रदेश) पुद्गल के परमाणुओं से भिन्न हैं। इसलिए एक इन्द्रियज्ञानी का अमूर्त्त को जानने का प्रयत्न सफल नहीं होता। वह परम अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। सामान्य अतीन्द्रिय ज्ञानी भी उसे नहीं जान सकता। परम अतीन्द्रिय ज्ञानी ही उसे जान सकता है।

धर्म का पहला बिन्दु है—अतीन्द्रिय चेतना। इन्द्रिय चेतना वाला धर्म का मूल्य नहीं आंक सकता। धार्मिक वही होता है, जो मूर्त्त के साथ अमूर्त्त का भी मूल्यांकन करता है। मनुष्य सामाजिक है। वह समाज से बनता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह सचाई है। अस्तित्व की दृष्टि से यह सत्य नहीं है।

अस्तित्व की दृष्टि से वह अकेला है। सामाजिक दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य सहयोग का जीवन जीता है। एक दूसरे को आश्वासन और शरण देता है। किन्तु वास्तविक सचाई इससे भिन्न है। प्रत्येक आत्मा अपने ही सत्-आचरण से अपने आपको त्राण दे सकती है, अपना त्राण बन सकती है। इस प्रकार हमारा व्यक्तित्त्व व्यावहारिक सचाइयों और वास्तविक सचाइयों का योग है।

व्यावहारिक सचाइयों का चिन्तन से सीधा सम्बन्ध जुड़ता है। आन्तरिक सचाइयों का क्षेत्र परामार्थ है, वह चिन्तन से परे है। यह विषय-मर्यादा है चिन्तन और अचिन्तन की, मूर्त्त और अमूर्त्त की। परमार्थ का भी चिन्तन की भूमिका पर अवतरण होता है। फिर भी वह अपने अमूर्त्त रूप को बनाए रखता है। मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों के क्षेत्र बहुत विशाल हैं, पर इन्द्रियज्ञानी की परिधि में जीने वालों के लिए अमूर्त्त का क्षेत्र बहुत बड़ा नहीं है। इसीलिए वे मूर्त्त चिंतन को जितना महत्त्व देते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतना अमूर्त्त चिंतन को नहीं देते। परमार्थ का सूर्य प्रातः स्वार्थ के बादलों से ढका रहता है। जिन मनुष्यों ने तमस् से ज्योति की ओर प्रस्थान किया अथवा जो लोग उस दिशा में प्रस्थान करना चाहते हैं, उनके लिए मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर जाना अनिवार्य है। उस अनिवार्यता को प्रस्तुत प्रस्तक में आकार दिया गया है।

इस पुस्तक के संकलन में समणी स्थितप्रज्ञा ने बहुत श्रम किया है। अनेक पुस्तकों में बिखरे हुए विषयों को संकलित कर एक उपयोगिता निर्मित की है। विभिन्न कारणों से मानसिक कठिनाइयां भुगतने वाले लोगों के लिए यह एक समाधान है और जो मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहते हैं, उनके लिए यह एक संजीवन है। मुनि दुलहराजजी ने इसका संपादन कर प्राचीन परंपरा से प्राप्त अनुप्रेक्षा को नए संदर्भ में संजोया है। इससे पाठक को बहुत आश्वासन मिल सकेगा।

आचार्य श्री तुलसी ने प्रेक्षाध्यान के प्रति अपनी जो तन्मयता प्रगट की है, जिस प्रकार जन-जन को उसकी ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है, उसकी सार्थकता सिद्ध होगी और उनका सार्थक आशीर्वाद जन-जन तक पहुंच सकेगा।

८ जनवरी, १९८८
अनुव्रत भवन
नई दिल्ली-१

—आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

	अनुप्रेक्षा और भावना	१
०	**भावना**	
१.	अनित्य भावना	१९
२.	अशरण भावना	२५
३.	भव भावना	२९
४.	एकत्व भावना	३२
५.	अन्यत्व भावना	४३
६.	अशौच भावना	५०
७.	आस्रव भावना	५५
८.	संवर भावना	६३
९.	निर्जरा भावना	७१
१०.	धर्म भावना	७४
११.	लोक संस्थान भावना	८०
१२.	बोधि दुर्लभ भावना	८२
१३.	मैत्री भावना	८७
१४	प्रमोद भावना	९४
१५.	करुणा भावना	९६
१६.	उपेक्षा भावना	१०१
०	**अनुप्रेक्षा**	
१.	कर्त्तव्यनिष्ठा अनुप्रेक्षा	१११
२.	स्वावलम्बन अनुप्रेक्षा	१२०
३.	सत्य अनुप्रेक्षा	१२६
४.	समन्वय अनुप्रेक्षा	१३८
५.	संप्रदाय निरपेक्षता अनुप्रेक्षा	१४८
६.	मानवीय एकता अनुप्रेक्षा	१५५
७.	अध्यात्म और विज्ञान अनुप्रेक्षा	१५८
८.	मानसिक संतुलन अनुप्रेक्षा	१७१
९.	धैर्य अनुप्रेक्षा	१८१
१०.	प्रामाणिकता अनुप्रेक्षा	१८४
११.	ऋजुता अनुप्रेक्षा	१९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. सह-अस्तित्व अनुप्रेक्षा १९४
१३. अनासक्ति अनुप्रेक्षा २०२
१४. सहिष्णुता अनुप्रेक्षा २०६
१५. मृदुता अनुप्रेक्षा २१७
१६. अभय अनुप्रेक्षा २१९
१७. आत्मानुशासन अनुप्रेक्षा २२५

० **अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति**

१. अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति २४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा और भावना

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा, देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस चिंतन के अभ्यास को भावना कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है :

१. ज्ञान भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।

२. दर्शन भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास।

३. चारित्र भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।

४. वैराग्य भावना—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

'मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप से उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले में 'अर्हम्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओं से भावित होते हैं। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

साधनाकाल में ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा में जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है। ध्यान शतक में बताया गया है कि ध्यान को संपन्न कर अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान में होने वाले विविध अनुभवों में चित्त का कहीं लगाव न हो, इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का बहुत महत्त्व है। धर्म ध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. एकत्व अनुप्रेक्षा
२. अनित्य अनुप्रेक्षा
३. अशरण अनुप्रेक्षा
४. संसार अनुप्रेक्षा।

अनुप्रेक्षा

प्रेक्षा-ध्यान का दूसरा अंग है-अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है-ध्यान में जो कुछ हमने देखा, उसके परिणामों पर विचार करना। 'अनु' का अर्थ है-बाद में होने वाला। ध्यान में जो देखा, प्रेक्षा में जो देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना, परिणामों पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा।

सचाइयों का ज्ञान करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे 'सजेस्टोलॉजी' कहा जा सकता है। अनेक वैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इसका प्रयोग हो रहा है। 'सजेशन' दो प्रकार से दिया जा सकता है। स्वयं व्यक्ति स्वयं को सजेशन (सुझाव) देता है या अन्य व्यक्ति के सजेशन को स्वयं सुनता है। दोनों प्रकार प्रचलित हैं। इन सुझावों के द्वारा अकल्पित बातें घटित हो जाती हैं।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'आटोसजेशन'-स्वयं का स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है।

एक आदमी यदि प्रतिदिन सप्ताह तक सुझाव दे कि मैं बीमार हूं, तो निश्चित ही वह बीमार हो जाएगा। दूसरा व्यक्ति यदि यह सजेशन देता है कि मैं स्वस्थ हूं, मैं स्वस्थ हूं, तो वह स्वास्थ्य का अनुभव करने लग जाएगा। सुझाव की पद्धति को समझकर सुझाव दें, बार-बार सुझाव दें तो स्वस्थता बढ़ती चली जाएगी।

अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदत को बदला जा सकता है। आदत चाहे शराब पीने की हो, तम्बाकू सेवन की हो, चोरी की हो, झूठ और कपट की हो, बुरे आचरण और बुरे व्यवहार की हो, अनुप्रेक्षा पद्धति से उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। जप का विकास इसी अनुप्रेक्षा के सिद्धांत के आधार पर हुआ है। इष्ट का जप करो, मंत्र का जप करो, क्योंकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन में रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नहीं मिलेगा। इसीलिए मंत्र का आलम्बन लिया गया। कुछ लोग अध्यात्म साधना के क्षेत्र में मंत्र की उपयोगिता नहीं मानते। पर हमारा विश्वास है कि मंत्र की भी बहुत बड़ी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोगिता है, उसे नकारा नहीं जा सकता, अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम सीधे वीतराग तो बन नहीं सकते। सीधे छलांग वाली बात कम घटित होती है। कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है कि सीधी छलांग लगा सकता है, पर सब छलांगे लगाने लग जाएंगे तो शायद हॉस्पीटल में स्थान भी खाली नहीं मिलेगा। छलांग की बात सार्वजनिक बात नहीं हो सकती। कदाचित् हो सकती है, अपवाद स्वरूप हो सकती है। सीधे वीतरागता की भूमिका में चले जाने की बात एक छलांग की बात है। हमें सीढ़ियों के सहारे चलना पड़ेगा। आदमी सीढ़ी के सहारे चढ़ेगा, ऊपर पहुंचेगा। सीढ़ियों में दोनों बातें होती हैं। एक ही सीढ़ी बनी हुई है। उससे ऊपर भी चढ़ा जा सकता है, नीचे भी आया जा सकता है। ऐसा नहीं होता कि ऊपर जाने के लिए सीढ़ियां अलग बनती हैं और नीचे आने के लिए सीढ़ियां अलग बनती हैं। उसी सीढ़ी से ऊपर चढ़ा जा सकता है और उसी सीढ़ी से नीचे आया जा सकता है। हमारी एक ही भावधारा है। उसी भावधारा से ऊपर चढ़ा जा सकता है और उसी भावधारा से नीचे उतरा जा सकता है। हमारी भावधारा जब सत् के साथ जुड़ती है तब हम ऊपर चढ़ सकते हैं, हमारा आरोहण हो सकता है। ज्यों-ही भावधारा असत् के साथ जुड़ती है तब अवरोहण शुरू हो जाता है, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मन्त्र का विकास, इसी भावना के आधार पर हुआ था कि एक ऐसा आलम्बन बना रहे जिससे बुरे भावों को आने का अवसर कम से कम मिले।

भ्रांतियों का विघटन

मैं बहुत दिनों से सोचता था कि प्रेक्षा के पीछे 'अनु' का प्रयोग क्यों किया गया है ? इसे सोचते-सोचते जो एक बात सूझी वह यह है कि जो सचाई है, उसे देखना, उसका विमर्श करना अनुप्रेक्षा है। सचाई को देखो। उसे अपनी धारणा से मत देखो। मछली ने धारणा बना ली कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। इसी धारणा से वह आदमी को देखती थी। यह अनुप्रेक्षा नहीं है। अपनी धारणा से मत देखो। संस्कार की दृष्टि से मत देखो। काल्पनिक दृष्टि से मत देखो। केवल सचाई को देखो। वास्तविकता को देखो। यथार्थ को देखो। जो सत्य है, जो घटना घटित हो रही है, उसी को देखो। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—सत्य के प्रति अनुप्रेक्षा अर्थात् यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा, वस्तु के प्रति अनुप्रेक्षा। उधारी धारणा से काम मत लो, किन्तु जो घटना है, जो वास्तविकता है, सचाई है, उसी को देखो। यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि मनुष्य सचाई को नहीं देखता। वह सबसे पहले अपनी धारणाओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चश्मा लगा लेता है और बाद में देखता है। यदि वह ठीक नहीं जंचता है तो वह उसे तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न करता है।

अनुप्रेक्षा का सिद्धांत सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धांत है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है उसे ग्रहण करो, स्वीकार करो यह है अनुप्रेक्षा।

सुना होगा, हिमालय की बर्फ पर साधक नग्न होकर बैठा है। चारों ओर बर्फ ही बर्फ है। वह गर्मी का प्रयोग आरम्भ करता है। घण्टा बीतता है और साधक के शरीर से पसीना चूने लगता है। बर्फ पर पसीना चूने लग जाता है। यह प्राकृतिक घटना नहीं है। यह प्राकृतिक घटना होती तो एक ही आदमी के शरीर से पसीना नहीं चूता। वहां जितने आदमी होंगे, सबके शरीर से पसीना चूएगा। पर एक ही आदमी के शरीर से पसीना चूता है और बाकी सारे सर्दी में ठिठुरते हैं। यह ध्वनि का प्रयोग है, संकल्प और भावना का प्रयोग है। यह भावनात्मक परिवर्तन है, प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है।

गर्मी के दिन हैं। भयंकर गर्मी पड़ रही है। लूएं चल रही हैं। साधक सर्दी की भावना करता है, सर्दी का संकल्प करता है और उसके शरीर में सर्दी व्याप्त हो जाती है। वह ठिठुरने लगता है। वह कंबल ओढ़ता है, फिर भी ठिठुरना समाप्त नहीं होती। यह प्राकृतिक नहीं है, भावनात्मक परिवर्तन है।

एक आदमी आज भी जीवित है जो प्रति शुक्रवार को क्रॉस पर चढ़ता है। उसके दोनों हाथ में घाव हो जाते हैं। रक्त बहने लग जाता है। हृदय से भी रक्त बहने लगता है। शुक्रवार को ऐसा होता है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। वह व्यक्ति ईसामसीह का संकल्प करता है और ऐसा घटित हो जाता है।

भावना

'कंटकात् कंटकमुद्धरेत्'—कांटे से कांटा निकालने की नीति साधना के क्षेत्र में भी लागू होती है। चित्त को वासनाओं से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है, पर पहले ही चरण में दीर्घकालीन वासनाओं को एक साथ निर्मूल नहीं किया जा सकता। उन्हें निरस्त करने के लिए नई वासनाओं की सृष्टि करनी होती है। वे नई वासनाएं यथार्थपरक होती हैं, इसलिए उनका असत् से सम्बन्धित वासनाओं पर दबाव पड़ता है और वे उनसे अभिभूत हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीयज्ञान या शब्दज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप धारणा, संस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिंता भी कहा जाता है और ये सब स्वाध्याय के ही प्रकार हैं।

जैन साधना पद्धति में 'भावनायोग' शब्द का व्यवहार हुआ है। भावना से मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है, इसलिए यह योग है। भावना में ज्ञान और अभ्यास—दोनों के लिए अवकाश है।

भावना का अर्थ है—सविषय ध्यान। यही इसकी परिभाषा है। जब आपके मन में कोई विषय है, आपने कोई ध्येय चुना है, आप सविषय ध्यान कर रहे हैं, यह है भावना। भावना, सविषय ध्यान और जप में कोई अन्तर नहीं है। तीनों एक हैं। अपनी उपयोगिता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों का चुनाव हुआ है। तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। जप का अर्थ यह है कि जो जप्य है, जिसका जप करना है, उस जप्य वस्तु के प्रति व्यक्ति का तन्मय और एकाग्र हो जाना। भावना का अर्थ है—भाव्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है। जिसकी धारणा करनी है उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविषय ध्यान भी यही है। विषय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। जप, भावना, धारणा और सविषय ध्यान—चारों एक कोटि के हैं। इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है, नाम-भेद है केवल।

भावना नौका है। भगवान् महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल में नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुंच सकती है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो ? वह प्रश्न शेष रहता है। भावना से भावित होना आवश्यक होता है। हम जो भी होना चाहते हैं, हो जाते हैं। जो घटित करना चाहते हैं, वह घटित हो जाता है। जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। तन्मयता और एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमें कोई अन्तर नहीं आता। प्रश्न है एकाग्रता का, स्थिरता का। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के भीतर देखना, फिर संकल्प-शक्ति और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन मन तक पहुंचा देना, यह है रूपान्तरण की प्रक्रिया।

प्रत्येक कोशिका में ज्ञान-केन्द्र है। प्रत्येक कोशिका में प्रकाश-केन्द्र है, बिजली का कारखाना है। हर कोशिका का अपना एक कारखाना है। विद्युत् का, शक्ति का। वे कोशिकाएं अपने ढंग से काम करती हैं। उनको बदलना है, उनको नया जन्म देना है, उनको नया रास्ता देना है तो आपको अपनी भावना को उन तक पहुंचाना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक हमारी भावना उन तक नहीं पहुंचती तब तक हम नहीं बदल सकते। उदाहरण लें—एक आदमी अपनी क्रोध की आदत को बदलना चाहता है। संकल्प करता है—मैं क्रोध नहीं करूंगा। बार-बार करता है, पर सफल नहीं होता। कितने ही लोग बुरे काम करते हैं और पछताते हैं। फिर सोचते हैं, फिर ऐसा नहीं करूंगा। पर ठीक समय आता है, काम हो जाता है। गुस्सा भी आता है, वासना भी सताती है, वृत्तियां भी सताती हैं। सब अपने समय पर सताने लगते हैं। शराबी शराब को छोड़ने का संकल्प करता है, तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू को छोड़ने का संकल्प करता है। सोचता है, सेवन नहीं करूंगा, पर समय आता है तो भीतर में ऐसी प्रबल मांग जागती है कि उसका संकल्प धरा का धरा रह जाता है। संकल्प भंग हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए होता है कि हम अपने संकल्प को वहां तक पहुंचा नहीं पाते। बाहर ही बाहर में देखते हैं। हम बहुत अभ्यासी हैं बाहरी बात में। बाहरी को देखते हैं और सारी कल्पना बाहर ही करते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया का दूसरा सूत्र है—भावना का प्रयोग, संकल्पशक्ति का प्रयोग, अप्रभावित रहने का प्रयोग। यह संतुलन का प्रयोग होता है तो जीवन में समता घटित होती है और आदमी सौ कदम आगे बढ़ जाता है।

साधक ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद भावनाओं के अभ्यास का सतत् स्मरण करता रहे। उनसे एक शक्ति मिलती है, धीरे-धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है, मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर सत्य की दिशा में अनुगमन होता है और एक दिन स्वयं को तथानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और ध्यान के सहयोग से मंजिल सुसाध्य हो जाती है। साधक इन दोनों की अपेक्षा को गौण न समझे। सभी धर्मों ने भावना का अवलम्बन लिया है।

भावनाएं विविध हो सकती हैं। जिनसे चित्त की विशुद्धि होती है वे सारी भावनाएं हैं। आज की भाषा में भावना का अर्थ है—ब्रेनवाशिंग। इसका अर्थ है—मस्तिष्क की धुलाई। राजनीति के क्षेत्र में ब्रेनवाशिंग की प्रक्रिया बहुत प्रचलित है। इसका प्रयोजन है, पुराने विचारों की धुलाई कर उनके स्थान पर नए विचारों को भर देना। यह बहुत प्रचलित प्रक्रिया है। इसका प्रयोग प्रत्येक राष्ट्र करता है।

ओटोजेनिक चिकित्सा पद्धति

पश्चिम के लोगों ने एक चिकित्सा की प्रणाली का विकास किया है—आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। इस पद्धति में स्वतः प्रभाव डालने वाली बात होती है। वे कल्पना करते हैं और कल्पना के सहारे वैसा अनुभव करते हैं। इस ओटोजेनिक प्रणाली को योग की भाषा में भावात्मक प्रयोग कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। हमारे यहां भावना का प्रयोग चलता था कि हम वैसा अनुभव करें। भावना का प्रयोग करें कि यह हाथ ऊपर उठ रहा है। उठाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। अपने आप उठेगा और सिर पर लग जाएगा। आप भावना करें कि हाथ भारी हो गया है, हाथ बहुत भारी बन जाएगा। कल्पना करें कि हाथ हलका हो गया है, हलका हो जाएगा। भावना करें कि हाथ ठंडा हो रहा है, ठंडा हो जाएगा। भावना करें कि हाथ गर्म हो रहा है, हाथ गर्म हो जाएगा। भावना हमारी चेतना को और वातावरण को बदलती है। यह ठीक भावना का प्रयोग है—ओटोजेनिक चिकित्सा। इस पद्धति के द्वारा रोगी अपने आप अपने को स्वस्थ करता है। दूसरे मार्ग-दर्शक की बहुत जरूरत नहीं होती। मात्र वह तो कहीं-कहीं सुझाव देता है। रोगी स्वयं अपनी चिकित्सा कर लेता है।

सुझाव का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक आदमी पीड़ित है किसी भी अवयव की पीड़ा से। घुटने का दर्द, कमर का दर्द, गर्दन का दर्द—ये तीन स्थान बहुत ज्यादा दर्द के हैं। भारतीय लोग इनसे पीड़ित हैं। ये खास स्थान हैं। दर्द है, शरीर प्रेक्षा का प्रयोग कर रहे हैं, उसे देख रहे हैं। इसके साथ भावना का प्रयोग करें। जहां दर्द है वहां हाथ टिका दें। उसे देखना शुरू कर दें। ध्यान उस पर केन्द्रित कर दें। अंगुली का निर्देश और ध्यान वहां पर केन्द्रित है। दीर्घश्वास लें, ध्यान वहीं टिका रहे, बीच-बीच में सुझाव दें कि अवयव स्वस्थ हो रहा है। आप प्रयोग करके देखें कि परिणाम क्या आता है ! कितना अद्भुत परिणाम आता है ! भावना के द्वारा, सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है। चेतना में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। हम आदतों को बदल सकते हैं। जटिल से जटिल आदत को भावना के प्रयोग के द्वारा बदला जा सकता है। जिस आदत को बदलने में हजारों उपदेश और हजारों शिक्षाएं काम नहीं करतीं, भावना के द्वारा व्यक्ति स्वयं को बदल सकता है और अपनी चेतना को एकदम नए ढांचे में ढाल सकता है।

ब्रेनवाशिंग का मुख्य साधन—भावना

भावना मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बड़ा साधन है। एक ही बात को बार-बार दोहराते जाएं, उसकी पुनरावृत्ति करते जाएं, ऐसा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। जब तक हमारी यह धारणा जमी हुई है की सुख-दुःख देने वाला तीसरा व्यक्ति है, तब तक आदमी का रूपान्तरण नहीं होता। भावना योग के द्वारा जब इस विचार की धुलाई हो जाती है, इस विचार को उखाड़ दिया जाता है, तब सुख-दुःख की कोई भी घटना घटित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर आदमी यह नहीं मानेगा कि सुख-दुःख देने वाला स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति है। आदमी फिर यही सोचेगा, मैंने ऐसा ही कोई कृत्य किया है, कोई ऐसा आचरण किया है, उसी का यह परिणाम सामने आ रहा है। पूरी दृष्टि अपनी सीमा में चली जाएगी। भावना-योग एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है परिवर्तन की, दृष्टि को बदलने की।

प्रश्न होता है, क्या एक बात को बार-बार दोहराने से संस्कार धुल जाता है ? नाजियों का यह प्रसिद्ध सूत्र था--एक झूठ को हजार बार दोहराओ वह सच हो जाएगा। हजार बार दोहराने से एक झूठ सच बन सकता है तो क्या हजार-लाख बार दोहराने से सच सच नहीं बनेगा ? आवृत्ति का भी अपना महत्त्व है। आज विज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि सूक्ष्म तथ्य को पकड़ने के लिए आवृत्ति पर ही ध्यान देना होता है। किस-किस फ्रीक्वेन्सी में क्या-क्या पकड़ा जा सकता है, वह जानता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन की जन्म-शताब्दी मनाई जाने वाली थी। लिंकन से मिलते-जुलते व्यक्ति को उसकी भूमिका निभाने के लिए चुना गया। उसने वर्ष भर यात्रा की। लिंकन का पार्ट अदा किया। वह संस्कार इतना सघन हो गया कि वह अपने आपको लिंकन समझने लगा। वर्ष पूरा हो गया, किन्तु उसका सपना नहीं टूटा। लोगों ने बहुत समझाया कि तुम लिंकन नहीं हो। लेकिन वह किसी तरह इसको स्वीकार करने के लिए राजी नहीं हुआ। कुछ लोगों ने कहा, जैसे लिंकन को गोली मारी वैसे ही इसको भी गोली मार दो। अन्ततोगत्वा एक मशीन का निर्माण किया गया, जो असल को प्रकट कर सके। वह मशीन पर खड़ा हुआ। उसने सोचा, सब कहते हैं--तू लिंकन नहीं है, कह दूं और उससे पीछा छुड़ा लूं। वह बोला--मैं लिंकन नहीं हूं, किन्तु मशीन ने बताया कि तू लिंकन है, वह फेल हो गई। भावना का इतना गहरा असर हुआ कि लिंकन न होते हुए भी लिंकनाभास अवचेतन में पैठ गया। इसलिए यह अपेक्षित है कि साधक भावना के साथ-साथ सचाई के दर्शन से पराङ्मुख न हो। वह ध्यान के साथ-साथ भावना का अनुशीलन करता रहे।

मंत्र-सिद्धि कैसे ?

समूचा आकाश ध्वनियों के प्रकंपनों से भरा पड़ा है। पर हमारा कान या अन्य यंत्र सभी ध्वनियों को नहीं पकड़ पाते। सभी अमुक-अमुक ध्वनि-प्रकंपनों को ही पकड़ पाते हैं। यह भी आवृत्ति के सिद्धांत पर ही फलित होता है। तरंग-दैर्ध्य और तरंगों की ह्रस्वता, लम्बी तरंगें और छोटी तरंगें,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बेवलेंग्थ को पकड़ना और आवृत्तियों को पकड़ना—ये दोनों तथ्य जब ज्ञात हो जाते हैं तब भावना का मूल्य अपने आप समझ में आ जाता है। हम भावना की कितनी आवृत्तियां करते हैं, किस तरंग की लम्बाई-चौड़ाई के साथ करते हैं, उतनी ही हमारे संस्कारों की धुलाई होती जाती है। मंत्र-विज्ञान का यही सिद्धांत है। यदि मंत्र का प्रयोग करने वाला यह नहीं जानता कि किस मंत्र का किस आवृत्ति में उच्चारण होना चाहिए, कितनी तरंग के साथ होना चाहिए, तो मंत्र बहुत इष्टकारक नहीं होता। वह लाभदायी नहीं होता। मन्त्र का देवता होता है। मंत्र का छंद होता है और मंत्र का विनियोजक होता है। उसके विनियोग में सारी बातें आती हैं। अनुभवी मंत्र साधक अपने शिष्य को बताता है—मंत्र का उच्चारण किस लय में करना चाहिए ? कितनी बार करना चाहिए ? कैसे करना चाहिए ? जब तक मन्त्र साधक उच्चारण के ह्रस्व-दीर्घ, प्लुत, उदात्त, त्वरित आदि भेद-प्रभेदों को पूर्णरूप से नहीं जान लेता तब तक मंत्र का जप इष्ट परिणामदायक नहीं बनता। साधक बिना इनका ज्ञान किए दस वर्ष भी मंत्र-जाप में लगा रहे, उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। मन्त्र-जाप से जो विद्युत्-ऊर्जा पैदा होनी चाहिए, वह नहीं होती और मंत्र सिद्ध भी नहीं होता।

भावना का प्रयोग इसी आधार पर किया जाता है कि बार-बार उस भावना की आवृत्तियां करें, तरंगें पैदा करें और ऐसा करते रहें। करते-करते एक बिन्दु ऐसा आता है जहां पहुंच कर पुराने संस्कार उखड़ जाते हैं और नए संस्कार जम जाते हैं। यह चमत्कार का भी मार्ग है और आत्मा के रूपान्तरण का भी मार्ग है।

भावना-प्रयोग का चमत्कार

मंत्र-प्रयोग को भावना का प्रयोग भी कहा जा सकता है। यह उससे भिन्न नहीं। यह सम्मोहन का प्रयोग तो है ही। जिस व्यक्ति ने अपनी प्राण-शक्ति को प्रखर किया है, वह यदि सामने वाले व्यक्ति को कुछ भी सुझाव देता है तो सामने वाले व्यक्ति की जागृत चेतना सो जाती है और तब वह प्रत्येक सुझाव को वैसे ही मानने लग जाता है। बड़ी विचित्र बात है। बड़ा चमत्कार है। सुझाव देने वाला व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति के हाथ में आम देकर कहता है तुम अंगारा खा रहे हो। न उसे आम के रस का स्वाद आएगा और न और कुछ। वह अंगारे का ही अनुभव करेगा। सम्मोहन का प्रयोग करने वाला कहेगा, अंगारे से तुम्हारा मुंह जल रहा है, फफोले उठ रहे हैं। सम्मोहित व्यक्ति का मुंह जलने लगेगा, फफोले उठ जाएंगे। जैसे जलने से फफोले उठते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, वैसे ही आम खाने से फफोले उठ जाएंगे। क्या यह कोई कम चमत्कार है। हिप्नोटिज्म का प्रयोग करने वाले इस प्रकार की अनेक आश्चर्यकारी बातें प्रस्तुत करते हैं।

रोग से जितने आदमी दुःखी नहीं होते, उतने आदमी दुःखी होते हैं रोग के मानसिक चिन्तन से। यह सूत्र स्वास्थ्य पर भी लागू होता है। दवाइयों से जितने आदमी स्वस्थ नहीं होते उतने स्वस्थ होते हैं स्वास्थ्य के चिंतन से।

एक बीमार डॉक्टर के पास आया। उसकी बीमारी भयंकर थी। डॉक्टर ने उसे इन्जेक्शन देकर कहा—यह इन्जेक्शन बहुत शक्ति देने वाला है। इससे तुम शीघ्र ही शक्ति प्राप्त कर लोगे। ऐसा इन्जेक्शन भाग्य से ही मिलता है। तुम भाग्यशाली हो।

इन्जेक्शन की प्रशंसा ने काम करना प्रारंभ कर दिया। बीमार स्वस्थ हो गया। बीमार के मित्र ने डॉक्टर से पूछा कि वह इन्जेक्शन क्या था जो इतनी शीघ्रता से असर कर गया ? डॉक्टर ने कहा—बीमार पर ज्यादा प्रभाव डालती है—भावना। मैंने केवल पानी का इन्जेक्शन दिया था। किन्तु बीमार के मन पर उस इन्जेक्शन ने इतना प्रभाव जमा डाला कि वह पानी का इन्जेक्शन भी उसके लिए संजीवनी बूटी बन गया।

डॉक्टर ने दूसरा परीक्षण और किया। एक रोगी को बहुत कीमती दवा देते हुए कहा—यह साधारण-सी दवा है, ले लो। जब इससे बढ़िया दवा आयेगी तब और दे दूंगा। रोगी दवा लेता गया, कोई असर नहीं हुआ। यह भी भावना का ही प्रतिफलन है।

कोरा राख से लाभ हो जाता है और हीरे की भस्म से भी कोई लाभ नहीं होता।

एक वैद्य ने जुकाम के लिए दवाई दी। रोगी ने पूछा—क्या नाम है औषधि का ? वैद्य ने कहा—यह है महाप्रतापलंकेश्वरी रस। नाम सुनते ही रोगी ने सोचा—कितनी मूल्यवान् होगी यह औषधि ? इतना बड़ा और अच्छा नाम है तो गुण भी ऐसे ही होंगे। 'रस' भी है, 'प्रताप' भी है और 'लंकेश्वरी' भी है। तीनों एक साथ हैं। औषधि का सेवन किया। रोगी स्वस्थ हो गया। मैंने पूछा—वैद्यजी ! इतना बिगड़ा हुआ जुकाम था वह आपकी इस औषधि से ठीक हो गया। आखिर औषधि क्या है ? 'रस' है तो पारद इसमें अवश्य ही होगा तथा 'प्रताप' और 'लंकेश्वरी' है तो कोई तेज धातु का योग होना चाहिए।

वैद्य ने मुस्कराते हुए कहा—मुनिजी ! औषधि का फार्मूला मैं बताना नहीं चाहता, पर आपको देता हूं। उसमें दो चीजें हैं—राख और काली-मिर्च। राख लकड़ी की नहीं, अरण्य के उपलों की। बस, यही इस औषधि का फार्मूला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फ्रांस की एक घटना है। एक अमेरिकी युवक वहां आया। एक परिवार के साथ ठहरा। परिवार के साथ उसका गाढ़ सम्पर्क हो गया। उस परिवार में एक वयस्क कन्या थी। युवक का उसके साथ सम्पर्क बढ़ा। दोनों प्रेमसूत्र में बंध गए। अब विवाह का प्रश्न सामने आया। युवक ने कहा—'अभी मैं विवाह नहीं कर सकता। जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा न हो जाऊं तब तक यह भार मैं वहन नहीं कर सकता। मैं आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होकर ही विवाह करूंगा, पहले नहीं।' लड़की ने स्वीकार कर लिया। युवक अमेरिका चला गया। लड़की फ्रांस में ही रही। लड़की के मन में एक विचार आया—पांच-सात वर्ष बाद जब वह युवक मेरे साथ शादी करने आयेगा, तब यह न हो जाए कि मेरा रूप-रंग फीका पड़ जाए, मेरे यौवन का उभार शिथिल हो जाए। उसने प्रतिदिन भावना प्रारम्भ की। वह एक कांच के सामने खड़ी हो जाती और यह भावना करती—'आज जैसी हूं, वैसी ही रहूं।' इस भावना में तन्मय, एकाग्र हो जाती। पन्द्रह वर्ष बीत गए। युवक अपने पैरों पर खड़ा हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी। वह आत्म-निर्भर हो गया। युवती की स्मृति उसे पल-पल रहती थी। वह फ्रांस आया। उसके मन में अनेक विकल्प उठ रहे थे। उसने सोचा—लड़की की स्थिति क्या हुई होगी? वह कैसी होगी ? क्या होगा उसका रूप-रंग ? वह लड़की से मिला। उसने पाया कि लड़की के शरीर का लावण्य, उसकी सुन्दरता और कमनीयता वैसी ही है जैसी पन्द्रह वर्ष पहले थी। रत्ती भर भी अन्तर नहीं था। वह विवाह सूत्र में बंध गया। दोनों प्रसन्न हुए। यह भावना का चमत्कार था।

यह भावना-योग है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने आपको भावित करता है, वह उसी रूप में बदल जाता है। न जाने दुनिया में कितने प्रयोग ऐसे होते हैं जो भावना के होते हैं। जैन परम्परा में भावना का विशेष महत्त्व है। इसे आध्यात्मिक मूल्य दें या न दें, किंतु यह तथ्य स्पष्ट है कि भावना के आधार पर व्यक्ति बनता-बिगड़ता है।

जापान में ध्यान सम्प्रदाय (झेन) के साधक भावना के अनेक प्रयोग करते हैं। वे अखाड़े में उतर जाते हैं और भयंकर खूंखार बैल के साथ लड़ते हैं। वे निहत्थे उतरते हैं अखाड़े में। उनके पास कुछ भी नहीं होता। लाठी भी नहीं होती। बैल दौड़ता हुआ सामने आता है। उसे लाल झंडियां दिखाई जाती हैं। लाल कपड़ा देखते ही बैल भड़क उठता है। वह पूरे वेग से व्यक्ति की ओर झपटता है। वह भयंकर रूप से आक्रमण करता है। एकदम पतला-दुबला साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना और संकल्प के सहारे उस बैल को परास्त कर भूमि पर पटक देता है। उसकी भावना होती है--'मैं बैल के साथ लड़ूंगा। मैं बैल को अवश्य परास्त करूंगा।' इस भावना के सहारे वह इतनी शक्ति अर्जित कर लेता है कि वह भयंकर और आक्रामक बैल को शांत कर देता है, मानो कि वह बकरी हो गया है। यह प्रयोग आज भी हो रहा है, अतीत में भी होता था, ऐसी बात नहीं है। आज भी कुछ व्यक्ति इसका प्रयोग करते हैं।

एक मठ था। वहां अनेक छोटे-बड़े साधक साधना का अभ्यास करते थे। वहां एक दंगल (कुश्ती) का आयोजन रखा। दो पहलवान आमंत्रित किये गए। एक तगड़ा और बलिष्ठ था। दूसरा पतला और कम शक्तिशाली था। दंगल प्रारंभ हुआ। बलिष्ठ पहलवान ने पतले-दुबले पहलवान को चित्त कर दिया। साधकों के मन में एक विकल्प उठा। उन्होंने पतले पहलवान को सहयोग देना चाहा। कुछेक साधक आंख मूंदकर इस भावना में तन्मय हो गए कि इसकी विजय होनी ही चाहिए। यह पतला पहलवान जीतना ही चाहिए। कुछ समय बीता। सबके देखते-देखते दुबले-पतले पहलवान ने उस तगड़े पहलवान को पछाड़ दिया। वह उसकी छाती पर जा बैठा।

भावना दूसरों तक पहुंचाई जा सकती है। दूसरों पर भी उसका प्रभाव डाला जा सकता है। दूसरों की कठिनाइयों को शांत करना, रोग मिटाना, दूसरों का हृदय-परिवर्तन करना, दूसरों के विचारों को बदलना--ये सारे भावना के ही प्रयोग हैं। भावना के द्वारा ये किये जा सकते हैं। भावना के माध्यम से स्वयं को बदला जा सकता है, दूसरों को बदला जा सकता है, आस-पास के व्यक्ति को बदला जा सकता है, वातावरण को बदला जा सकता है। एक व्यक्ति का शरीर दुर्बल है, शरीर को स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। एक का मस्तिष्क दुर्बल है, उसे स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। एक व्यक्ति की आंखें कमजोर हैं, हृदय दुर्बल है, भावना अपवित्र है--इन सबको स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। अनगिनत भावनाएं की जा सकती हैं। अनगिनत संकल्प किए जा सकते हैं। आज के चिकित्सक, विशेषकर जर्मनी के चिकित्सक, रोगी को दवा की अपेक्षा 'ऑटो-सजेशन' के द्वारा रोग-मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं--जंगल में चले जाओ। वहां किसी वृक्ष के नीचे बैठकर समाधिस्थ हो जाओ और अपने आपको यह सुझाव दो कि 'मैं स्वस्थ हूं', 'मैं स्वस्थ हो रहा हूं।' उसका मानना है कि इस पद्धति से व्यक्ति रोग-मुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम साधना की दृष्टि से विचार करें। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसे सबसे पहले ज्ञान-भावना से अपने आपको भावित करना होगा। भावना का अर्थ विचारों की आवृत्ति नहीं है। भावना का अर्थ है—विचारों की स्थापना, विचारों का दृढ़ीकरण। एक ही बात को बार-बार दोहराते रहें, वह भावना बन जाएगी, उससे भावित हो जाएंगे। एक आदमी दिन में दस-पन्द्रह बार दरवाजा खोलता है, बन्द करता है। वह उस क्रिया से भावित होता है, प्रभावित होता जाता है। जैसे ही वह घर में प्रवेश करता है, काम हो या न हो, उसका ध्यान उसी क्रिया की ओर जाता है। वह दरवाजा खोले या न खोले, किन्तु उसकी स्मृति उसी क्रिया में संलग्न हो जाती है। क्योंकि वह उससे भावित हो गया। व्यक्ति दोनों से प्रभावित होता है—विचार से भी प्रभावित होता है और कार्य से भी प्रभावित होता है। विचार और कार्य को दोहराना भावना का मूल है।

प्रश्न है कि भावना के द्वारा हम अपने-आपको कैसे बदल सकते हैं ? प्रक्रिया इस प्रकार है—सबसे पहले आप अपने ध्येय का चुनाव करें। यह निर्णय करें कि मुझे यह बनना है, यह करना है। मुझे कवि बनना है, दार्शनिक बनना है, लेखक बनना है, साहित्यकार बनना है—कुछ भी बनना है। जो बनना है, वह ध्येय हो गया। जो ध्येय बना है उसकी क्रियान्विति के लिए भावना का अभ्यास करें। अभ्यास कब और कैसे करें—यह प्रश्न होता है। एकान्त में चले जाएं। शरीर को शिथिल कर बैठ जाएं। मन भी शिथिल हो, तनाव न हो, आकुल-व्याकुल न हो। यह प्रारम्भिक स्थिति है। यह आवश्यक है। जो ध्येय हमने चुना है, वह स्थूल मन से हटकर अवचेतन मन में नहीं पहुंचेगा तब तक 'होने की' भावना सफल नहीं होगी। हम कह सकते हैं—'हमने ऐसी भावनाएं कीं, भावनाओं का अभ्यास किया, पर हम सफल नहीं हुए।' कहीं समझने की भूल हो रही है। भावना का तात्पर्य है—चेतन मन को भुला देना और अवचेतन मन को जागृत कर देना। चेतन मन के विकल्प को अवचेतन मन की धरोहर बना देना, अवचेतन मन में उसे स्थापित कर देना, यह है भावना। जब तक अपनी बात अवचेतन मन तक नहीं पहुंचेगी, हजार बार, दस हजार बार प्रयत्न करें, शब्द दोहराते जाएं, सफलता नहीं मिलेगी। सफल होने के लिए शरीर का विसर्जन करना होगा, शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना होगा। चेतन मन को भी शांत करना होगा। उसके बाद अपने ध्येय को दोहराते रहें, पहले मध्यम आवाज में, फिर तेज आवाज में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह क्रम दस मिनट तक चलता रहे। इससे कम समय में सफलता असम्भव है। प्रतिदिन इस क्रम से दोहराते रहें। यह ध्यान में रखें कि क्रम कहीं टूटे नहीं। अपने ध्येय के अनुसार ही आचरण करें। निश्चित ही हम लक्ष्य तक पहुंच जाएंगे। काल की अवधि में कुछ अन्तर हो सकता है, पर सफलता निश्चित है। कोई भी आदमी भावना के बिना सच्चा धार्मिक नहीं बन सकता और ध्यान की उच्च स्थिति में भी नहीं जा सकता। शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा सभी प्रकार के विकास के लिए भावना का सर्वोपरि महत्त्व है।

भावना का वैज्ञानिक स्वरूप

भावना का अभ्यास बहुत सूक्ष्म बात है। जब तक भावना का अभ्यास नहीं होगा, जब तक मन परम से भावित नहीं होगा, तब तक शक्तियों का विकास नहीं होगा। भाविअप्पा—भावितात्मा शब्द जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसके पीछे रहस्यमयी भावना छिपी हुई है। जो भावितात्मा होता है वह अपनी भावना के अनुसार काम करने में सक्षम होता है। भावना का अर्थ केवल कुछ सोच लेना मात्र नहीं है। उसका अर्थ है—हमारे ज्ञान-तन्तुओं को तथा कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावना को अंकित कर देना।

हमारे शरीर में अरबों-खरबों न्यूरॉन्स हैं, जीव-कोशिकाएं हैं। ये न्यूरॉन हमारी अनेक प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। ये नियामक हैं। जो संकल्प न्यूरॉन तक पहुंच जाता है वह सफल हो जाता है। न्यूरॉन बड़े-बड़े काम संपादित करते हैं। इनकी कार्य प्रणाली को समझना बहुत ही कठिन है। अरबों-खरबों की संख्या में ये ज्ञान-तन्तु हमारे मस्तिष्क में बिखरे पड़े हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण में बहुत बड़ा उपयोग है।

प्राकृतिक चिकित्सा वाले कहते हैं कि कोष्ठबद्धता हो तो पहले स्थिर बैठकर ध्यानस्थ हो जाओं और ज्ञान-तन्तुओं को सूचना दो कि शौच साफ हो रहा है, पेट साफ हो रहा है। ज्ञान-तन्तु वैसा ही आचरण करने लग जाएंगे। मानसिक विकास के क्षेत्र में स्वतःसूचना या सूचनाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इसकी पृष्ठभूमि में ज्ञान-तन्तुओं का ही चमत्कार है। इन ज्ञान-तन्तुओं में विचित्र क्षमताएं हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लग जाते हैं। जब सूचनाओं के आधार पर ज्ञान-तन्तु काम करने में तत्पर रहते हैं तब हम उनसे लाभ क्यों नहीं उठाएं ? अपने-आप सूचना दें। पुराने को बदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए सूचनाएं दें। उन तन्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित करें। जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारम्भ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है। इसे हम समझें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्य भावना

यह शरीर अनित्य है। यह यौवन अनित्य है। शरीर की सुन्दरता का अभिमान हो सकता है। यौवन का अभिमान हो सकता है। यह परिवार का संयोग अनित्य है। अपने परिवार का अभिमान हो सकता है। यह वैभव, यह सम्पदा अनित्य है। सम्पदा का अहंकार हो सकता है। इष्ट का संयोग भी अनित्य है। ये सब अनित्य हैं। और क्या ? जीवन भी अनित्य है। जब अनित्यता का यह अनुचिंतन सामने रहता है, बार-बार चेतना में उभरता है तब अहंकार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को अनित्यता का अनुभव नहीं होता, उसमें क्रोध आने का बहुत अवकाश रहता है। जिसकी चेतना में यह बात जम गई कि संयोग अनित्य है, पदार्थ नश्वर है, तब पदार्थ के चले जाने पर भी वह दुःखी नहीं होगा।

हमारे व्यावहारिक जीवन में भी अनित्य अनुप्रेक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। जिस व्यक्ति के चित्त में यह संस्कार पुष्ट बन जाता है कि सब पदार्थ अनित्य हैं, फिर उस व्यक्ति के मन में विवाद बढ़ने वाली बातें समाप्त हो जाती हैं। वह घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। ध्यान करने वाले में और ध्यान नहीं करने वाले में यही अन्तर है। ध्यान करने वाला व्यक्ति घटना को जानता है, भोगता नहीं। ध्यान नहीं करने वाला व्यक्ति घटना को जानता नहीं, भोगता है। घटना को जानने वाला व्यवहार को अमृतमय बना देता है, मधुर बना देता है। घटना को भोगने वाला स्वयं दुःख पाता है और सारे वातावरण में दुःख के परमाणुओं को बिखेर देता है, सारा वातावरण दुःखपूर्ण बन जाता है। तब दुःख उसी तक सीमित नहीं रहता, विस्तृत हो जाता है।

शरीर के यथाभूत स्वभाव और उसकी क्रियाओं का निरीक्षण करने वाला उसके भीतर होने वाले विभिन्न स्रावों को देखने लग जाता है।

शरीर-दर्शन के अभ्यास से शरीर में घटित होने वाली अवस्थाएं स्पष्ट होने लग जाती हैं। भगवान महावीर ने कहा—'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं।' शरीर की अनित्यता के अनुचिंतन से शरीर के प्रति होने वाली गहन आसक्ति से मुक्ति पायी जा सकती है। शरीर की आसक्ति ही सब आसक्तियों का मूल है। उसके टूट जाने पर अन्य पदार्थों में होनी वाली आसक्तियां अपने आप टूटने लग जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे-जैसे 'इमं सरीरं अणिच्चं' की शक्ति और भावना शक्तिशाली होती जाएगी और इनकी तरंगें प्रबल होंगी तो पूर्वगत संस्कार की तरंगों को समाप्त कर देंगी, विनष्ट कर देंगी। यदि यह बात हमारी समझ में आ जाये तो फिर कोई कारण नहीं है कि 'इमं सरीरं अणिच्चं' दोहराते-दोहराते हम ऊब जाएं, या निराश हो जाएं। हम बोलकर प्रकम्पन पैदा करते हैं। परन्तु ये प्रकम्पन इतने कारगर नहीं होते। जब भावना के प्रकम्पन उसके साथ जुड़ते हैं तो वे अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। वे शक्तिशाली प्रकम्पन पहले के प्रकम्पनों को नष्ट कर देते हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा : एक वैज्ञानिक प्रक्रिया

जो कुछ भी दृश्य है, वह शाश्वत नहीं है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। बुद्ध ने कहा—सब क्षणिक हैं। एक समय से अधिक कोई नहीं ठहरता। साधक की दृष्टि अगर खुल जाये तो उसे सत्य का दर्शन संसार का प्रत्येक पदार्थ दे सकता है, वही उसका गुरु हो सकता है। एक शिष्य वर्षों तक आचार्य के पास रहा, परन्तु उसकी दृष्टि खुली नहीं। शिष्य हताश हो गया। गुरु ने कहा—'अब तू यहां से जा, यहां नहीं सीख सकेगा।' वह आश्रम से चला आया। एक पीपल के वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। एक पत्ता टूट कर नीचे गिरा और दृष्टि मिल गई। गुरु के पास आया और बोला—घटना घट गयी। गुरु ने पूछा—कैसे ? वृक्ष के नीचे बैठा था। पत्ता गिरा और अचानक मुझे स्मरण हो आया कि मुझे भी गिरना है, मरना है। गुरु ने कहा—'बस उसे ही नमस्कार करना था, पत्ता तेरा गुरु है।'

भरत चक्रवर्ती अपने कांच-महल में सिंहासन पर स्थित शरीर का अवलोकन कर रहे थे। अचानक उन्हें शरीर परिवर्तन का बोध हुआ। यह वही शरीर है जो बचपन में था और अब जवानी में है पर कितना बदल गया। सब कुछ परिवर्तन हो रहा है, किन्तु परिवर्तन के पीछे जो एक अपरिवर्तनीय सत्ता है, वह जैसे पहले थी अब भी वैसी ही है और आगे भी वैसी ही रहेगी। दृष्टि उपलब्ध हो गई। एक के अनित्य का दर्शन सबकी अनित्यता का दर्शन है। जैसे यह शरीर बदल रहा है वैसे ही पुद्गलों का परिवर्तन चल रहा है। वे इस चिंतन की गहराई में डूबे और संबोधि—केवलज्ञान को उपलब्ध हो गए।

कारलाइल के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। वह अस्सी वर्ष की अवस्था पार कर चुका था। अनेक बार बाथरूम में गया था। किन्तु जो घटना उस दिन घटी, वह कभी नहीं घटी। स्नान के बाद शरीर को पौंछते-पौंछते देखता है, यह शरीर कितना बदल गया। जीर्ण हो गया। किन्तु भीतर जो जानने

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

और देखने वाला है वह जीर्ण नहीं हुआ, वह वैसा ही है। परिवर्तनीय के साथ अपरिवर्तनीय की झांकी मिल गई।

वैज्ञानिक कहते हैं सात साल में पूरा शरीर बदल जाता है। सत्तर वर्ष की अवस्था में दस बार सब कुछ नया उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इस परिवर्तन की ओर दृष्टि बहुत कम जाती है। साधक के पास सबसे निकट शरीर है और भी जड़ चेतन जगत् जो निकट है वह उसे एक विशिष्ट दृष्टि से देखे और अनुभव करे कि यह जगत् उसके लिए एक बड़ी प्रशिक्षणशाला है जो निरन्तर प्रशिक्षण दे रही है। अनित्य भावना में क्षण-क्षण बदलते हुए इस जगत् का और स्वयं के निकट जो है उसका दर्शन करे, अनुभव करे और उसके अन्तःस्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाये।

विसंबंध की चेतना

संसार में कोई संबंध शाश्वत नहीं है। जितने संयोग हैं वे सारे वियोग वाले हैं—'संयोगाः विप्रयोगान्ताः'। अगर इस सचाई तक पहुंच जाते हैं, तो अशाश्वत को शाश्वत मानने की भ्रांति खण्डित हो जाती है और पदार्थ के वियोग से होने वाले सारे असंतोष समाप्त हो जाते हैं। उससे नई आदत और नए संस्कार का निर्माण होता है। जैसे पदार्थ के संबन्ध से एक आसक्ति का संस्कार बनता है। वह संस्कार पदार्थ के चले जाने पर दुःख देता है वैसे ही पदार्थ के विसंबंध का संस्कार अनुप्रेक्षा के द्वारा निर्मित हो जाए, तो आदमी कभी संतप्त नहीं होगा। वियोग पहला छोर है, संयोग दूसरा छोर है। ये दोनों सचाइयां एक साथ प्रतीत होने लग जाएं। सम्बन्ध की भांति विसम्बन्ध की आदत भी निर्मित हो जाए तो आदमी पदार्थ के जगत् में घटित होने वाली यथार्थ की समस्याओं का यथार्थ की भूमिका पर खड़े होकर सामना कर सकता है।

मन पर मैल तब जमता है जब हम अनित्य को नित्य मानकर चलते हैं। संयोग को शाश्वत और विजातीय को सजातीय मानकर चलते हैं। हम इस बात को सिद्धांत से और व्यवहार से भी जानते हैं कि पदार्थ अनित्य है, संयोग अनित्य है। जो पदार्थ प्राप्त है वह अवश्य नष्ट होगा। जो संयोग मिला है, उसका निश्चित ही वियोग होगा। पदार्थ अनित्य है, पदार्थ का संयोग अनित्य है और पदार्थ विजातीय है। चेतना का गुण-धर्म पदार्थ से भिन्न है। हम इन सब तत्त्वों को जानते हैं, किन्तु पदार्थ को नित्य मानकर व्यवहार करते हैं, पदार्थ के संयोग को शाश्वत मानकर चलते हैं और पदार्थ को सजातीय मानते हैं, अपना मानते हैं। हम इसे जानते नहीं, केवल मानते हैं। जानने और मानने में बहुत बड़ा अन्तर है। जिस दिन हम मानने की अवस्था को पार कर जानने की स्थिति में पहुंच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायेंगे तब हमारे लिए पदार्थ पदार्थ मात्र होगा और चेतन चेतन होगा। पदार्थ का उपयोग हो सकता है, पदार्थ का संयोग हो सकता है, किन्तु पदार्थ शाश्वत नहीं हो सकता। अशाश्वत को शाश्वत मानने का आरोप, विजातीय को सजातीय मानने का आरोप, केवल मानने के कारण ही होता है। यदि जान लिया जाता है तो सारे आरोप नष्ट हो जाते हैं। जब तक मन पर मोह या मूर्च्छा का मैल जमा रहता है, तब तक व्यक्ति सब कुछ मानता चला जाता है, जानता कुछ भी नहीं है। पदार्थ के मूल स्वरूप को जाने बिना उसे जाना नहीं जा सकता।

मनुष्य नाम और रूप के चक्कर में पड़कर सब कुछ मानता चला जा रहा है और यह झूठा दंभ भरता है कि वह सब कुछ जानता है। हम व्यक्तियों को नाम से जानते हैं। हमने नाम का एक चौखट बना रखा है। उस चौखटे में जो आकृति आती है उसे हम अमुक नाम से जान लेते हैं। नाम और आकृति को हटा दें, फिर हम कुछ नहीं जान पाते। हमारा भ्रम मान्यता के आधार पर पल रहा है। गहराई में हम उतरकर देखें। सारा संसार मानने की कारा में बन्दी है। जानने की बात उससे बहुत दूर है।

अनुप्रेक्षा के माध्यम से भ्रान्तियों और विपर्ययों को तोड़ा जा सकता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा मन पर जमे मैल को काटा जा सकता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा मानने की भूमिका से उठकर जानने की भूमिका तक पहुंचा जा सकता है।

दृष्टिकोण का परिवर्तन

शरीर अनित्य है, इस सचाई में भी आनन्द का अनुभव होता है। शरीर चयापचयधर्मा है, कभी इसका चय होता है और कभी अपचय होता है। कभी यह पुष्ट होता है और कभी यह क्षीण होता है। शरीर क्षीण होता है, इसमें भी सचाई का बोध होता है। यह शरीर विपरिणामधर्मा है, विविध परिवर्तनों में से गुजरता है। कभी इस पर सर्दी का प्रभाव होता है, कभी गर्मी का तो कभी आंधी-तूफान का। कभी यह बीमारी की यातना झेलता है, तो कभी परिस्थितियों से पीड़ित होता है। कभी कुछ, कभी कुछ घटित होता है। अनेक-अनेक परिवर्तनों में से यह गुजरता है। बीमारी हमें प्रिय नहीं होती, किन्तु बीमारी की सचाई का अनुभव करना हमें सचमुच प्रिय होगा। बीमारी—यह सचाई हमें सचमुच सत्य की ओर ले जाती है, यथार्थ की ओर ले जाती है।

यह शरीर है। इसमें मृत्यु घटित होती है, इसमें बुढ़ापा आता है, आदमी मर जाता है। मृत्यु का अनुभव करना भी बहुत बड़ा आनन्द है। इस अनित्य अनुप्रेक्षा के द्वारा हम जीते जी मरना सीख लेते हैं। और जो आदमी मरना सीख लेता है, वह सारी कठिनाइयों का पार पा जाता है। दुनिया में सबसे बड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय है मौत का। शासन-तंत्र ने दण्डशक्ति का विकास किया है। विविध प्रकार के दण्ड उपयोग में लाये जाते हैं--बांधना, जेल में डाल देना, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डालना, मारना, पीटना। उसके बाद भी अन्तिम दण्ड है--फांसी की सजा, मौत की सजा।

जो आदमी जीते जी मरना सीख लेता है, मृत्यु का साक्षात्कार कर लेता है, मृत्यु का अनुभव कर लेता है, अपने शरीर को शिथिल बनाकर सारे अवयवों को मृतवत् करना सीख जाता है, सचमुच वह आदमी सारी समस्याओं का, सभी प्रकार के भयों का और सारी कठिनाइयों का पार पा लेता है।

हम अनित्य की अनुप्रेक्षा करते हैं। उस अनुप्रेक्षा में से ही सचाइयों को देखते हैं, आनन्द को निकालते हैं और अपने भीतर की गहराइयों में जाने का प्रयत्न करते हैं, उसकी साधना करते हैं। यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। अन्यथा यदि किसी को कहा जाए कि तुम मृत्यु का अनुभव करो तो वह सोचेगा कि कैसी मूर्खता की बात कर रहा है ? जीने की बात करे तो वह अच्छी भी लग सकती है, किन्तु यह तो मौत की बात कर रहा है। बुरी बात है। जीने की बात अच्छी लगती है। मौत की बात बुरी लगती है। लोग इसे अपशकुन मान लेते हैं, बुरा मान लेते हैं। किन्तु साधक ऐसा नहीं मान सकते। वे मौत की बात को अच्छा मानते हैं। इसीलिए इसे अपने अभ्यास का अंग बनाकर साधना चलाते हैं। अनित्य अनुप्रेक्षा से यह दृष्टि का परिवर्तन घटित होता है

श्रुतज्ञान का प्रयोग--अनित्य अनुप्रेक्षा

शरीर में कंपन हो रहे हैं। वे निरन्तर होते हैं, यह जानना प्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में यह जानना होता है कि वे कंपन अनित्य हैं। कंपन स्थायी नहीं होते। कंपन अनित्य होता है। शरीर में होने वाले सारे कम्पन अनित्य हैं। शरीर में बीमारी हुई, वह भी अनित्य है। इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करते-करते उस बिन्दु पर पहुंच जाते हैं, जहां जाने पर मूर्च्छा का चक्र टूट जाता है।

भगवान् महावीर ने दीक्षा लेने से पूर्व छह महीनों तक अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। सामान्यतः यही सोचा जाता है कि भगवान् तो भगवान् के रूप में ही जन्मे थे। कोई भी आदमी भगवान् बनकर नहीं जन्मता। आदमी आदमी के ढंग से ही जन्मता है, आदमी के ढंग से ही आगे बढ़ता है। महावीर ने अभ्यास किया, प्रयोग किये और चलते-चलते भगवान् बन गये। महावीर भगवान् बनने की योग्यता लेकर जन्मे, पर जन्मते ही भगवान् नहीं बने थे। इसीलिए माना जाता है कि प्रत्येक तीर्थंकर जन्म के समय द्रव्य-तीर्थंकर होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और फिर साधना से ज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर बनता है। जब केवल ज्ञान के द्वारा सचाई को प्रकट करते हैं, तभी वे भाव-तीर्थंकर होते हैं। महावीर भी भगवान् के रूप में नहीं जन्मे थे। वे आदमी की तरह ही जन्मे थे, किन्तु चेतना को विकसित कर भगवान् बन गए। हर आदमी भगवान् बन सकता है। भगवान्, भगवान् बना रहे और भक्त, भक्त बना रहे, यह बात चिंतन में नहीं बैठती और उचित भी नहीं लगती। राजा, राजा बना रहे और रंक, रंक बना रहे यह चिंतन आज के युग को मान्य नहीं है। आज तो यह चिंतन मान्य है कि समानता के आधार पर सबको विकास का अवसर मिलना चाहिए। भगवान् महावीर ने इसी भावना से कहा—प्रत्येक आदमी भगवान् बन सकता है।

अनित्य अनुप्रेक्षा एक प्रयोग है श्रुतज्ञान का, आत्मज्ञान का। जब श्रुतज्ञान की लगाम हाथ में होती है तो फिर मन का घोड़ा हमें कोई दुःख नहीं दे सकता। श्रुतज्ञान के द्वारा हमें मन को एकाग्र बनाना है, मन को वश में करना है। इसका अर्थ यह है कि हम मन के दास न बनें, किन्तु मन को अपना दास बनाएं। हम मन के आज्ञाकारी सेवक न बनें, किन्तु मन को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाएं। जो मन में आया, वह करने वाला मन का दास होता है। समझदार आदमी वह होता है, जो मन में आया, उस पर चिंतन किया कि यह करना चाहिए या नहीं, पूरे चिंतन के बाद जब यह निर्णय हो जाए कि वैसा करना उचित है तो मन की बात भी मानी जा सकती है। इसका अर्थ होगा कि हमारे हाथ में घोड़े की लगाम है और हम उसे चला रहे हैं। हमारे से अलग घोड़ा नहीं चल रहा है। जब लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी व्यामोह में फंस जाता है।

जब श्रुत की लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी आंखों वाला होते हुए भी अन्धा बन जाता है। मन की स्थिति विचित्र बन जाती है। उसकी भूमिका भी भिन्न हो जाती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस मन के घोड़े को ठीक रास्ते पर चलाने के लिए हमारे हाथ में मजबूत लगाम हो। यह लगाम है अनुप्रेक्षा, श्रुतज्ञान, आत्मचिन्तन, आत्मबोध की। अपने विषय में जानना, अपने विषय में सोचना, अपने बारे में चिन्तन करना और गहराई में उतरकर अपने आपका अनुभव करना—यह है अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा का योग होता है तो मन का घोड़ा सदा राजमार्ग पर चलने लग जाता है और फिर यह प्रश्न नहीं रहता कि मन चंचल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशरण भावना

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओं के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दुःख, अशान्ति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह उस संघर्ष में विजयी होने के लिए दूसरों का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन में त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है। वस्तुतः त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ में ही निहित है, अन्यत्र नहीं। इस अन्तिम सचाई के आधार पर स्वयं में स्वयं का त्राण खोजना और दूसरों के त्राणदान में ऐकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्त्तव्य प्रबल हो उठता है और दूसरों के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नहीं होता।

जो अपने अस्तित्व को नहीं जानता, वह कहीं भी सुरक्षित नहीं हो सकता। धन, पदार्थ और परिवार—ये सब अस्तित्व से भिन्न हैं। जो भिन्न है, वह कभी भी त्राण नहीं दे सकता।

भगवान महावीर ने कहा—अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है। अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व में है। स्वयं की शरण में आना ही अशरण अनुप्रेक्षा का मूल मर्म है।

ध्यान साधक बहुत जागरूक रहता है। वह भ्रांतियों को तोड़ता रहता है। यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है कि आदमी हर एक को शरण मान लेता है। व्यवहार में ऐसा मानना पड़ता है, पर यह अन्तिम सचाई नहीं है। हर एक चीज त्राण नहीं होती। हमारा यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए कि हम व्यवहार को अन्तिम सचाई न मानें। व्यवहार व्यवहार होता है और यथार्थ यथार्थ होता है। व्यवहार की सचाई है—जब तक स्वार्थ जुड़ा रहता है तब तक एक-दूसरे के लिए त्राण या शरण बने रहते हैं। जहां स्वार्थ को धक्का लगा कि त्राण समाप्त हो जाता है, शरण समाप्त हो जाती है। वह पश्चात्ताप करता है—अरे! मैंने इसके पालन-पोषण के लिए कितना किया, आज यह मेरे साथ ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार कर रहा है ? उस व्यवहार के कारण कोई दुःखी नहीं होता, दुःखी होता है नियम की विस्मृति के कारण। व्यक्ति जब व्यवहार को, पदार्थ को और व्यक्ति को अन्तिम सत्य मान लेता है, त्राण मान लेता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है। यह है अशरण अनुप्रेक्षा—व्यवहार में अनेक पदार्थों को त्राण मानते चलें, किन्तु सचाई को न भूलें कि वास्तविक या अन्तिम त्राण अपना ज्ञान, अपना दर्शन, अपना आचरण तथा अपना व्यवहार होता है।

अशरण : एक सचाई

यह भावना हमारे उन संस्कारों पर प्रहार करती है जो बाहर का सहारा ताकते हैं। यदि मनुष्य की समझ में यह तथ्य आ जाए कि अंततः मेरा शरण कोई नहीं है, तब सहज की बाह्य वस्तु-जगत् की पकड़ ढीली हो जाती है। आदमी धन, परिवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान आदि सबको पकड़ता है। वह समझता है कि अन्त में कोई न कोई मुझे अवलम्बन देगा। यह भ्रम ही संग्रह का हेतु बनता है। धर्म कहता है—'कोई त्राण नहीं है।' बाल्मीकि ने जब इस सत्य को जाना तब वह एक क्षण में उससे मुक्त हो गया। अनाथी मुनि ने जब देखा—कोई मुझे रोग से मुक्त नहीं कर पा रहा है। सब असफल हो गए। तब दृष्टि भीतर की तरफ मुड़ी और देखा—जो है, रोग उससे दूर है, मृत्यु उससे दूर है, सब कुछ उससे दूर है तो क्यों नहीं उसे ही अपना शरण बनाऊं। वह उसकी खोज में चला गया। सम्राट् श्रेणिक ने कहा—'मैं तुम्हारा मालिक बनूंगा।' अनाथी मुनि ने कहा—'तुम मेरे मालिक क्या बनोगे? पहले अपने खुद के मालिक बनो। अभी जिनके मालिक हो उनके गुलाम भी हो। मैंने मालिक खोजा है, वह अपने भीतर है। जिस दिन तुम भी खोज लोगे, यह मालकियत टूट जाएगी और एक नई मालकियत का जन्म होगा।'

डेनमार्क के एक विचारक ने लिखा है—'असली चिन्ता तो तब पकड़ती है जब तुम्हें लगता है कि पैर के नीचे से जमीन खिसक गई। यही एक ऐसा क्षण है जो भविष्य का फैसला करता है। किन्तु यदि इसके पूर्व में सचाई का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया हुआ हो तो प्रायः व्यक्ति भविष्य को अन्धकार-पूर्ण बना लेते हैं। वे मरते क्षण में शरीर को छोड़ रहे हैं किन्तु वासना अपने ही लोगों और वस्तुओं के आस-पास चील की तरह मंडराती रह जाती है और प्राणी मर कर पुनः उसके ही इर्द-गिर्द पैदा हो जाता है। महावीर, बुद्ध आदि ने कहा है—'अपनी ही शरण में जाओ।' **धम्मं सरणं पवज्जामि**—स्वभाव की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण खोजो। साधक बाहर से अत्राण को देखे और भीतर जो है, उसे देखे। वह सदा है, उसी को पकड़ने से त्राण पाया जा सकता है। उसकी स्मृति एक क्षण भी विस्मृत न हो। यह सुरति–स्मृति योग है। गुरु नानक ने कहा है, जो उसे नहीं भूलता, वही वस्तुतः महान् है। वही सच्ची सम्पत्ति है जो हमारे साथ जा सकती है।

स्वस्थ समाज की संरचना

महावीर ने अशरण का सूत्र दिया। उन्होंने किसी को शरण नहीं बतलाया। उन्होंने कहा–'असरणं सरणं मन्नमाणे बाले लुप्पई'–अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। शरण कोई है ही नहीं। दूसरा है, वह शरण कैसे होगा ? आत्मा का शुद्ध स्वरूप है–अर्हत्। आत्मा का सिद्ध स्वरूप है–सिद्ध। आत्मा का साधक रूप है–साधु। आत्मा का चैतन्यमय रूप है–धर्म। कोई दूसरा शरण नहीं है, अपनी आत्मा ही शरण है। 'नाणं सरणं मे, दसणं सरणं मे, चरित्तं सरणं मे' ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र (वीतरागता) की त्रिपुटी है–अर्हत्।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी है–सिद्ध
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी की साधना है–साधु।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी का आचरण है–धर्म।

ये सब आत्मा से भिन्न नहीं हैं। हम इस भ्रान्ति को तोड़ दें कि हम किसी दूसरे की शरण में जा रहे हैं। हम अपनी ही शरण में जा रहे हैं, अपने अस्तित्व की शरण में जा रहे हैं।

जो व्यक्ति इस अनुप्रेक्षा का, इस स्वस्थ चिंतन का अनुसरण करता है वह असामाजिक नहीं होता, अव्यावहारिक नहीं होता। व्यवहार में जितना परिष्कार आता है, समाज में जितना सुधार आता है, क्रांति और भलाई आती है, वह ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही आ सकती है। मूर्च्छा में रहने वाले समाज का सुधार नहीं कर सकते, समाज की भलाई नहीं कर सकते और वे सामाजिक क्रांति भी नहीं कर सकते। समाज को उन्नति के शिखर पर नहीं ले जा सकते। वे कैसे ले जाएंगे ? जिस व्यक्ति में पदार्थ के प्रति सघन मूर्च्छा है, जो पदार्थ को नित्य मानता है, वह पदार्थ के लिए इतने संघर्ष करता है कि वह समूचे समाज को लड़ाई में ढकेल देता है। जिस व्यक्ति में केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिकता का ही संस्कार है और यह सोचता है कि जो सबको होगा, वह मुझे होगा। यह सामुदायिकता एक सघन अन्धकार में ले जाने की दिशा बन जाती है। जो व्यक्ति दूसरों में ही अपना त्राण और शरण खोजता है वह अपने आप में शून्य हो जाता है। वह सोचता है—यह मुझे बचा लेगा। वह दूसरों के पीछे-पीछे चलता है। वह स्वयं कभी अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न नहीं करता। यदि ये सचाइयां सामाजिक व्यक्ति में आ जाएं तो समाज का चित्र नया हो जाता है। उसका ऐसा रूप बन जाता है, जैसा कभी नहीं बना था। आध्यात्मिक भूमिका पर जिस समाज की संरचना होगी और इन सचाइयों के आधार पर जिस समाज का ढांचा खड़ा होगा, वह एक क्रांतिकारी, व्यवस्थित, शांतिप्रिय और मैत्री-प्रधान समाज होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव भावना

इस दुनिया में सब प्राणी समान नहीं हैं और सब मनुष्य भी समान नहीं हैं। सबकी बुद्धि, वैभव और क्षमता भिन्न-भिन्न है। जिसके पास ये साधन होते हैं, उसका मन गर्व से भर जाता है और जिसके पास ये नहीं होते हैं, उसमें हीन भावना पनपती है। इस दोहरी बीमारी की चिकित्सा भव-भावना है। यह संसार परिवर्तनशील है। इसमें कोई भी व्यक्ति निरन्तर एक स्थिति में नहीं रहता। एक जन्म में एक व्यक्ति अनेक स्थितियों का अनुभव कर लेता है। अनेक जन्मों में तो वह जाने क्या-क्या अनुभव करता है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन की भावना से भावित होता है, उसके मन में गर्व या हीन भावना की बीमारी पैदा नहीं होती।

आज के वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं कि विश्व में पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होते, केवल परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक सदा से ही यह कहते आए हैं कि जीव और अजीव, चेतन और जड़—ये दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। यह सम्पूर्ण विश्व इन दोनों की सृष्टि है। ये दोनों अनादि हैं। संसारी आत्मा विजातीय तत्त्व से सर्वथा मुक्त नहीं होता, उसे संसार में भ्रमण करना होता है। भव-भावना में साधक यह देखता है, अनुभव करता है कि मैं इस संसार में कब से भ्रमण कर रहा हूं। ऐसी कोई योनि नहीं है जहां मैं जन्मा नहीं हूं। मैं प्रत्येक गति में अनेकशः उत्पन्न हो चुका हूं। क्या मैं इस प्रकार भ्रमण करता रहूंगा ? वह योनियों में विविध कष्टों को देखता है। वह इस भव-भ्रमण के बन्धन को तोड़ना चाहता है। राग और द्वेष भव-भ्रमण के मुख्य हेतु हैं। जब तक ये विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती। विविध योनियों में विविध रूपों में भव-भ्रमण का चिंतन करना भव-भावना है।

संसार : एक अनुचिन्तन

संसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है—संसार की नाना परिणतियों को जानना, विविध परिवर्तनों को जानना, जन्म और मृत्यु के चक्र से बराबर परिचित रहना।

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नहीं है। जिसका अस्तित्व है वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और फिर नष्ट हो जाता है। उत्पन्न और विनाश का क्रम चलता रहता है। इसी क्रम का नाम संसार है। परमाणु-स्कन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। वे एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं। जीव भी बदलते रहते हैं। वे कभी जन्म लेते हैं और कभी मरते हैं। वे कभी मनुष्य होते हैं और कभी पशु। एक जीवन में भी अनेक अवस्थाएं होती हैं। इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिंतन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग हैं—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत है। जो दर्शन का आवारक है उसे दर्शनावरण और जो ज्ञान का आवारक है उसे ज्ञानावरण कहा जाता है। यह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नहीं हैं और केवल देखते नहीं हैं। जानने देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग या द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेष मोह को उत्पन्न करते हैं। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। उस चक्र को तोड़ने का एक ही उपाय है। वह है ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा में चला जाता है। कुछ लोग मूर्च्छा को तोड़ने में स्वयं जागृत हो जाते हैं। जो स्वयं जागृत नहीं होते उन्हें श्रद्धा के बल पर जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान महावीर ने कहा—'हे अद्रष्टा ! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है, इसलिए तुम सत्य को नहीं देख पा रहे हो। तुम सत्य को नहीं देख पा रहे हो, इसलिए तुम उस पर श्रद्धा करो जो द्रष्टा द्वारा तुम्हें बताया जा रहा है।' अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है, अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण।

संसार अनुप्रेक्षा की निष्पत्ति

मोह का सर्वथा नाश होने पर राग-द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है, तृष्णा नष्ट हो जाती है। तृष्णा के अभाव में दुःख नष्ट हो जाता है। तृष्णा का जन्मदाता लोभ है। लोभ सभी पापों का निमित्त और सद्गुणों का विनाशक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलोभ का अर्थ है अकिंचनता। जिसका अपना कुछ भी नहीं, वह अकिंचन है। अकिंचन की अवस्था में होने वाला आनन्द अनिर्वचनीय और आत्मगम्य होता है। एक योगी ने कहा है–

अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यमिदं प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः।।

अपने आपको अकिंचनता की अनुभूति में रखो। उस स्थिति में तुम तीन लोक के अधिपति बन जाओगे। यह परमात्मा का योगिगम्य रहस्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्व भावना

आदमी अपने बाहरी वातावरण में अकेला नहीं है। वह सामुदायिक जीवन जीता है और सबके बीच में रहता है, किन्तु वह सब बातों में सामुदायिक नहीं है। सामुदायिक जीवन के प्रवाह से आने वाली समस्याओं से अपने मन को खाली वही रख सकता है जिसे व्यावहारिक सम्बन्धों के बीच अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। वह बाहरी समस्याओं का सामना करते हुए भी अपने अन्तस् में समस्या से मुक्त रहता है। बाहर के वातावरण में, समुदाय के बीच में रहते हुए भी वह अन्तस् में व्यस्तता से मुक्त रहता है।

सामाजिक प्राणी सहयोग लेता है और सहयोग देता है। वह अकेला जीवन नहीं जी सकता। सबका सहयोग लेता है तो समाज चलता है। सामाजिक जीवन जीते हुए भी लोग इस सचाई को भूल जाते हैं कि अन्ततः व्यक्ति अकेला है। ध्यान करने वाले साधक को इस सचाई से बहुत परिचित रहना है। इस अनुप्रेक्षा को बार-बार दोहराना है। जिसका यह आलम्बन पुष्ट हो जाता है—आत्मा अकेली है, व्यक्ति अकेला है—उसे सहयोग न मिलने पर भी कोई कष्ट नहीं होगा, क्योंकि उसका चित्त इस भावना से पूर्णरूपेण भावित है। वह परिस्थिति के आने पर भी टूटेगा नहीं। यदि वह भावना चित्त में स्थित नहीं है, और व्यक्ति सुनता है कि सबने उसका साथ छोड़ दिया है, तो वह विक्षिप्त बन जाएगा, पागल हो जाएगा। यदि चित्त सचाई से भावित रहे तो ऐसी घटना घटने पर भी आदमी विचलित नहीं होता, वह संभला रहता है।

जब सब साथ में कार्य करते थे, वह आश्चर्य की बात नहीं है। अब सब बिछुड़ गए या सहयोग खींच लिया, यह भी आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसी घटनाएं प्रतिदिन घटती रहती हैं, फिर भी आदमी आंख मूंदकर सचाई की अवहेलना करता जा रहा है। 'मैं अकेला हूं'—यह है एकत्व अनुप्रेक्षा। आसक्ति द्वैत में पैदा होती है। अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः**'—जो एकत्व को देखता है उसे क्या मोह होगा और क्या शोक होगा ?

एकत्व की भावना का दृढ़ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। संयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते, किन्तु इस वास्तविकता को भी नहीं भुला सकते कि अन्ततः आत्मा उन सबसे भिन्न है।

'एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।'

ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा शाश्वत है। यही मैं हूं। शेष सांयोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न हैं। वे 'मैं' नहीं हूं।

दूसरों के साथ अपने को इतना संयुक्त न करें कि जिससे स्वयं के होने का पता ही न चले। इस एकत्व भावना में साधक अपने को समस्त संयोगों से पृथक् देखता है। प्लोटिस ने कहा है–'अकेले ही अकेले के लिए उड़ान है।' नमि राजर्षि ने कहा–'संयोग ही दुःख है। दो में शब्द होते हैं, अकेले में नहीं।' रानियां चन्दन घिस रही थीं। चूड़ियों के शब्द कानों में चुभ रहे थे। नमि राजर्षि ने कहा–'बन्द करो।' रानियां हाथ में एक-एक चूड़ी रख चन्दन घिसने लगीं। शब्द बन्द हो गया। नमि राजर्षि ने पूछा–'क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया?' उत्तर मिला–'नहीं, घिसा जा रहा है।' तो शब्द क्यों नहीं हो रहा है, नमि ने पूछा। तब कहा–हाथ में एक-एक चूड़ी है। एक चूड़ी कभी शब्द नहीं करती। यह सुनते ही तत्क्षण वे प्रतिबुद्ध हो गये और साधना के पथ पर चल पड़े।

अकेला कौन ?

आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया। उन्होंने कहा–'गण में रहूं निरदाव अकेलो, किण स्यूं ही नहीं बांधू जीव्लो–'मैं गण-समुदाय में रहूंगा, पर अकेला रहूंगा। किसी के साथ गठ-बन्धन नहीं करूंगा।' संघ में रहते हुए अकेले रहना–एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह साधना का परम रहस्य है। हम सर्वथा अकेले नहीं हो सकते। व्यक्ति सोच सकता है कि वह जंगल में जाकर तो अकेला हो सकता है। कभी नहीं हो सकता। जंगल में जाने वाला तो इतनी भीड़ से घिर जाता है कि गांव में रहने वाला भी नहीं घिरता। हम अकेले कैसे हो सकते हैं, जब हमने अपने भीतर हजारों-हजारों संस्कार पाल रखे हैं। मस्तिष्क में इतनी भीड़ है कि जिसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। जब तक यह मस्तिष्क खाली नहीं हो जाता तब तक आदमी अकेला नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।

अकेला होने का एकमात्र उपाय है–इस सचाई को स्वीकार करना कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयोग मात्र संयोग है। ये शरीर, कपड़े, मकान सब संयोग हैं। क्रोध आदि कषाय तथा बीमारियां—ये सब संयोग हैं। ये स्वभाव नहीं, विभाव हैं।

आदमी अकेला तब होता है जब ममकार और अहंकार का बन्धन टूट जाता है, आत्मा की सन्निधि प्राप्त हो जाती है। जब अकेलेपन का अनुभव गहरा होता चला जाता है, तब यह सचाई प्रत्यक्ष हो जाती है कि 'मैं अकेला हूं।' इस परिप्रेक्ष्य में एक प्रश्न उभरकर आता है कि क्या इस चिन्तन से सारे पारिवारिक सम्बन्ध टूट नहीं जाएंगे ? यह प्रश्न उभर सकता है किन्तु हम एकांगी दृष्टिकोण से विचार न करें। जीवन-यात्रा को चलाने के लिए व्यवहार की भूमिका पर यह बात भी जरूरी है कि 'मैं अकेला नहीं हूं। मेरे साथ अनेक सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। मेरे साथ परिवार का, गांव का, राष्ट्र का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मैं इन सूक्ष्म धागों से बंधा हुआ हूं।' एक ओर व्यवहार की भूमिका पर आदमी अपने आपको हजारों-हजारों धागों से बन्धा अनुभव करे और अध्यात्म की भूमिका पर उन धागों से मुक्त अनुभव करे। दोनों स्थितियां साथ-साथ चलें। दोनों का सामंजस्य हों। व्यवहार की दृष्टि भी चले और निश्चय की दृष्टि, प्रेक्षा की दृष्टि भी चले। जो सामाजिक जीवन जीता है उसे इन धागों में बन्धा रहना पड़ता है। किन्तु केवल इसी में रह जाए और आध्यात्मिक चेतना न जाग पाए तो मूर्च्छा इतनी सघन हो जाती है और वे धागे मजबूत रस्से बन जाते हैं, फिर उनसे छूटना सरल नहीं होता।

मैं अकेला हूं

बुढ़ापा भी एक समस्या है। मैं मानता हूं कि यह बहुत बड़ा समाधान भी है। हमारा एक सूत्र है—एकत्व की अनुभूति का। महावीर ने कहा, 'तुम अकेले हो, कोई तुम्हारा नहीं है।' यह तथ्य हृदयंगम नहीं होता। जब तक आदमी जवान होता है, परिवार के पालन-पोषण में लगा रहता है, परिवार की ओर से उसे असीम प्यार मिलता है, स्नेह मिलता है और सभी उसे आशाभरी दृष्टि से देखते हैं, उसे सम्मान और आदर देते हैं, तब तक वह कभी अनुभव नहीं कर पाता कि वह अकेला है। यह अनुभव होता ही नहीं। वह कहता है, 'मैं कैसे मान लूं कि मैं अकेला हूं।' यह मेरा परिवार मेरे बिना एक क्षण भी जी नहीं सकता। मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्री मेरे बिना नहीं रह सकते। ऐसी स्थिति में अकेलेपन का सूत्र उसे प्रतिकूल लगता है। किन्तु जब वह बूढ़ा होता है, सबको उससे प्राप्त होने वाले स्वार्थ बन्द हो जाते हैं, किसी के काम का आदमी नहीं रहता, निकम्मा हो जाता है, आकर्षण के सारे धागे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टूट जाते हैं, कोई कहना नहीं मानता, कोई सम्मान नहीं देता, तब वह सोचता है—अरे ! बड़ा विचित्र संसार है ! यहां कोई किसी का नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला है। मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं—यह अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि वह सोचता है—आज मेरा कोई सहायक नहीं रहा, पूछने वाला नहीं रहा। सब मेरी उपेक्षा करते हैं। सब मेरी बात टाल देते हैं। वास्तव में मैं अकेला हूं। प्रत्येक बूढ़े व्यक्ति के साथ ऐसा अधिक या न्यून मात्रा में घटित होता है। अगर बूढ़ा आदमी उस स्थिति को एक अवसर मान ले तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। अन्यथा हर स्थिति बहुत दुःखी बना देती है। बुढ़ापा बहुत बड़ी समस्या है और दुःखी होने का बहुत बड़ा अवसर है। किन्तु बुढ़ापा सुख से कट सकता है यदि बूढ़े व्यक्ति में थोड़ी-सी आध्यात्मिक चेतना-जागृत कर दी जाए और 'मैं अकेला हूं'—यह भावना उसके आत्मगत हो जाए। इस सचाई को समझने का यह अनमोल अवसर है। बहुत बड़ा सत्य उसके लिए उद्घाटित हो जाता है कि वास्तव में मनुष्य अकेला है। ये जोड़ने वाले जो धागे हैं, अभिन्नता का भ्रम पैदा करने वाली ये जो अपेक्षायें हैं, ये सब मोह के गर्त में ढकेलने वाली हैं। इन्हें तोड़ने का यह अवसर है। इनके टूट जाने पर जो शुद्ध 'मैं' है वह बच जाता है और 'मैं अकेला हूं' यह स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। ऐसी स्थिति में जो यथार्थ 'मैं' था, वह बच गया, शेष सारे विलीन हो गए।

जब आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है, अन्यत्व की अनुप्रेक्षा अनुभव में उतर आती है तब पहली बार उसे अनुभव होता है कि 'मैं अकेला हूं।' तब एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का चिन्तन फूट पड़ता है। वह सोचता है—मैं अकेला हूं। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब दूसरा फिर मेरा कौन होगा ? मैंने जिसे स्वजन मान रखा है, वह मेरा कैसे होगा ? यह दूर की बात है। मेरे सबसे निकट है—शरीर। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब वह (स्वजन) मेरा कैसे होगा ? वह स्व कैसे होगा ? वह भी तो पराया ही है। जब परत्व की बुद्धि जागी तो एक भ्रम और जाग गया। जिसको स्व माना था, उसके प्रति राग संचित कर रखा था। और जिसको स्व नहीं माना, पर माना, उसके प्रति द्वेष संचित कर रखा था। पराए के प्रति कोई राग नहीं होता। जो अपना है, उसके प्रति राग होता है। स्व और पर की जो मान्यता बना रखी थी, वह भ्रम भी टूट गया। अब स्पष्ट बोध हो गया कि कोई 'स्व' नहीं है। जब शरीर भी 'स्व' नहीं है तो दूसरा पदार्थ 'स्व' कैसे होगा ? जब कोई भी 'स्व' नहीं है तो कोई 'पर' कैसे होगा ? यह 'स्व' और 'पर' की रेखा ही समाप्त हो जाती है। यदि कोई 'स्व' हो तो किसी को 'पर' माना जाए। कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना हो तो दूसरे को पराया माना जाए। 'स्व' और 'पर' का चिन्तन ही समाप्त हो जाता है। अकेला, केवल अकेला। वह अपने आपको देखता ही अकेला है।

यह सोच सकते हैं—यह सब अव्यावहारिक बातें हैं। इस चिंतन से क्या कोई परिवार चलेगा ? क्या कोई समाज चलेगा ? क्या कोई राष्ट्र चलेगा? यदि सब आदमी अपने को अकेले ही अकेले अनुभव करें तो क्या समुदाय बन पाएगा ? क्या कोई समष्टिगत कार्य हो सकेगा ? क्या कोई शक्ति का निर्माण हो सकेगा ? शक्ति का निर्माण तब होता है जब दो मिलते हैं, दो का योग होता है। योग होता है तब मकान बनता है। अकेले तन्तु की कोई कीमत नहीं होती। जब तन्तु मिलते हैं, उनका परस्पर योग होता है तब वस्त्र बनता है जो नग्नता को ढांकने में, सर्दी और गर्मी से बचाने में सक्षम होता है। जहां संगठन होता है, मिलन होता है, समुदाय बनता है, वहां शक्ति पैदा होती है। समाज की सारी शक्ति समुदाय पर निर्भर होती है। समुदाय होते ही शक्ति पैदा हो जाती है। अकेले में कुछ नहीं होता।

व्यवहार के धरातल पर यह चिन्तन उभरता है और ऐसा लगता है कि अकेलेपन की बात सर्वथा अव्यावहारिक और असमाजिक है। ऐसा लग सकता है। व्यवहार का अर्थ ही होता है—स्थूल। जब व्यक्ति स्थूल भूमिका पर खड़ा रह कर सोचता है तब वह ऐसा ही सोच पाता है। ऐसा सोचना उस भूमिका की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नहीं है। यह सच है कि एक ईंट से कभी मकान नहीं बनता। यह कहावत भी सच है कि ईंट से ईंट बजती है। जहां दो मिलते हैं वहां शक्ति पैदा हो जाती है। जहां दो मिलते हैं वहीं संघर्ष पैदा होता है, चिनगारियां उछलती हैं। दो होने के साथ विशेषताएं भी हैं और दो होने के साथ कठिनाइयां और समस्याएं भी हैं। दो ने कभी लड़ाई न की हो, ऐसा कहीं नहीं मिलता तो अकेले आदमी ने कभी लड़ाई की हो, ऐसा भी कहीं न मिलता। दो में कभी न कभी टकराहट हो ही जाती है। निरन्तर साथ रहने वाले पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी बिना टकराहट के नहीं रह पाते। प्रतिबिम्ब से भी टकराहट हो जाती है। चिड़िया कांच पर बैठती है और अपने ही प्रतिबिम्ब से लड़ने लग जाती है। वह प्रतिबिम्ब चिड़िया के चोंच मारती है, जब तक कि उसकी चोंच घायल नहीं हो जाती। शेर ने पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखा और उसे मारने के लिए दौड़ा। वह पानी में डूबकर मर गया, अपने प्राण न्यौछावर कर दिए, किन्तु वह बिना टकराहट के नहीं रह सका। जब प्रतिबिम्ब से भी टकराहट हो जाती है तो साक्षात् में बिना टकराहट के रहना असम्भव-सा हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपनिषद्कार कहते हैं–'द्वितीयाद् वै भयम्' जब दूसरा होता है तब भय उत्पन्न होता है। जब दूसरा होता है तब कार्य में बाधा आती है, स्वतन्त्रता, खंडित हो जाती है। अकेले में व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है, किन्तु जब दूसरे के आने की आशंका होती है तब वह सावधान हो जाता है, मनचाहा कर नहीं सकता। इस प्रकार दूसरा होता है तब आशंका उत्पन्न होती है, भय होता है, संघर्ष होता है। इस पहलू को ध्यान में रखना है। अकेला होना अस्वाभाविक नहीं है, असामाजिक नहीं है। जो व्यक्ति समाज में रहता हुआ भी अपने आपको अकेला अनुभव करता है वह हजारों समस्याओं से बच जाता है।

इन सारी स्थिति में अप्रमाद का सूत्र है–अकेलेपन की अनुभूति। सारे सम्पर्कों को तोड़ कर व्यक्ति व्यवहार में जी नहीं सकता। इन बातों से व्यवहार टूटेगा नहीं। इसमें और मधुरता आएगी। यदि वास्तव में अपने-आप में अकेलेपन का अनुभव करेंगे तो अनेक कठिनाइयों से बच जाएंगे। न चिन्ता के शिकार होंगे और न दुःख के। दूसरों के व्यवहारों को देखकर उलझेंगे नहीं, दुःखी नहीं होंगे। मन शांत रहेगा और इस स्थिति में आप द्वारा किए गए व्यवहार दूसरों को मधुर लगेंगे। आपके मस्तिष्क में निरन्तर एक सूत्र कार्यरत रहेगा 'मैं अकेला हूं।' जब कोई भी समस्या सामने आएगी, आप इस सूत्र से समाहित हो जायेंगे। समस्या पीड़ित नहीं करेगी। जो समस्या सोलह आना लगती है, वह एक आना मात्र रह जाएगी। यदि अकेलेपन का आलंबन-सूत्र नहीं है तो छोटी समस्या भी बड़ी बन जाएगी। वह सुलझेगी नहीं। अप्रमाद की साधना व्यक्तिगत जीवन और व्यावहारिक जीवन–दोनों में लाभप्रद है। दोनों की समस्याओं का समाधान देने में यह सक्षम है। यह साधना समस्याओं को सुलझाती है और एक-एक चरण आगे बढ़ने में हमारी सहायक होती है।

संपर्क से हम जुड़ते और पलायन कर जाते हैं, भाग जाते हैं। जुड़ना और भाग जाना–दोनों बातें ठीक हैं। जुड़ जाना भी अच्छा है और भाग जाना भी अच्छा है। समुदाय में रहना भी अच्छा है और अकेले में रहना भी अच्छा है। एक बात कोई अच्छी नहीं होती क्योंकि हम व्यवहार का जीवन जी रहे हैं। हमारा स्तर है व्यवहार का। जहां शरीर है, जीवन है, वहां हमारी आवश्यकताएं भी हैं। हमें रोटी भी खानी है, कपड़ा भी है। ऐसी स्थिति में हम संपर्कों को तोड़ नहीं सकते। हमें सम्पर्कों का सहारा लेना होता है। किन्तु जहां हमें वास्तविकता के जगत् में जीना है, सत्य के जगत् में जीना है, वहां हमें अकेला ही जीना होगा, अकेला ही रहना होगा। इसके सिवाय कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीड़ में भी अकेला

साधक अकेला रहे या समूह में ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान आगम के आलोक में यह मिलता है–'**एत्थ दो नया निच्छयनओ ववहारओ य।**' किसी भी विवादास्पद प्रश्न को एक ही कोण से देखने पर समाधान नहीं मिलता। समाधान की अनेक दिशाएं हैं। कम-से-कम दो दिशाएं हैं–निश्चय और व्यवहार। निश्चय नय एक सच्चाई है। इसके अनुसार व्यक्ति अकेला आता है, अकेला जाता है, अकेला सुख-दुःख का भोग करता है और अकेला ही साधना करता है। इस भावना का प्रतिनिधित्व करने वाला एक राजस्थानी दोहा है-

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यूं कबहूं इण जीव रा, साथी सगो न कोय।।

यह वास्तविकता है। इस सचाई को भूलने से बहुत बड़ी दुविधा उत्पन्न हो जाती है। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे बिना उसका काम नहीं चलता या उसके बिना मेरा काम नहीं चलता, यह उसका मानसिक भ्रम है। सचाई यह है कि किसी का काम किसी के बिना रुका नहीं रहता। जन्म और मृत्यु का प्रवाह बहता है। हर व्यक्ति इस प्रवाह में बहकर अदृश्य हो जाता है और संसार का काम ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। फिर यह रात-दिन की चिंता और बैचेनी क्यों ? एकत्व अनुप्रेक्षा को विस्मृत कर देने से यह परेशानी खड़ी होती है। वास्तव में व्यक्ति स्वयं का स्वामी है। इसलिए वह अकेला रहना सीखे और अकेला जीना सीखे। शक्तिशाली व्यक्ति सदा ही अकेला रहता है। जंगल का शेर कब सोचात है–

एकोऽहमसहायोऽहं, कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिंता, किं मृगेन्द्रस्य जायते ?

मैं अकेला हूं, असहाय हूं, कृश हूं, मेरा कोई परिवार नहीं है। क्या इस प्रकार की चिंता सिंह को कभी स्वप्न में भी होती है ?

शेर भी एक प्राणी है और मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य क्या शेर से कम शक्तिशाली है ? वह अनन्त शक्ति सम्पन्न है इसलिए उसे अकेलेपन का भय कभी होना ही नहीं चाहिए।

सन्त इकहार्ट जंगल में किसी वृक्ष के नीचे शांतभाव से बैठा था। उसका कोई पुराना मित्र उधर से गुजरा। उसने देखा इकहार्ट अकेला बैठा है। वह उसके पास जाकर बैठ गया और बोला–'शायद आप अकेले बैठे-बैठे ऊब रहे हैं, यह सोचकर मैं आपके पास आया हूं।' सन्त बोला–'भाई ! मैं अकेला कहां था? मैं तो अपने साथ था। मेरा प्रभु मेरे साथ था। तुमने आकर मुझे अकेला कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया। अब मेरा 'मैं' अर्थात् 'मेरा प्रभु' मुझ से छुट गया।' कितना गहरा रहस्य है इस अभिव्यक्ति में ? इस रहस्य को वे ही समझ सकते हैं जो अकेले जीने की कला जानते हैं। समूह में बन्धा हुआ व्यक्ति न तो इस रहस्य को समझ पाता है और न अकेलेपन के सुख का अनुभव कर सकता है।

एकत्व भावना की अनुप्रेक्षा करने से द्वैत से उभरने वाली समस्या का समाधान हो सकता है।

तीर्थंकर साधना के प्रारम्भ में अकेले रहते हैं, किन्तु केवलज्ञान उपलब्ध होने के बाद वे संघ में रहते हैं, उपदेश देते हैं, विहार करते हैं और जन सम्पर्क करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? उत्तर सीधा है–'सकम्मसेसेण' उनका भी कर्म-भोग शेष रह जाता है, कुछ कर्म बच जाते हैं। उन शेष बचे हुए अघात्य कर्मों को समाप्त करना और जनता को जागृत करना, यही उद्देश्य है तीर्थंकरों द्वारा संघ-व्यवस्था के प्रवर्तन का।

साधक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस मार्ग को उपलब्ध करता है, उस पर चलने के लिए औरों को भी प्रेरित करे। उसका यह प्रयत्न भी बचे-खुचे संस्कारों को समाप्त करने का प्रयत्न है। मूल बात यह है कि साधक को कोई आग्रह नहीं होना चाहिए। उसके मार्ग-दर्शक उसे जो पथ दिखाएं, वह अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ उस पथ पर चले। इस क्रम से वह भीड़ में भी अकेला रह सकता है। रास्ता यदि सही नहीं है तो अकेलेपन में भी वह भीड़ से घिरा रहता है। इसलिए मानसिक दृष्टि से अकेलेपन का अनुभव ही निरापद मार्ग है।

सत्य का सार्वभौम स्वरूप

अध्यात्म का एक महान् सूत्र है–समूह में रहते हुए भी एकांत का अनुभव करना। साधना करने वाले व्यक्ति के लिए परम वांछनीय है। जिस व्यक्ति ने अकेलेपन का अनुभव किया, उसने सचमुच अपनी चेतना को बदल दिया, अपने व्यक्तित्व का रूपांतरण कर लिया।

रूस के महान् साधक गुर्जिएफ तीन महीने का प्रयोग करवाते थे कि एक हॉल में १०,२०,३० आदमी एक साथ रहें। साथ में खाएं-पीएं जीएं, पर निरंतर 'मैं अकेला हूं' इस बात का अनुभव करते रहें। इस एकत्व-अनुप्रेक्षा के सूत्र को उन्होंने काम में लिया। सत्य पर किसी का अधिकार नहीं होता। सत्य सार्वभौम होता है।

हिन्दुस्तान का व्यक्ति हो या रूस का व्यक्ति हो, चाहे दुनिया के किसी कोने में जन्म लेने वाला व्यक्ति हो, जो अध्यात्म की भूमिका में जाता है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य की खोज में जाता है, उसे वही बात मिलती है जो यहां मिलती है। सत्य की उपलब्धि में देश और काल की सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं।

एकांतवास का एक अर्थ है—एकांत में रहने का अभ्यास, एकांत का प्रयोग। दूसरा अर्थ है—एकत्व का अनुभव। एकांतवास का तीसरा अर्थ है—प्रतिस्रोत गमन की क्षमता। भीड़ में चलना, स्रोत के साथ-साथ चलना—यह गमन का एक प्रकार है। दूसरा भीड़ से विमुख होकर चलना, अनुसरण को छोड़ना। प्रतिस्रोत में चलना है। बहुत सहज होता है अनुस्रोत में चलना। स्रोत बह रहा है, कोई भी तिनका आएगा, स्रोत में बह जाएगा। कोई भी चीज आती है, स्रोत में बह जाती है। स्रोत के प्रति चलना, बहुत कठिन साधना है। भीड़तंत्र आज का ही नहीं है। मनुष्य का समाज बना तब से चल रहा है। जब से मनुष्य ने अपने आपको समाज में ढाला तो अनुसरण की वृत्ति विकसित हुई।

अब समाज को हम इस दृष्टि से देखते हैं कि सब लोग ऐसा करते हैं और यदि मैं ऐसा न करूं तो क्या फर्क पड़ेगा अथवा सब ऐसा नहीं करते हैं और मैं ऐसा करूं तो क्या फर्क पड़ेगा। दोनों बातें हमें सत्य से दूर ले जाती हैं। एकत्व का अनुभव करने वाला व्यक्ति, यह तर्क नहीं रखता कि समाज क्या करता है, समाज क्या नहीं करता है ? उसका चिंतन यह होगा कि मुझे क्या करना चाहिए। मेरा धर्म क्या है, मेरा कर्त्तव्य क्या है, मेरा दायित्व क्या है ? इस चिंतन का विकास एकत्व की भूमिका के आधार पर ही संभव हो सकता है। हमारे जीवन में अनुकूलताएं एवं प्रतिकूलताएं आती हैं। सर्दी और गर्मी आती हैं। सर्दी को सहना और गर्मी को सहना, अनुकूलता को सहना और प्रतिकूलता को सहना कठिन काम है। प्रतिकूलता की अपेक्षा अनुकूलता को सहना कठिन काम है। जब अनुकूलता की स्थिति होती है तो आदमी इतना अहंकार से भर जाता है कि अन्याय करते कोई संकोच नहीं होता। जब हाथ में सत्ता होती है, अधिकार होता है फिर अन्याय करने में कोई संकोच नहीं होता। इसलिए नहीं होता कि अनुकूलता को व्यक्ति सहन नहीं कर पाता। द्वेष बुराई तो है पर इतनी भयंकर बुराई नहीं, जितनी राग की बुराई है। अप्रियता बुराई तो है पर उतनी बुराई नहीं, जितनी प्रियता का संवेदन बुराई है।

एक संस्कृत कवि ने लिखा—जो भंवरा काठ को भेदकर चला जाता है, वही भंवरा कमलकोष में बन्द हो जाता है। उसे भेदकर बाहर नहीं निकल पाता। कहां काठ और कहां कमलकोष ! किन्तु कठोर काठ को भेद देना उसके वश की बात है। किन्तु राग का बन्धन इतना तीव्र होता है कि वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे तोड़ नहीं पाता, भेद नहीं पाता। अनुकूलता को सहन करना बहुत बड़ी समस्या है। अकेला होने वाला व्यक्ति, अकेलेपन की साधना करने वाला व्यक्ति सबसे पहले उस राग के बन्धन को तोड़ने की बात को सीख लेता है। समाज कभी अप्रियता के आधार पर नहीं जुड़ता। सम्बन्ध कभी अप्रियता के आधार पर नहीं बनते। दण्डशक्ति का उपयोग करने वाला दूसरे को कष्ट दे सकता है, दु:खी बना सकता है, पर सम्बन्ध नहीं बना सकता। सारे-के-सारे सम्बन्ध जुड़ते हैं प्रेम और आत्मीयता के आधार पर। जो प्रेम धागा है, उसी के आधार पर राग के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। किन्तु साधना और ध्यान करने वाला व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि इस धागे के आधार पर हमने यह सम्बन्ध स्थापित किया है किन्तु यह प्रेम-स्नेह का धागा भी अन्तिम सचाई नहीं है। अन्तिम सचाई है कि 'मैं-मैं' और 'तू-तू'। बहुत कटु बात लग सकती है, अव्यावहारिक लग सकती है, किन्तु हम इस सचाई को झुठला नहीं सकते।

हम अकेलेपन की सचाई को न भूलें। जो इस सत्य को समझ लेता है वह सत्य और शांति को उपलब्ध हो सकता है, दु:खों से बच सकता है। एक बहुत बड़ा सूत्र है मनोबल को बढ़ाने का—'एकला चलो।'

अक्रियता का अनुभव

एकत्व सचाई है। किन्तु मनुष्य ने इसको झुठलाने का जितना प्रयत्न किया उतना प्रयत्न शायद किसी और दिशा में नहीं किया। झुठलाने का प्रयत्न निरंतर चलता रहा और वह प्रयत्न चलते-चलते आज इस बिन्दु पर पहुंच गया कि समाज ही परम सत्य, ध्रुव सत्य बन गया। आदमी ने मान लिया कि समाज ही अन्तिम सत्य है, व्यक्ति तो समाज का एक पुर्जा मात्र है। एक महायंत्र का छोटा-सा पुर्जा है व्यक्ति। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस मान्यता ने व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को ही समाप्त कर डाला। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर भारी कुठाराघात हुआ। क्या व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है ? क्या व्यक्ति समाज का एक पुर्जा मात्र है ? जब व्यक्ति समाज का पुर्जा ही है तब फिर समाज के द्वारा जो प्राप्त होता है उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह है कि समाज से जो उपलब्ध होता है उसे व्यक्ति सहर्ष स्वीकार नहीं करता। तत्काल उसका मानसिक तनाव बढ़ जाता है। वह भीतर में अनुभव करता है—मैं व्यक्ति हूं। मेरी स्वतंत्र सत्ता है। मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है। एक ओर स्वतंत्र अस्तित्व की बात मन से निकलती नहीं और दूसरी ओर सामुदायिकता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सघन सूत्र उसके सिर पर थोपा जाता है। इन दोनों स्थितियों के बीच सारे तनाव बढ़ते चले जाते हैं।

तनावों से बचने का ही उपाय है—अक्रियता की अवस्था का निर्माण। ध्यान से अक्रियता की अवस्था का निर्माण होता है। समुदाय में रहते हुए अकेलेपन के अनुभव करने से भी इस अवस्था का निर्माण होता है। 'मैं अकेला हूं, शेष सब संयोग हैं।' संयोगों का अपना अस्तित्व मानना सक्रियता है। उन्हें अपने अस्तित्व से भिन्न देखना, अनुभव करना अक्रियता है।

महावीर ने छह महीने तक एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। अकेले व्यक्ति को यदि तीन महीने तक कोठरी में बन्द कर दें और वह यह सोचता रहे कि 'मैं अकेला हूं' तो तीन महीने के बाद जब वह बाहर आएगा तो वह इतना बदल जाएगा कि बाहर कि दुनिया उसे झूठी प्रतीत होने लगेगी। वह सोचेगा—सब कुछ—झूठ-ही-झूठ है। जो लोग अपने सम्बन्धों की चर्चा करते हैं वे सब असत्य हैं। संसार में होने वाले सम्बन्ध सत्य नहीं हैं। सत्य है अकेलापन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यत्व भावना

स्वस्थ चिंतन का सूत्र है—अन्यत्व भावना की अनुप्रेक्षा। जो आज तक उपलब्ध नहीं हुआ था वह इससे उपलब्ध हो जाता है। सम्यग्-दर्शन का मूल है अन्यत्व भावना। 'मैं शरीर से भिन्न हूं और शरीर मुझसे भिन्न है'—यह अन्यत्व भावना है, अनुप्रेक्षा है। जैसे-जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है, वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश हजारों-हजारों को फैलाता जाता है और मोह का अन्धकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रन्थियां खुल जाती हैं। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किये थे, जितनी ग्रन्थियों का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते हैं, वे सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं। व्यक्ति तनावों और ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है।

शरीर में बीमारी हुई, आदमी रोने लग जाता है। शरीर को थोड़ा-सा कष्ट हुआ, आदमी दीन बन जाता है। कष्ट के कारण ऐसा नहीं होता। यह होता है ग्रन्थियों के कारण, संस्कार के कारण। हमारी देहाशक्ति इतनी पुष्ट है कि हमने मान लिया कि शरीर को कुछ भी कष्ट नहीं होना चाहिए। इस मान्यता के कारण थोड़ा-सा कष्ट भी असहनीय बन जाता है पर जिनकी अन्यत्व भावना जागृत हो जाती है, हजारों कष्टों के आने पर भी उनकी मधुर मुस्कान को कभी नहीं मिटाया जा सकता। उनके चेहरे पर कभी दीनता का भाव नहीं उभरता। वे कभी खिन्न नहीं बनते। वे बहुत शारीरिक वेदना के होने पर भी उसकी अवज्ञा कर देते हैं, उस ओर ध्यान ही नहीं देते। शरीर को कष्ट होता है इसलिए आदमी नहीं रोता। किन्तु मेरे शरीर को कष्ट नहीं होना चाहिए, यह मान्यता उसे रुलाती है। इसी मान्यता के कारण आदमी रोता है। जब अन्यत्व भावना पुष्ट हो जाती है तब 'मेरे शरीर को कष्ट नहीं होना चाहिए'—यह ग्रन्थि खुल जाती है, ग्रन्थि समाप्त हो जाती है। फिर कष्ट होता है तो वह द्रष्टा की भांति देखता है कि शरीर में कुछ हो रहा है। कुछ घटना घटित हो रही है। वह केवल द्रष्टा होता है, संवेदक नहीं।

एक व्यक्ति आया। वह ध्यान का अभ्यास कर रहा था। मैंने पूछा—'ध्यान का क्रम चल रहा है ?' उसने कहा—'दर्द हो रहा था, इसलिए अभी बंद कर दिया है।' मैंने कहा—'जहां दर्द है, उसी पर ध्यान करो। उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्द पर ही मन को एकाग्र कर दो।' उसने वैसा ही किया। पांच-दस दिन तक क्रम चला। जैसे-जैसे ध्यान करता गया, कष्ट का भान भी समाप्त हो गया।

दर्द किसको होता है, आत्मा को या शरीर को ? आत्मा को कोई दर्द नहीं होता। हमने अपनी सारी चेतना को दर्द के साथ जोड़ रखा है और इस मान्यता के आधार पर जोड़ रखा है कि दर्द मुझे हो रहा है तभी आपको यह सारा दर्द हो रहा है। यदि भेद-ज्ञान स्पष्ट हो जाए, अन्यत्व का चिंतन स्पष्ट हो जाए तो हम स्वास्थ्य के एक ऐसे वातायन में जाकर बैठेंगे जहां से द्रष्टा की भांति देख सकेंगे कि यह रहा दर्द और यह रहा मैं। यह रहा पथिक और यह रहा मैं। जैसे वातायन पर बैठा आदमी रास्ते चलते आदमी को देखता है, वैसे ही वह कष्ट को अलग देखेगा और अपने को अलग देखेगा। अन्यत्व भावना के विकसित होने पर यह स्थिति बनती है। यदि यह तत्त्व-चिंतन की बात होती तो मेरी बात का प्रतिपक्ष भी होता, मेरे तर्क का प्रतितर्क भी होता, मेरी उक्ति की प्रत्युक्ति भी होती। किन्तु यह साधना की बात है, अनुभव की बात है। साधक भेदज्ञान को प्राप्त करे, विवेक चेतना का जागरण करे, आत्मा की भूमिका पर आकर आत्मा और शरीर के अन्यत्व अनुप्रेक्षा की बात करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। उस भूमिका पर पहुंच कर वह यह अनुभव करे कि ऐसा हो सकता है या नहीं।

जिसने कायोत्सर्ग किया उसने साधना की भूमिका पर आकर ही किया। जिसकी अन्तर्दृष्टि खुली, वह साधना की भूमिका पर खुली। उसने साधना के द्वारा ही यह समझा कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। तर्क द्वारा समझा हुआ व्यक्ति इस भूमिका पर नहीं पहुंच सकता।

दो बातें हैं--एक है शैक्षणीय और दूसरी है साक्षात् करणीय। शैक्षणीय बातें आगम से, गुरुमुख से या परम्परा से सीखी जाती हैं। बहुत से लोगों ने 'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः'--आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है इसे रट रखा है। किन्तु जब उनका शरीर कष्टों से आक्रांत होता है तब वे इस सिद्धांत को बिलकुल भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत विफल हो जाता है। शैक्षणीय की एक सीमा होती है। पहले-पहले कोई बात शैक्षणीय होती है, मान ली जाती है, उधार ली जाती है। किन्तु उधार को सदा उधार ही बनाये रखें, यह नहीं होना चाहिए। उधार को चुकाना पड़ता है, अपना कुछ अर्जित करना पड़ता है। हम शैक्षणीय को साक्षात्करणीय बनायें, हम उसे अनुभव में उतारें कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। ऐसा होने पर ही यथार्थ घटनाएं घटित होने लगेंगी। व्यक्ति ज्यों-ज्यों गहराई में जाता है तब उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव होता है, यह सृष्टि भी संयोगात्मक है। यह एक सराय है जहां पथिक विभिन्न दिशाओं से आकार मिलते हैं, विश्राम करतें हैं और फिर वापस लौट जाते हैं। पथिकों के साथ तादात्म्य कैसा ? उनका संयोग कितने दिनों का हो सकता है ?

समस्त योग-वियोग में अपने को न जोड़कर जीना ही अन्यत्व भावना का ध्येय है।

भौतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पहचान

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति खाएगा, पीएगा, कपड़े पहनेगा, मकान में भी रहेगा। वह सब कुछ करेगा, पर जुड़ेगा नहीं। वह यह कभी नहीं कहेगा—मेरा कपड़ा, मेरा मकान। वह कहेगा—इस मकान में मैं अभी रह रहा हूं। यह कपड़ा मेरे पहनने के काम आ रहा है। गांवों में जब लोगों से पूछते हैं—क्या यह मकान तुम्हारा है ? घर का मालिक कहता है—'मकान किसका ! भगवान् का महाराज ! मैं तो यहां रहता हूं।' इस कथन के पीछे एक सिद्धान्त है। सचाई यह है कि मकान किसका हो सकता है ? किसी का नहीं हो सकता। आज तक भी यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं हैं, कुंआरी कन्याएं हैं। आज तक इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ, विवाह नहीं हुआ। संपत्ति शाश्वत कुंवारी है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वैसी-की-वैसी रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व को जोड़ना—ये दोनों भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक नहीं हैं। भौतिक व्यक्तित्व में पदार्थ का उपभोग होता है, ममत्व जुड़ता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का उपभोग अवश्य होता है, पर ममत्व नहीं जुड़ता है। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा'—ये दोनों अलग रहते हैं, जुड़ते नहीं।

स्वतन्त्रता की प्रक्रिया

हमारी परतन्त्रता का पहलू है—रासायनिक प्रतिबद्धता। जीवन का दूसरा पहलू है—स्वतन्त्रता। जब साधना के द्वारा चेतना बदलती है तब रसायनों का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जहर का कार्य है मार डालना। क्या जहर मीरां को मार सका था ? मीरां ने जहर का प्याला पीया। कोई असर नहीं हुआ। भयंकर सर्प चंडकौशिक क्या महावीर को मार सका था ? उसकी एक फुंफकार से आदमी राख का ढेर हो जाता था। उसने महावीर को तीन बार डसा, पर कोई असर नहीं हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब शरीर की पकड़ होती है तभी प्रभाव होता है। शरीर की पकड़ जितनी मजबूत होगी, प्रभाव भी उतना ही गहरा होगा। शरीर की पकड़ छुटेगी, चैतन्य के प्रति जागरूकता बढ़ेगी तो शरीर का भार नहीं रहेगा। शरीर का ममत्व छोड़ देने पर, शरीर रहेगा, उस पर कुछ भी घटेगा, पर चैतन्य अप्रभावित रहेगा। जब प्राण और चेतना—दोनों भीतर चले जाते हैं, उनका समाहार हो जाता है, तब शरीर पड़ा है, उसे सांप काटे, कोई भी काटे, कुछ असर नहीं होगा चेतना पर। यह दूसरा पक्ष है। हमारी चेतना रूपान्तरित होती है प्रेक्षा के द्वारा। वह परिष्कृत और परिमार्जित होती है ज्ञाता-द्रष्टा भाव के द्वारा। उस स्थिति में दोनों प्रकार के रसायनों का प्रभाव नहीं होता। यदि होता है तो अत्यल्प मात्रा में। यह हमारी स्वतंत्रता का पक्ष है।

महावीर ने कहा—'सहो, सहो। सदा सहन करते रहो।' यह बात तभी समझ में आ सकती है, जब सहने के साथ-साथ इसका भी अभ्यास करें कि हम विशिष्ट स्थान पर चेतना को कैसे केन्द्रित और नियोजित कर सकते हैं? जिस रोग को हम समस्या मानते हैं, वह हमारे लिए एक प्रयोग-भूमि बन जाता है। वह हमारे लिए एक प्रयोगशाला का काम करने लगता है। इस आध्यात्मिक प्रयोगशाला में हम जान सकते हैं कि रोग किसके हैं ? रोग किसे बाधा पहुंचा रहे हैं ? मैं कौन हूं ? इन्हें अलग-अलग समझने का मौका मिलता है। यह रहा रोग और यह रहा मैं। अन्यथा हम एक ही मान लेते हैं 'मैं रोगी हूं।' यह मानते रहेंगे तब तक रोग सताएगा। जब हम यह मान लेते हैं कि 'मेरा रोग नहीं', 'मैं रोगी हूं' तो हम रोग से अभिन्न हो गये। यदि 'मेरा रोग' यह मानते तो भी कुछ दूरी प्रतीत होती, किन्तु 'मैं रोगी' इसमें कोई दूरी नहीं, दोनों एक हो गए। इस अवस्था में रोग सताएगा ही। जब हमने रोग के बीच इतनी दूरी कर दी कि मैं केवल द्रष्टा हूं, ज्ञाता हूं, जानता हूं, देखता हूं कि यह रोग रहा। तो जानने-देखने वाला रोग से अलग हो गया। इस स्थिति में रोग स्वयं एक प्रयोगस्थल बन जाता है और उसमें से समाधान निकल आता है।

आत्मा को अरुज कहा गया है। अरुज का अर्थ है—रोग रहित। आत्मा के कभी रोग नहीं होता। चेतना कभी रुग्ण नहीं होती। आत्मा रोगग्रस्त कभी नहीं होती। रोगग्रस्त होता है शरीर। यह भेद जब आत्मगत हो जाता है, यह दूरी जब स्थापित हो जाती है, तब समस्या का समाधान हो जाता है।

भेद-विज्ञान

जिस साधक में स्फोट होता है वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है और उस भूमिका पर पहुंचकर वह कहता है कि 'मैं शरीर नहीं हूं।' 'मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल नहीं हूं।' 'मैं मूर्त्त नहीं हूं।' यह अध्यात्म विकास की पहली भूमिका है।

जब यह अवस्था घटित होती है तब चिन्तन की धारा बदल जाती है। चिंतन की जो मूढ़ अवस्था थी, उसमें परिवर्तन आ जाता है। जब साधक कहता है–'मैं शरीर नहीं हूं,' तब इससे चिन्तन का स्रोत निकलता है जिसे हम 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' कहते हैं। जब यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि मैं शरीर से भिन्न हूं, मूर्च्छा पर इतना तीव्र प्रहार होता है कि मोह का किला ढह जाता है, क्योंकि मोह का उद्गम-स्थल है शरीर। आदमी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य करता है। जब यह मोह टूट जाता है, यह भ्रांति टूट जाती है, अनादि-कालीन भ्रम की दीवार खंड-खंड हो जाती है तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नहीं हूं। इस बोध के साथ-साथ सारी विचारधाराएं बदल जाती हैं, मैं शरीर नहीं हूं, अहंकार की ग्रन्थि खुल जाती है। यह शरीर मेरा नहीं है–ममकार की गाढ़ ग्रन्थि खुल जाती है। उसे रास्ता मिल जाता है। रास्ता उसी को मिलता है जिसकी ममकार की ग्रन्थि खुल जाती है।

ममत्व की ग्रन्थि का आदि-बिन्दु है शरीर। जब यह गांठ खुल जाती है तब मार्ग स्पष्ट दीखने लग जाता है। जब अहंकार और ममकार–दोनों की गाठें खुल गयीं–'मैं शरीर नहीं हूं', 'शरीर मेरा नहीं है'–तब नये चैतन्य का उदय होता है। उस सूर्य का उदय होता है जो कभी पूर्वांचल में आया ही नहीं था। कभी उगा ही नहीं था। जब ऐसे सूर्य का उदय होता है तब जीवन की सारी दिशा बदल जाती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या इस भूमिका में जीने वाला कभी व्यवहार की भूमिका में जी सकेगा ? मैं मानता हूं कि वह अच्छी तरह से जी सकेगा। किन्तु यह सम्भव कैसे होगा ? जिसने यह मान लिया कि मैं शरीर नहीं हूं, शरीर मेरा नहीं है क्या वह शरीर के प्रति उदासीन नहीं हो जाएगा ? क्या वह शरीर के प्रति विरक्त नहीं हो जाएगा ? क्या यह शरीर के प्रति उपेक्षा नहीं है ? क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को चला पायेगा ? जो व्यक्ति शरीर के प्रति उपेक्षा बरतेगा, क्या वह देश के प्रति अनुरक्त रह पायेगा ? वह अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों को कैसे निभा पायेगा ? ये प्रश्न सहज हैं, किन्तु इन प्रश्नों में कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं है। जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूं, उसने शरीर के साथ सम्बन्ध की एक योजना कर ली। उस सम्बन्ध को अनेक रूपकों में अभिव्यक्ति दी गई है। महावीर ने कहा–शरीर नौका है और आत्मा नाविक है। उपनिषदकारों ने कहा–शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रथ है और आत्मा रथिक है। शरीर घोड़ा है और आत्मा घुड़सवार है। क्या समुद्र में तैरने वाला नाविक कभी अपनी नौका की उपेक्षा कर सकता है ? ऐसा वह कभी नहीं कर सकता। समुद्र की तेज धारा में बहा जा रहा है, अथाह जल है और पार होने का एकमात्र साधन है नौका। क्या ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिलेगा जो समुद्र में उतरकर भी नौका की उपेक्षा करे ? कभी नहीं कर पायेगा। वह नौका की पूरी रक्षा करेगा। उसे कुछ भी आंच नहीं आने देगा।

एक प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानता है, अभिन्न मानता है वह भी उसे संभालकर रखता है, उसका संरक्षण करता है और जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को भिन्न मानता है, अलग-अलग मानता है, वह भी शरीर को संभालकर रखता है। फिर दोनों में अन्तर क्या है ? दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। इसको हम समझें। नाविक नौका को संभालकर रखता है किन्तु उससे चिपक कर नहीं रहता। वह स्पष्ट जानता है कि जब तक तट प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसके लिए नौका नौका है, वह ग्रहण करने योग्य है। जब तट प्राप्त हो जाता है तब नौका उसके लिए व्यर्थ है। जो शरीर और आत्मा को भिन्न नहीं मानता, वह तट आने पर भी नौका से चिपटा रहता है। वह यह सोचता है कि नौका ने मुझे पार लगाया है, अब इसे मैं क्यों छोड़ूं। जो नौका है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह नौका है। मैं नौका को अपने से अलग नहीं कर सकता। वह नौका से चिपट जाता है। यह चिपट जाने वाली बात उस मनुष्य में उत्पन्न होती है जो शरीर और आत्मा को एक मानता है। नौका को साधन मात्र मानने की मति उस मनुष्य में जन्म लेती है जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड़ देता है। यह व्यवहार का लोप नहीं है।

यह सच है कि उन लोगों ने बहुत बड़ी समस्याएं पैदा की हैं जो पदार्थ से चिपके रहे। सभी युद्धों का कारण भी यही चिपकाव रहा है। शरीर भी एक पदार्थ है। जो शरीर के साथ चिपका हुआ नहीं है वह किसी के साथ भी चिपका हुआ नहीं होता। जिस व्यक्ति का शरीर के साथ चिपकाव नहीं रहा, जो शरीर को जीवन-यापन का साधन मात्र मानकर चलता है, उस व्यक्ति ने दुनिया में कभी कोई अनर्थ पैदा नहीं किया। उस व्यक्ति ने द्वन्द्व या संघर्ष कभी उत्पन्न नहीं किया। क्योंकि वह मानकर चलता है कि पदार्थ मात्र साधन है, एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु नहीं है। एक आदमी पदार्थ को साधन मानता है और एक उसको अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने से जो स्फुलिंग उछलते हैं, वे साधन मानने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं उछलते। बहुत बार कहा जाता है कि धन को साधन मत मानो। उसका संग्रह मत करो। किन्तु यह हो नहीं सकता। जब आदमी शरीर को साधन नहीं मानता तो फिर यह धन को साधन कैसे मानेगा ? वह शब्दों में भले ही दोहरा दे, पर यथार्थ में यह उसे स्वीकार्य तब होता है, जब ममत्व छूट जाता है, मार्ग दीख जाता है, कोई संदेह नहीं रहता, कोई भय नहीं रहता। उस स्थिति में ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशौच भावना

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक् दर्शन करे। आसक्ति का मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति बंधे हुए हैं। शरीर का ममत्व नहीं टूटता है तो साधना में प्रगति नहीं होती। अशौच भावना उस बंधन को शिथिल करती है, तोड़ती है। बुद्ध ने इसके लिए 'कायगता-स्मृति' का पूरा प्रयोग बतलाया है। 'कायगता-स्मृति' की विशेषता के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं--'भिक्षुओ ! एक धर्म भावना को और बढ़ाना महासंवेग के लिए होता है, महाअर्थ (कल्याण) के लिए होता है, महायोगक्षेम (निर्वाण) के लिए होता है, महास्मृति-सम्प्रजन्य के लिए होता है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए होता है, इसी जीवन में सुख से विहरने के लिए होता है। विद्या-विमुक्तिफल के साक्षात्कार के लिए होता है।' कौन साधक धर्म ? 'कायगता-स्मृति।' भिक्षुओ वे अमृत का परियोग करते हैं जो कायगत-स्मृति का परियोग करते हैं और 'भिक्षुओ, वे अमृत का परियोग नहीं करते जो कायगत-स्मृति का परियोग नहीं करते।'

कायगता-स्मृति में संलग्न भिक्षु की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है--'यह अरति (उदासी) और रति (काम भोगों की इच्छा)--इन्हें जो पछाड़ने वाला होता है, उसे अरति नहीं पछाड़ती। वह उत्पन्न अरति को हटा-हटा कर विहरता है। जाड़ा, गर्मी सहने वाला होता है। प्राण लेने वाली शारीरिक वेदनाओं को (सहर्ष) स्वीकार करने वाला होता है।'

आगम साहित्य में भी शरीर को अशुचि से उत्पन्न कहा है। महावीर गौतम को सम्बोधित कर कहते हैं--'गौतम ! शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं,' इन्द्रिय और शरीरबल सब क्षीण हो रहा है। तू देख और क्षण भर भी प्रमाद मत कर।' मदिरा के घड़े को कितना ही धोओ, वह अपनी गंध को नहीं छोड़ता। ठीक उसी प्रकार शरीर को कितना ही स्वच्छ करो, वह शुद्ध नहीं होता। प्रतिक्षण अनेक द्वारों से अशुद्धि बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है। मूढ़ मनुष्य उसमें शुद्धि का भाव आरोपित कर लेते हैं। किंतु विज्ञ व्यक्ति उसकी यथार्थता से परिचित होते हैं। साधक शरीर का सम्यक् निरीक्षण करे और उसकी आसक्ति को उखाड़कर अपने स्वरूप में अधिष्ठित बने। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दिर भी है। अशुचि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ में परम-शुद्ध, सनातन, शिव-आत्मा का दर्शन भी करे। केवल शरीर के प्रति घृणा का भाव प्रगाढ़ करने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

पुद्गलों के बाहरी संस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमें मन आसक्त हो जाता है। चमड़ी के भीतर जो है, वह आकर्षक नहीं है। बाहरी संस्थान के साथ आंतरिक वस्तुओं का बोध करना, उन्हें साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है। प्राणी के शरीर में रहने वाले अशुचि पदार्थ तथा मृत शरीर की दुर्गन्ध आदि का योग होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है। यही अशौच भावना का आशय है।

आचारांग में कहा है—**जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।** —यह शरीर जैसा भीतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है। **अंतो अंतो देहंतराणि पासति पुढोवि सवंताइं।** —पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते हैं और कुछ बाहर की शुद्धि पर। भगवान् महावीर एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने दोनों को एक साथ देखा और कहा—केवल अन्तस् की शुद्धि पर्याप्त नहीं है। बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए। वह अन्तस् का प्रतिफलन है। केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना ही पर्याप्त नहीं है, अन्तस् की शुद्धि के बिना वह कोरा दमन बन जाता है। इसलिए अन्तस् भी शुद्ध होना चाहिए। अन्तस् और बाहर—दोनों की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है।

चित्त को कामना से मुक्त करने का एक आलंबन है—शरीर की अशुचिता का दर्शन।

एक मिट्टी का घड़ा अशुचि से भरा है। वह अशुचि झरकर बाहर आ रही है। वह घड़ा भीतर से अपवित्र है और बाहर से भी अपवित्र हो रहा है।

यह शरीर-घट भीतर से अशुचि है। इसके निरन्तर झरते हुए स्रोतों से बाहरी भाग भी अशुचि हो जाता है।

यहां रुधिर है, यहां मांस है, यहां मेद है, यहां अस्थि है, यहां मज्जा है, यहां शुक्र है। साधक गहराई में पैठ कर इन्हें देखता है।

शरीर में अनेक अन्तर हैं। अन्तर का अर्थ है—विवर। साधक अन्तरों को देखता है। वह पेट के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा बाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम-कूपों तथा अन्य अन्तरों को देखता है। इस अन्तर-दर्शन से उसे शरीर का वास्तविक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप ज्ञात हो जाता है। उसकी कामना शांत हो जाती है।

शरीर की सक्रियता का मूल स्रोत–प्राण

अशौच अनुप्रेक्षा का अर्थ है–शरीर की अशुचिता के विषय में चिंतन करना, अनुप्रेक्षण करना। बात गलत नहीं है, सही है। शरीर का जो वर्णन प्राप्त है उस शरीर से विरक्ति घटित करने के लिए जो बतलाया गया वह गलत नहीं होने पर भी पूरा सही नहीं है। एक कोण से सही है। हमारी भूल यह हुई कि शरीर के विषय में हमारी धारणा मिथ्या बन गई। शरीर को देखने का दूसरा कोण भी है। शक्ति, चेतना और आनन्द की सारी अभिव्यक्तियां इसी शरीर के माध्यम से होती हैं। इस शरीर में इतने केन्द्र हैं, इतने स्विच बोर्ड हैं, उनसे शक्ति का स्रोत फूटता है और चेतना की रश्मियां प्रस्फुटित होती हैं।

जिन लोगों ने शरीर का गहराई से अध्ययन किया है, वे बहुत आगे बढ़े हैं, चिकित्सा के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में। चिकित्सा की पद्धतियां–एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर प्राणशक्ति के आधार पर, शरीर के आधार पर चल रही हैं। हमारे पूरे शरीर में प्राण की धारा प्रवाहित हो रही है। इसे हम ऊर्जा की धारा कहें, या बायोइलेक्ट्रीसिटी की धारा कहें, जैविक विद्युत् कहें, कोई अन्तर नहीं पड़ता। ये पूरे शरीर में प्रवाहित हैं। यदि शरीर के सूक्ष्म फोटो को देखें तो पता चलेगा कि पूरा शरीर कुछ रश्मियों से बंधा हुआ है। ये ऐसी रश्मियां हैं जो पैर से लेकर सिर तक सीधी चली गई हैं। ये सारी प्राण की धाराएं हैं।

सामान्यत: हम समझते हैं कि हमारी सारी क्रिया, सारा प्रवृत्ति-चक्र रक्त के आधार पर चल रहा है। पर यह मूल कारण नहीं है। हड्डियां स्वस्थ हैं। मांसपेशियां ठीक काम कर रही हैं। रक्त का संचार सुचारु रूप से हो रहा है, पर यदि प्राण की धारा सूख गई है तो सब कुछ बन्द हो जाएगा। हड्डियां भी काम करना बन्द कर देंगी, मांसपेशियां सिकुड़ने लग जाएंगी और रक्त का संचार भी रुक जाएगा। इन क्रियाओं का मूल स्रोत है–प्राण। प्राण के द्वारा सब संचालित हो रहे हैं। प्राण की शक्ति जैसे-जैसे कम होती जाती है, शरीर की सारी शक्तियां भी कम होती जाती हैं। प्राण की शक्ति जितनी विकसित होती है, शरीर की सारी शक्तियां बनी रहती हैं। आधारभूत शक्ति है प्राण।

'एक्यूप्रेशर' की पद्धति में यही किया जाता है। शरीर के अमुक-अमुक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केन्द्र को दबाकर प्राण को अजस्र प्रवाहित किया जाता है। कहां से दबाना है? कैसे दबाना है ? ये सारी बातें इस पद्धति में निष्णात व्यक्ति जानते हैं। इस शरीर में सारे रहस्य भरे पड़े हैं। इनमें सैकड़ों-सैकड़ों केन्द्र और आयतन हैं तथा सैकड़ों-सैकड़ों विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र हैं। इन केन्द्रों का विकास कर व्यक्ति अपने ज्ञान का विकास कर सकता है, स्मृति और संकल्प-शक्ति का विकास कर सकता है, शक्ति और आनन्द का विकास कर सकता है और अनेक अनबुझी पहेलियों को सुलझा सकता है।

शरीर का वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

प्रेक्षा-ध्यान के सन्दर्भ में शरीर को समझने पर बहुत बल दिया गया है। जो व्यक्ति शरीर के रहस्यों को नहीं जानता, वह धर्म को ठीक से नहीं जान पाता। जिस व्यक्ति को साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना है, अपनी शक्ति और चेतना का विकास करना है, उसे शरीर के रहस्यों को जानना ही होगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जब व्यक्ति शरीर की शक्ति से परिचित हो जाता है, फिर आत्मा की शक्ति में कोई संदेह नहीं रहता। हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं, जिनसे काम और वासना बढ़ती है, राग और द्वेष बढ़ता है। दूसरी ओर शरीर में ऐसे भी केन्द्र हैं जिनका विकास करने पर, कामना और वासना घटती है, कामना और वासना का परिष्कार होता है तथा राग और द्वेष का विलय होता है। अभ्यास करते-करते, शरीर के केन्द्रों का परिष्कार करते-करते, उनका उपयोग करते-करते एक बिन्दु ऐसा आता है कि चेतना का ऊर्ध्वारोहण, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन हो जाता है, सारी चेतना और ऊर्जा हमारे मस्तिष्क के दाएं भाग में आ जाती है। मस्तिष्क का दायां भाग अध्यात्म का भाग है और बायां भाग लौकिक शिक्षा का भाग है। गणित, तर्कशास्त्र आदि-आदि शिक्षाओं का केन्द्र है। मस्तिष्क का पिछला भाग 'अनुमस्तिष्क' अध्यात्म का भाग है और इससे जुड़ा है 'सुषुम्नाशीर्ष'। यह सारा अलौकिक भाग है।

शरीर में दो हिस्से हैं। एक है लौकिकता का हिस्सा और दूसरा है अलौकिकता का हिस्सा। अलौकिकता का हिस्सा सोया का सोया रहता है इसलिए विश्वास नहीं होता कि मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है, वीतराग हो सकता है, सर्वज्ञ हो सकता है।

आज की वैज्ञानिक खोजों ने मानवजाति पर बहुत बड़ा उपकार किया है और यह संभावना व्यक्त की है कि यदि आदमी मस्तिष्क को विकसित करे तो सर्वज्ञ बन सकता है, त्रिकालदर्शी बन सकता है। वह अतीत और भविष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जान सकता है, दूर, व्यवहित और सूक्ष्म को जान सकता है।

जब केन्द्रिय नाड़ी-संस्थान, सुषुम्नाशीर्ष, अनुमस्तिष्क और मस्तिष्क का दायां भाग सक्रिय हो जाता है तब सर्वज्ञ होने की, राग-द्वेष से मुक्त होने की तथा त्रिकालदर्शी बनने की संभावना बन जाती है। हम संभावना को स्वीकृति दें कि आदमी सर्वज्ञ बन सकता है, मुक्त हो सकता है, वीतराग हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव भावना

आस्रवों के बिना कर्मों का आकर्षण नहीं हो सकता और न कर्मों का एक विशेष संरचनात्मक रूप बन सकता है। हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं और एक विशेष प्रकार का उन्हें रूप देते हैं। ये दोनों काम भावचित्त के बिना या भावकर्म के बिना नहीं हो सकते, इसलिए हम भावचित्त पर, भावकर्म पर ज्यादा ध्यान देते हैं। राग-द्वेष का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्षण का या कर्म-बन्ध का क्षण है। हम साधना की दृष्टि से विचार करते हैं, तब इस बात से चिंतित न हों कि कर्म का बहुत आकर्षण होता है या हो रहा है। किन्तु जो राग-द्वेष का क्षण कर्म को आकृष्ट करता है उसके प्रति जागरूक हों। हम बहुत बार कहते हैं—जागरूक रहें, अप्रमत्त रहें। प्रश्न होता है कि किसके प्रति जागरूक रहें, किसके प्रति अप्रमत्त रहें ? हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष का क्षण हिंसा का क्षण है, चौर्य का क्षण है, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का क्षण है। जितने भी दोष हैं, उन सबका क्षण है राग-द्वेष का क्षण। राग-द्वेष का क्षण ही समूची कर्म-वर्गणाओं का क्षण है। इसलिए साधना के क्षेत्र में जागरूकता का अर्थ है—उस राग-द्वेष के क्षण के प्रति जागरूक रहना, जो कर्मों को आकर्षित करता है और अनेक आचरणों के माध्यम से करता है।

जागरूकता का अर्थ इतना ही नहीं है कि हम नींद न लें। श्रम करता है, वह पूर्ण जागरूक है, जागृत है। वह नींद कहां लेता है ? किन्तु साधना की दृष्टि से जागरूक रहने का अर्थ है—किसी भी क्षण में राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना।

भावकर्म द्रव्यकर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) भावकर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों की एक ऐसी सन्धि है कि दोनों एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करते हैं। दोनों एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति दे रहे हैं। दोनों में एक समझौता है। भावकर्म द्रव्यकर्मों को जिला रहे हैं और द्रव्यकर्म भावकर्मों को जिला रहे हैं। साधना में यही करना है कि हम इन दोनों की सन्धि को छिन्न-भिन्न कर सकें, तोड़ सकें या हम दोनों में एक ऐसा विभेद पैदा कर दें जिससे कि भावकर्म एक ओर हो जाए और द्रव्यकर्म एक ओर हो जाए। दोनों में ऐसी भेदवृत्ति जाग जाए, जिससे कि अनादिकाल से चली आ रही उनकी सन्धि में दरार पड़ जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा शरीर आस्रव है, दरवाजा है। दरवाजा खुला होता है, तब कुछ भी आ सकता है, आंधी भी आ सकती है, धूल भी आ सकती है और हवा भी आ सकती है। दरवाजा बन्द होता है तो कुछ भी नहीं आ सकता। हमारा शरीर एक दरवाजा है, आस्रव है। नौका पानी में तैर रही है। छेद हो गये। नौका में पानी भर गया, वह डूबने लगी। नौका क्यों डूबने लगी ? क्योंकि वह आस्रव हो गई, आस्रव-सहित हो गयी। छेद हुआ कि पानी आ गया और भारी हुई कि डूबने लगी। उस समय यदि कुशल कर्णधार होता है, कुशल नाविक होता है वह सबसे पहले उन छेदों को भर देता है। पानी आना बन्द हो जाता है और जो पानी भीतर आ गया है, उसे उलीचकर फेंक देता है। नौका तैरने लग जाती है।

यह शरीर नौका है। यह डूबने भी लगता है और तैरने भी लगता है। जब इसके सारे छिद्र खुल जाते हैं, आस्रव के मुख चौड़े हो जाते हैं, तो बाहर से इतना आता है, इतना आता है कि वह डूबने लग जाता है। यह डूबना नहीं है। यह डूबना उन आस्रवों और छिद्रों का डूबना है और वे साथ-साथ नौका को भी डूबा देते हैं। इन शरीर के छिद्रों को ढकना, आस्रवों को अनास्रव करना, छेदों को बन्द करना, यह हमारी साधना की प्रक्रिया है।

जैन साधक अशौच भावना के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास करते थे। महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी ने मेघकुमार से कहा--तुम प्रव्रजित नहीं हो सकते। मेघकुमार ने उत्तर दिया--क्या मैं इस शरीर के आधार पर यहां बना रहूं। मेरे शरीर की स्थिति क्या है ? यह पित्त का आस्रव है, शुक्र का आस्रव है, श्लेष्म का आस्रव है, दुनिया भर में जितने अशुद्ध पदार्थ होते हैं, उनका आस्रव है। एक दिन नष्ट हो जाने वाला है। क्या इस शरीर के आधार पर मैं अपनी शाश्वत की साधना को ठुकरा दूं ?

एत्थोवरए तं जोसमाणे अयं संधि ति अदक्खु।

इस अर्हत् शासन में स्थित साधक शरीर को संयत कर यह कर्म-विवर (आस्रव) है, ऐसा देखकर आस्रव को क्षीण करता हुआ प्रमाद न करे।

संधि समुप्पेहमाणस्स एगायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स.....

जो कर्म-विवर (आस्रव) को देखता है, वीतराग में लीन है, शरीर आदि के ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नहीं है। जन्म, जरा, रोग और मृत्यु--ये चार दुःख के मार्ग हैं। विरत के लिए ये मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावाद : आस्रव

जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव का अस्तित्व स्वतंत्र है। वह न किसी के द्वारा निर्मित है और न संचालित। वह अनिर्मित है और अपने ही परिणामों से संचालित है। उसमें दो प्रकार के पर्याय होते हैं—स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक पर्याय निमित्त निरपेक्ष होते हैं। उससे जीव का अस्तित्व बना रहता है। नैमित्तिक पर्याय निमित्तों के आधार पर होते हैं। उससे जीव नाना रूपों में बदलता रहता है। निमित्त दो प्रकार के होते हैं—आंतरिक और बाह्य। राग और द्वेष—ये दो आंतरिक निमित्त हैं। जीव के असंख्य-प्रदेश (अविभागी अवयव) होते हैं। ये सब चैतन्य स्वरूप हैं। वे चैतन्यमय होने के कारण प्रभास्वर और निर्मल होते हैं। राग और द्वेष जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ मिश्रित हैं। स्वभाव से प्रभास्वर और निर्मल चैतन्य उसके योग से आवृत और मलिन रहता है। इस योग (चैतन्य और राग-द्वेष) का आदि-बिन्दु ज्ञात नहीं है। इसलिए यह संबन्ध अनादि माना जाता है। शरीरधारी जीव की परिणाम-धारा राग-द्वेष से युक्त होती है। राग-द्वेष युक्त परिणाम नए-नए पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित करता रहता है। जीव की परिणाम-धारा कर्म-परमाणुओं के आकर्षण का हेतु बनती है। इसलिए उसे आस्रव कहा जाता है। कर्म-परमाणु को आकर्षित करने की क्रिया को भी आस्रव कहा जाता है। पुद्गल-परमाणुओं के आकर्षण का योग शारीरिक प्रवृत्ति से होता है। बाहरी पुद्गलों को आकर्षित करने वाले घटना के रूप में काययोग आस्रव बनता है। सभी कर्म-परमाणु काययोग के द्वारा ही आकर्षित होते हैं। जैसे तालाब में नाले से जल आता है वैसे ही काययोग के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर जीव-प्रदेश के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जैसे गीले कपड़े पर वायु द्वारा लाए हुए रजकण चिपकते हैं, वैसे ही राग-द्वेष से गीले बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाए हुए कर्म परमाणु चिपकते हैं। जैसे तपा हुआ लोहपिण्ड जलकणों को आत्मसात् कर लेता है वैसे ही कषाय से उत्तप्त जीव परमाणुओं को आत्मसात् कर लेता है।

आस्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यात्व

ज्ञान के आवृत्त होने पर मनुष्य जान नहीं पाता। नहीं जानना अज्ञान है। दृष्टि मूढ़ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता, विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है। इस अवस्था में इन्द्रिय-विषयों के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है, क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते हैं, मानसिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थियां बनती रहती हैं। वे जीवनभर खुलती नहीं। व्यवहार में क्रूरता अधिक रहती है। मिथ्यात्वी मनुष्य दुःखद विषयों को सुखद मानता है और अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानकर चलता है। उसमें असत्य का आग्रह होता है। वह पदार्थ को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमें तीव्रतम मूर्च्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता में उसे कोई विश्वास नहीं होता।

अविरति

मनुष्य में एक आकांक्षा की वृत्ति होती है। उसके कारण वह पदार्थ में अनुरक्त होता है। उसे वह प्राप्त करना और भोगना चाहता है। उस वृत्ति के अस्तित्व में वह पदार्थ से विरत नहीं होता। इसलिए उस वृत्ति का नाम अविरति है। इस अवस्था में मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती रहती है। पदार्थ और धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणामों को जान लेने पर भी वह उन्हें छोड़ नहीं सकता। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता रहता है। जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय भी मन को विचलित करता रहता है। सामाजिक जीवन में पारस्परिक टकरावों, संघर्षों और छीनाझपटी का कारण यह अविरति की मनोदशा ही है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति। इससे आत्मा की, चैतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था में मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षित हो जाता है, शांत बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ फिर उभर आते हैं, जागरूकता समाप्त हो जाती है, करणीय और अकरणीय का बोध धुंधला हो जाता है।

प्रमाद का दूसरा अर्थ है—अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था में संयम और क्षमा आदि धर्मों के प्रति मन में अनुत्साह आ जाता है, सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है। इससे आध्यात्मिक अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति बनी रहती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा में जो आकर्षण होता है वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा में नहीं होता।

कषाय

राग और द्वेष ये दो मूल दोष हैं। राग, माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष, क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को जन्म देता है। ये चारों क्रोध, मान, माया और लोभ—चित्त को रंगीन बना देते हैं, इसलिए इन्हें कषाय कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद–ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। तीव्रतम कषाय के उदयकाल में सम्यग् दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। तीव्रतर कषाय के उदयकाल में आंशिक विरति भी नहीं होती। तीव्र कषाय के उदयकाल में पूर्ण विरति नहीं होती। मन्द कषाय के उदयकाल में वीतरागता उपलब्ध नहीं होती। चारों कषायों के तीव्रता और मन्दता के आधार पर सोलह प्रकार बनते हैं।

१. तीव्रतम क्रोध–पत्थर की रेखा के समान। (स्थिरतम)
२. तीव्रतम क्रोध–मिट्टी की रेखा के समान। (स्थिरतर)
३. तीव्रतम क्रोध–धूली की रेखा के समान। (स्थिर)
४. मंद क्रोध–जल की रेखा के समान। (अस्थिर, तात्कालिक)
५. तीव्रतम मान–पत्थर के खम्भे के समान। (दृढ़तम)
६. तीव्रतर मान–हाड़ के खंभे के समान। (दृढ़तर)
७. तीव्र मान–काष्ठ के खंभे के समान। (दृढ़)
८. मंद मान–लता के खंभे के समान। (लचीला)
९. तीव्रतम माया–बांस की जड़ के समान। (वक्रतम)
१०. तीव्रतर माया–मेंढ़े के सींग के समान। (वक्रतर)
११. तीव्र माया–चलते बैल की मूत्रधारा के समान। (वक्र)
१२. मंद माया–छिलते बांस की छाल के समान। (स्वल्प वक्र)
१३. तीव्रतम लोभ–कृमि रेशम के समान। (गाढ़तम रंग)
१४. तीव्रतम लोभ–कीचड़ के समान। (गाढ़तर रंग)
१५. तीव्रलोभ–खंजन के समान। (गाढ़ रंग)
१६. मंदलोभ–हल्दी के समान। (तत्काल उड़ने वाला रंग)

कषाय चार हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। तीव्रतम कषाय को अनंतानुबन्धी, तीव्रतर कषाय को अप्रत्याख्यानी, तीव्र कषाय को प्रत्याख्यानी और मंद कषाय को संज्वलन कहा जाता है।

इन कषायों को उत्तेजित करने वाले तत्त्वों को 'नो-कषाय' कहा जाता है। यहां 'नो' का अर्थ है–ईषद्, थोड़ा। 'नो कषाय' नौ हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगुंछा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद–इन तीनों आस्रवों के समाप्त हो जाने पर भी कषाय आस्रव से कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है। कषाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग से पुण्य कर्म का बन्ध होता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के साधन हैं—शरीर, वचन और मन। ये तीनों योग कहलाते हैं। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति, चंचलता।

सुख दुःख के हेतु

चार आस्रवों से चैतन्य मूर्च्छित होता है। इसलिए वे दुःख के हेतु बनते हैं। योग अपने आप में दुःख और सुख का हेतु नहीं है। यह मिथ्यात्व आदि चार आस्रवों में प्रवृत्त होता है तब दुःख का हेतु बन जाता है। इसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आस्रवण (आगमन) होता है, वह आस्रव है। कर्म परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ चिपके रहते हैं, वह बन्ध है। कर्म-परमाणु बन्धन के बाद अपनी स्थिति के अनुपात से सत्ताकाल में रहते हैं, फिर विपाक को प्राप्त कर, उदय में आकर, निर्जीर्ण हो जाते हैं। कर्म के उदयकाल में प्राणी को दुःख या सुख का अनुभव होता है। अध्यात्म की भाषा में आस्रव दुःख या सुख का हेतु है। कर्म के उदय से होने वाली अनुभूति दुःख या सुख है। आस्रव का निरोध होने पर दुःख और सुख—दोनों के द्वार बन्द हो जाते हैं। उस स्थिति में आत्मिक सुख का अनुभव होता है। जब तक आस्रव की क्रिया और चंचलता रहती है तब तक मनुष्य दुःख और पौद्गलिक सुख की अनुभूति के चक्र में जीता है। उसे सहज सुख का अनुभव नहीं होता। प्रत्येक जीव में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति होती है। किंतु आस्रव के कारण यह अनन्त चतुष्टयी प्रगट नहीं हो पाती। इसके अस्तित्व-काल में ज्ञान-दर्शन आवृत, सुख विकृत और शक्ति सुप्त रहती है। जीव में जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नहीं है। वह सारी-की-सारी आस्रव-जनित है। इसके आधार पर ही जीव के दो विभाग बनते हैं—बद्ध और मुक्त। आस्रव युक्त जीव बद्ध और आस्रव रहित जीव मुक्त होता है। जब तक आस्रव-जनित वृत्तियां और कर्म रहते हैं तब तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष भावना या ध्यान-साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है। संक्षेप में जैन दर्शन का सार यह है—आस्रव दुःख का हेतु है और संवर सहज सुख का।

कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और संश्लेष की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या है ? ये दोनों प्रवृत्तियां दो आस्रवों के द्वारा होती हैं। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कषाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव—ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संश्लेष होता है। चंचलता स्पष्ट है, कषाय उतना स्पष्ट नहीं है। चंचलता स्पष्ट दीखती है, कषाय भीतर छिपा रहता है वह दिखाई नहीं देता। हमें गूढ़ में जाना होगा। हमें कहीं-कहीं रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा।

मानसशास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है—अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। कामशक्ति जब आगे की ओर बढ़ती है, व्यक्ति बहिर्वृत्ति हो जाता है। बाहर की ओर दौड़ने लग जाता है। जब कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, डिप्रेशन होता है तो व्यक्ति भीतर में सिमट जाता है। उसकी बाहरी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। ठीक हम इसी कर्मशास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें कि अविरति जब तीव्र होती है तब पुरुष बाहर की ओर भागता है। उसकी आकांक्षा इतनी बढ़ जाती है कि बस सारे संसार को अपनी मुट्ठी में बन्द करने का प्रयत्न करता है और सब कुछ बाहर ही बाहर देखता है। उसे सब कुछ बाहर-ही-बाहर दीखता है। जब यह अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जब भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकांक्षाएं कम होती हैं, चंचलता अपने आप कम हो जाती है। एक संस्कृत कवि ने कहा—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्।।

आशा नाम की एक सांकल है। यह अद्भुत सांकल है। लोहे की सांकल से आदमी को बांध दो, वह चल नहीं पाएगा। सांकल को खोल दो, वह चलने लग जाएगा। किन्तु आशारूपी सांकल से आदमी को बांध दो, वह दौड़ने लग जाएगा। सांकल को खोल दो, वह पंगु की तरह बैठ जाएगा। कितनी उल्टी बात है ! एक सांकल वह है, जिसमें बन्धा आदमी चल नहीं सकता, सांकल से मुक्त होते ही वह दौड़ने लग जाता है। एक सांकल वह है जिसमें बन्धा आदमी दौड़ने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नहीं चल पाता। कितनी अद्भुत बात है !

चंचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है जिसे हम अभी तक बुझा नहीं पाये। इतना भोगकर भी बुझा नहीं पाए। चंचलता का यही बड़ा स्रोत है। एक प्रश्न होता है कि जब हम इतना जान गए कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी बुझा नहीं पाते। यह क्यों ? आदमी जान ले, फिर क्यों नहीं बुझा पाये ? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नहीं पाया है। इसका कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—मिथ्या दृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा बना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है उससे दूर भागते हैं और जिससे प्यास भभकती है उसे इसलिए पी रहे हैं कि प्यास बुझ जाए।

खतरनाक वस्तु में विश्वास करना और खतरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कब होता है ? यह तब होता है जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, मोह प्रबल हो, जब राग-द्वेष की प्रबलता होती है, कषाय की प्रबलता होती है, तब ऐसा होता है। जब तक मिथ्यादृष्टि दूर नहीं होगी तब तक हम समझ नहीं पायेंगे।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में महावीर से पूछा गया—भन्ते ! कर्म का बंध कैसे होता है ? उसकी प्रक्रिया क्या है ?

भगवान् ने कहा—जब ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था में होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जब जानने पर आवरण आता है, तब देखने पर भी आवरण आ जाता है। दर्शन का आवरण होता है, तब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है। जब दर्शनमोह का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व में नित्य को अनित्य, सुख को दुःख, अनित्य को नित्य और दुःख को सुख मानने की बात घटित होती है। तब व्यक्ति जो दुःख के साधन हैं, उन्हें सुख के साधन तथा जो सुख के साधन हैं, उन्हें दुःख के साधन मानने लग जाता है। तब प्यास को बुझाने वाले साधनों को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनों को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जब तक यह मिथ्यात्व का बन्धन नहीं टूटता, तब तक कर्म का चक्र टूट नहीं सकता। इसे तोड़ा नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवर भावना

भेदविज्ञानतो सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतः बद्धाः, बद्धा ये किल केचन।।

इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं जिनमें भेदविज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की भिन्न सत्ता अनुभव में आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म बंधन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना और चेतना के वलयों की एकता की अनुभूति होती है, उनका बन्धन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नहीं हो सकता है। हमारी कषाय आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ पुद्गल एकरस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति के क्षण कर्म शरीर की विद्यमानता में 'संवर'--कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध को रोकने वाला और उस (कर्म-शरीर) के अभाव में आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आस्रव है। वह कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है। यहां जातीय सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कषाय चेतन की परिणतियां पुद्गल मिश्रित हैं। पुद्गल पुद्गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाये तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक-से-अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें, जहां कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति।

प्रत्याख्यान से संयम की चेतना जागृत हो जाती है। संयम की चेतना से अपने आप में लीन रहने की बात प्राप्त हो जाती है। मन भीतर की खूंटी से बंध जाता है। मन चैतन्य के शांत सागर में डुबकियां लगाने लग जाता है। मन ज्योतिपुंज के प्रकाश में इतना आकर्षण देखता है कि अब वह बाहर के अंधेरे में जाना पसन्द नहीं करता, भीतर ही रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में एक भीषण संघर्ष खड़ा हो जाता है। भीतर के आस्रव, भीतर की वृत्तियां,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर के आवेग संघर्षरत हो जाते हैं। प्रमाद और विषय-कषाय अपना काम शुरू कर देते हैं। मूर्च्छा भी सक्रिय हो जाती है। राग-द्वेष—ये दोनों अपनी रक्षापंक्तियां मजबूत करने लग जाते हैं। भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। यह युद्ध साधक के लिए एक अवसर है। आचारांग में कहा है—'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं' युद्ध का यह अवसर बहुत ही दुर्लभ है। साधक को जमकर मोर्चा लेना है। एक ओर से राग-द्वेष आक्रमण करते हैं, दूसरी ओर से उनके सैनिक—उत्तेजना, प्रमाद, कषाय आक्रमण करते हैं। साधक उन सबको तोड़कर ही आगे बढ़ सकता है। वह उन्हें समाप्त करके ही अस्तित्व तक पहुंच सकता है। जब साधक वहां तक पहुंच जाता है, तब उसे लगता है क्यों श्वास को देखें, क्यों शरीर के चैतन्य केन्द्र को देखें, क्यों अनशन करें, क्यों ऊनोदरी करें, क्यों संयम करें—यह सारा झंझट है। सीधा रास्ता है कि ज्ञाता द्रष्टाभाव को ही देखें, उसे ही देखते रहें। पहुंच जाने वाले को लगता है कि यह रास्ता सीधा है, किन्तु जो अभी तक नहीं पहुंचा है उसे यह रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा और कठिन लगता है। उसे पग-पग पर जूझना पड़ता है। सारे आक्रमण एक साथ होते हैं। उन आक्रमणों को विफल किए बिना एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। साधना के प्रारम्भ में इसका अनुभव नहीं होता। किन्तु जब साधक दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ता है और उन सभी आस्रवों तथा वृत्तियों पर प्रहार करना प्रारम्भ करता है, उनके स्थायी आस्रवों को छुड़ाने का प्रयास करता है, तब वे क्रुद्ध सांप की भांति फुफकारने लगते हैं। सांप बाम्बी में शांत बैठा है। हम पास से गुजर जाते हैं तो सांप नहीं फुफकारता। उसे थोड़ा-सा भी छेड़ें, वह क्रुद्ध होकर डसने दौड़ता है। यही बात आस्रवों और वृत्तियों की है। इनका अनादिकालीन स्थायी स्थान छुड़ाना सरल नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक आगे बढ़ता है, वृत्तियां और तीव्र होती हैं। जब साधक साधना के मध्य में पहुंचता है तब वे जमी हुई वासनाएं और उत्तेजनाएं, इतने तीव्ररूप में उभरती हैं कि साधक विचलित होने की स्थिति में आ जाता है। यदि उस समय उसे कोई सहायक नहीं मिलता है तो वह साधना से च्युत हो जाता है। उस समय योग्य गुरु या योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। वह समय खतरनाक होता है। उस समय जो वृत्तियां उभरती हैं, उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। अनोखी-अनोखी वृत्तियां उभरती हैं। साधकों का यही अनुभव है कि साधना के मध्यकाल में वृत्तियां तीव्र होती हैं। उस समय उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत गया, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा—**खणं जाणाहि पंडिए।** साधक, तुम क्षण को जानो। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं और वासनाएं होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष-युक्त चित्त का निर्माण करती है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण ही संवर है। राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बन्ध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी होकर, कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

भगवान् महावीर ने कहा—'इस क्षण को जानो।' वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भाव-क्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना लोक में उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है। यह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भावक्रिया स्वयं साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते हैं और चलते समय हमारी चेतना जागृत होती है, 'हम चल रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भाव-क्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठंडी या गर्म हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़े।

साधक चलते समय पांचों प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढ़ाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिंतन करे और न धर्म-चर्चा करे, मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, यह गमनयोग है।

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया बन जाती है, जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमें व्याप्त होती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए। इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बनती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय-संवर की प्रक्रिया

प्रश्न होता है—इन्द्रिय-संवर कैसे होता है ? क्या इन्द्रियों का संवर किया जा सकता है ? क्या जीभ पर कोई चीज रखे और वह अच्छी है या बुरी इस भाव से बचा जा सकता है ? क्या सामने रूप आने पर वह सुन्दर है या असुन्दर इससे बचा जा सकता है ?

हां, यह संभव है। जीभ पर चीज रखें तो यह पता लग सकता है कि वह मीठी है या कड़वी या तिक्त ? आगे की स्थिति में तो यह पता लगना भी बन्द हो जाता है। जीभ के ज्ञानांकुर अपना काम बन्द कर देते हैं, संवेदन केन्द्र भी अपना काम समाप्त कर देते है। यह संभव है, क्योंकि जब व्यक्ति संवेदना की भूमिका से ऊपर उठकर ज्ञान की भूमिका पर जाता है, चैतन्य के अनुभव में जाता है, तब संवेदना की भूमिका नीचे रह जाती है और ज्ञान की भूमिका ऊपर आ जाती है। यह सम्भव है। इसके उपाय का निर्देश करते हुए जयाचार्य ने लिखा है—'ते जित्या मन थिर करी' मन को स्थिर कर इन्द्रियों को जीता जा सकता है। हम लोग इन्द्रियों को जीतने का सीधा प्रयत्न करते हैं। सीधा इन्द्रियों को जीतना कभी संभव नहीं होता। आंख को जीतना, कान को जीतना, जीभ को जीतना कभी सम्भव नहीं है। वास्तव में उनको जीतना ही नहीं है। वे लड़ती ही नहीं हैं।

इन्द्रियां हमारी ज्ञानधारा हैं। उनके साथ लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। मन के साथ लड़ना आवश्यक है। जिसने मन को समझ लिया, वह इन्द्रियों के साथ आने वाली मूर्च्छा को समाप्त कर देता है। प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष, मूर्च्छा—ये सब मन के साथ आती हैं। ये इन्द्रियों की ज्ञानधारा में मिलती हैं। हम उस मूर्च्छा को समझें, मोह को समझें। वास्तव में उसे ही समझना है। उसको समझ लेने पर तटस्थता आ सकती है। इन्द्रियों के संवर से पहले आवश्यक है मन का संवर। मन का संवर होने पर इन्द्रियों का संवर अपने आप हो जाता है। जिस व्यक्ति का मन शांत है, जिसका चित्त शांत है, जिसकी बुद्धि शांत है, उसके समक्ष रूप आए तो वह रूप रूप होगा, ज्ञेय होगा किन्तु विकार नहीं होगा। ज्ञेय और विकार के बीच बहुत सूक्ष्म भेद रेखा है। दोनों को अलग समझना चाहिए। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये ज्ञेय हैं। जानने योग्य हैं।

समस्या का हल : समाधि

इन्द्रिय और मन की परिधि में जीने वाले लोग हजारों-हजारों प्रकार की समस्याएं भोगते हैं। ये समस्याएं सरकार नहीं सुलझा सकती। अनाज की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्या, मकान या कपड़े की समस्या को सरकार सुलझाने में सक्षम होती है। किन्तु मन और इन्द्रियों की समस्या को कोई नहीं सुलझा पाता। इन समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है केवल व्यक्ति की अपनी समाधि। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

समस्या का अर्थ है—आस्रव और समाधि का अर्थ है—संवर। समस्या का अर्थ है मूर्च्छा और समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। एक बात है, यदि मूर्च्छा नहीं होती तो आदमी दुनिया में जी नहीं पाता। हर व्यक्ति मूर्च्छा से जुड़ा हुआ है, इसलिए वह जी रहा है। हमारे शरीर की एक व्यवस्था है। शरीर में जब तक कष्टों को झेलने की क्षमता होती है तब तक वह जागृत रहता है। जब कष्ट अधिक बढ़ जाता है, शरीर उसे झेलने में असमर्थ होता है तब आदमी मूर्च्छित हो जाता है। जब भयंकर बीमारी, अवसाद और कष्ट होता है तब आदमी तत्काल मूर्च्छा में चला जाता है। यह प्रकृति की अपनी व्यवस्था है कि जागृत रहकर आदमी उतने कष्ट झेल नहीं सकता, इसलिए उसे मूर्च्छित कर दो। या तो शरीर उसे स्वयं मूर्च्छित कर देता है या फिर डॉक्टर उसे बाहरी साधनों से मूर्च्छित कर देता है।

मूर्च्छा असमाधि है, समस्या है। चैतन्य का अनुभव समाधि है। सोना समस्या है और जागना समाधि। हम सोते हैं, यह सबसे बड़ी समस्या है। हम जागते हैं, यह समाधि है। चैतन्य का अनुभव समाधि है। जागरण समाधि है, संवर समाधि है।

संयम

हमारे भीतर शक्ति का अनंत कोष है। उस शक्ति का बहुत बड़ा भाग ढका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता में है और कुछ भाग उपयोग में आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हों तो सत्ता में रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते हैं।

शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मांगें होती हैं। हम उन मांगों को पूरा करते चले जाते हैं। फलतः हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है—मन की मांग का अस्वीकार। मन की मांग के अस्वीकार का अर्थ है—संकल्प-शक्ति का विकास। यही संयम है। जिसका निश्चय (संकल्प या संयम) दृढ़ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन ला देते हैं, किन्तु मन का संकल्प उन सबसे बड़ा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है उतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य निमित्तों से नहीं हो सकता। जो अपने निश्चय में एकनिष्ठ होते हैं, वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते हैं। गौतम ने पूछा–'भन्ते! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?' भगवान् ने कहा–'संयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। संयम का फल अनास्रव है। जिसमें संयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमें विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नहीं होता। कहा है, सब काम ठीक समय पर करो। यदि हम नौ बजे ध्यान करते हैं और प्रतिदिन उस समय ही ध्यान करते हैं, मन की अन्य किसी मांग को स्वीकार नहीं करते तो हमारी संयम शक्ति प्रबल हो जायेगी।

संयम एक प्रकार का कुम्भक है। कुम्भक में जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही संयम में इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा–सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, बीमारी, गाली, मारपीट–इन सब घटनाओं को सहन करो। यह उपदेश नहीं है। यह संयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है। तब मन की मांग होती है कि गर्म कपड़ों का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है तब मन ठंडे द्रव्यों की मांग करता है। संयम का प्रयोग करने वाला उस मांग की उपेक्षा करता है। वह मन की मांग को जान लेता है, देख लेता है पर उसे पूरा नहीं करता। ऐसा करते-करते मन मांग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। हम पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें, अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग विचलित नहीं करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन, वचन और शरीर का संयम अपने आप सध जाता है। भगवान् ने कहा–

विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति।

इन्द्रिय-विषयों का परित्याग का निष्क्रमण करने वाला महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर जानता, देखता है।

संयम की निष्पत्ति-संवर

संयम के सधते ही संवर प्राप्त हो जाता है। संयम हमारी साधना है और संवर उसकी निष्पत्ति है। किसी विजातीय तत्त्व का बाहर से न आना संवर है। जब संयम की साधना होती है तब बाहर से आना अपने आप बन्द हो जाता है। जब संवर सधता है तब तप की चेतना शुरू हो जाती है। एक आंदोलन प्रारम्भ हो जाता है। जब तक बाहर से रसद पहुंच रहा था तब तक बहुत बड़ी शक्ति मिल रही थी। बाहर सारा रसद बन्द हो गया, अब जो भीतर है, उसमें बड़ा आन्दोलन होने लग जाएगा। तप की प्रक्रिया एक साधना है। निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। निर्जरा कोई साधना नहीं है, संवर कोई साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। ये दोनों निष्पत्तियां हैं। संयम की निष्पत्ति है संवर और तप की निष्पत्ति है निर्जरा। जब बाहर से आना बंद हो जाता है और जो भीतर है वह बाहर भागने लगता है, भीतर रहना कठिन होता है, उस समय अकर्म की स्थिति प्राप्त होती है। हमारी चंचलताएं समाप्त हो जाती हैं। हमारी प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। सहज ही स्थिरता प्राप्त होती है, अकर्म की अवस्था उपलब्ध होती है। अकर्म की स्थिति प्राप्त होने के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। तब ज्ञाता और द्रष्टाभाव स्थिर हो जाता है। जिस ज्ञाता और द्रष्टाभाव के लिए यात्रा प्रारम्भ की थी, वह यात्रा सम्पन्न हो जाती है। यह हमारी यात्रा की मंजिल है। इसमें हमारा स्वरूप प्रकट हो जाता है। हमारा स्वरूप है—सिद्ध, बुद्ध और मुक्त।

कायगुप्ति का प्रयोग

हम कायोत्सर्ग करें, काया का विसर्जन करें, शरीर को त्याग दें, जीते हुए भी मृतवत् अनुभव करें और शरीर को बिलकुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट और प्रवृत्तिशून्य बनाएं। यह है कायगुप्ति, कायोत्सर्ग, काया का उत्सर्ग—बहुत बड़ी बात है काया को छोड़ देना। मरने के बाद हर आदमी शरीर छोड़ देता है या वह छूट जाता है, किन्तु जीते-जी शरीर को छोड़ देना बहुत बड़ी साधना है। भगवान् से पूछा—**कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**' भगवन्! कायगुप्ति का परिणाम क्या है ? भगवान् ने कहा—'**कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ**'-कायगुप्ति के द्वारा संवर होता है।

दो शब्द हैं—आस्रव और संवर। आस्रव वह है जिसके द्वारा दोष हमारे भीतर प्रवेश करते हैं। हमारी आत्मा में दोष नहीं है। हमारी चेतना में कोई गंदगी नहीं है। वह शुद्ध है, निर्मल है, स्वच्छ है। किन्तु जैसे हर मकान के साथ दरवाजे होते हैं, खिड़कियां होती हैं, वैसे ही चेतना भी इससे मुक्त नहीं है। उसके साथ भी कुछ दरवाजे जुड़े हुए हैं, कुछ जुड़ी हुई हैं खिड़कियां। उसको हम आस्रव कहते हैं। आस्रव अर्थात् छिद्र। इनके द्वारा बाहर से तत्त्व आते हैं और हम उनसे भर जाते हैं। वे विजातीय तत्त्व हैं, पराए हैं। जो अपना होता है, उससे कोई खतरा नहीं होता। पराये से खतरे की सम्भावना बनी रहती है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम ऐसा उपाय करें कि आस्रव न रहें। ये खिड़कियां खुली न रहें, ये दरवाजे खुले न रहें, ये नाले खुले न रहें, ये छेद खुले न रहें। ये सारे गुप्त हो जाएं। सुरक्षित हो जायें। संस्कृत में गुपू रक्षणे धातु है। गुप्त का अर्थ है—संरक्षण। कायगुप्ति का अर्थ है—काया की सुरक्षा। हम काया से इतने सुरक्षित हो गए कि भीतर किसी के लिए अवकाश नहीं है। बाहर से कोई आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकता। केवल हम हैं, हमारी चेतना है, इसके सिवाय भीतर कुछ भी नहीं है। इस प्रक्रिया का नाम है संवर।

साधना का चरम शिखर : अयोग

आवेग चैतन्य का स्वभाव नहीं है। यह चैतन्य के साथ उत्पन्न मूढ़ता है। यह मोह है, विकृति है, किन्तु स्वभाव नहीं है। इसीलिए यह सम्भावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है जो आकर जुड़ गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनों में महत्त्वपूर्ण साधन है—चैतन्य का अनुभव, संवर—शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव में होते हैं तब संवर की स्थिति होती है, हमारा संवर होता है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नहीं सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है, तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नहीं सकता।

हमारी साधना का सूत्र है—चैतन्य का सतत अनुभव। जब चैतन्य के अनुभव की स्थिति निरन्तर बनी रहती है तब हमारा संवर पुष्ट होता रहता है। संवर के आते ही द्वार बन्द हो जाएगा। चैतन्य का अनुभव होते ही सब द्वार बन्द हो जाएंगे। कोई द्वार खुला नहीं रहेगा। उस समय न आवेग आ सकता है, न उत्तेजना आ सकती है और न वासना आ सकती है। कुछ भी नहीं आ सकता। सब विच्छिन्न हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है—'अयोग'। वहां सब योग समाप्त हो जाते हैं। यह 'अयोग' शब्द बड़ा जटिल है। सभी आचार्यों ने शब्द चुना—'योग'। उन्होंने कहा योग की साधना करो। भगवान् महावीर ने कहा—'नहीं, अयोग की साधना करो। योगों को समाप्त करो, सम्बन्धों को तोड़ो।' इससे क्या होगा? इससे सब कुछ घटित हो जाएगा। क्योंकि पाना कुछ भी नहीं है। बाहर से लेना कुछ भी नहीं है। हम सब अपने आप में परिपूर्ण हैं। बाहर जितनी वस्तुएं हैं, उन्हें छोड़ना ही हितकर है। अन्तिम शिखर है—अयोग। जब सम्यक्त्व का संवर हो जाता है, व्रत का संवर हो जाता है, अप्रमाद का संवर हो जाता है, अकषाय का संवर हो जाता है, तब अन्तिम शिखर आता है—अयोग संवर। जहां हमने सारे सम्बन्ध काट डाले, वहां अयोग हो जाता है। वहां पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। अयोग संवर के घटित होते ही जो पौद्गलिक सम्बन्ध आत्मा के साथ हैं, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते हैं। उस समय हमारा अस्तित्व उजागर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा भावना

विजातीय द्रव्य संचित होता है तब शरीर अस्वस्थ बनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वस्थ बन जाता है। बाहरी संचय का निर्जरण होने पर मानसिक चंचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते हैं। निर्जरा का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नहीं जानता, वह ध्यान का मर्म नहीं जान सकता।

भीतर का आक्रमण

आंखें बन्द कर लीं। मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया। 'सर्वेन्द्रिय संयम-मुद्रा' कर बाहर से संबंध विच्छेद कर डाला। अब बाहर से न शब्द आ रहा है, न रूप और रस आ रहा है। सब कुछ बन्द है। किन्तु मस्तिष्क में लाखों-करोड़ों, असंख्य शब्द, रूप, गंध कैद किए हुए हैं। हजारों-लाखों वर्षों से यह क्रम चल रहा है। बाहर से एक बार बन्द कर देते हैं। किन्तु जब ये भीतर मे संगृहीत शब्द, रूप उभरते हैं तब आदमी विस्मय से भर जाता है। जो व्यक्ति ध्यान से पूर्व स्थिर था, इतना चंचल नहीं था, वह एकाग्र होते ही इतना चंचल हो जाता है कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ध्यान दें—शब्द कहां से आ रहे हैं ? बाहर का दरवाजा बन्द है। बाहर से कोई प्रवेश नहीं कर पाता। जब कोई बाहर से प्रवेश करता था, तब भीतर का सोया पड़ा था। जब बाहर से कोई नहीं आ रहा है तो भीतर वाले को जागने का अवसर मिल जाता है। जब चेतन मन जागता है तब अवचेतन मन सोया रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है जब कोन्शियस माइण्ड काम करता है, तब सबकोन्शियस माइण्ड काम नहीं करता। स्थानांग सूत्र का कथन है—जब संयमी जागता है तब उसके शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—ये पांच सोए रहते हैं। जब संयमी सोता है तब ये पांचों जाग जाते हैं। जब चेतन मन जागता है तब भीतर का तंत्र सोया रहता है। जब हम इस चेतन को सुला देते हैं तब भीतरी मन जाग जाता है। जब बाहरी मन जागता रहता है तब भीतर का भंडार भरता जाता है और एक दिन ऐसा आ सकता है कि एक भीषण विस्फोट होता है और आदमी उसे झेल नहीं पाता। जब चेतन मन जागृत रहता है तब हमें ज्ञात होता है कि भीतर क्या-क्या है। जब तक सफाई का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक कुछ भी पता नहीं लगता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि है शोधन की प्रक्रिया

समाधि शोधन की प्रक्रिया है। जब वह प्रक्रिया चलती है तब शब्द जागते हैं, भावनाएं जागती हैं, ऐसे शब्द और ऐसी भावनाएं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो आदमी भला और सज्जन दिखाई देता रहा है, वह भी अचानक हिंसक और बेईमान हो जाता है। उसके मन में बुराई की भावना जागती है, हिंसा की बात उभरती है, आत्महत्या के विचार आते हैं, चोरी की भावना जागृत होती है। गृहस्थ में ही नहीं, साधु-संन्यासी में भी ऐसा परिवर्तन होता है। जब वह ध्यान की गहराइयों में जाता है तब संस्कार उभरते हैं और परिणाम स्वरूप ये सारी वृत्तियां जाग जाती हैं। स्वयं के मन में इन वृत्तियों के प्रति ग्लानि होती है। वह सोचता है—अरे, यह क्या ? मैंने कभी इन निम्न वृत्तियों को पोषण दिया ही नहीं, फिर ये क्यों उभर रही हैं ! ये वृत्तियां इसीलिए उभरती हैं कि उनके मूल-संस्कार चेतना की गहराई में दबे होते हैं। ध्यान से वे जब छेड़े जाते हैं तब विपरीत भावनाएं आती हैं और व्यक्ति को बदल देती हैं। केवल आंख बन्द कर लेने मात्र से, केवल प्रतिसंलीनता का अभ्यास कर लेने से या प्रियता या अप्रियता की भावना को साध लेने से समस्या का समाधान नहीं होता। समस्या का समाधान तब होता है जब भीतर में रहे हुए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भण्डार को रिक्त करना जान लें। जब यह रिक्त या रेचन करने की प्रक्रिया सीख ली जाती है तब वह भंडार खाली हो जाता है। यही निर्जरा की प्रक्रिया है।

निर्जरा : रेचन की प्रक्रिया

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास कोई रेचन का उपाय है ? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अहं को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है। यह सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धांत है। निर्जरा का अर्थ है—रेचन। जो भीतर संचित है उसको बाहर निकालना, यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना रेचन करना कि भीतर में जो संचित है, केवल वही समाप्त न हो जाएं, बल्कि संचित करने का तंत्र भी समाप्त हो जाए।

जब किसी पंछी की पांखें रजों से भर जाती हैं तब वह अपनी पांखों को प्रकंपित कर सारे रजकणों को झाड़ देता है। इसी प्रकार इतना प्रकंपन करो कि सारा दबाव समाप्त हो जाए, बाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया है। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही प्रक्रिया नहीं है, किन्तु क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति उपलब्ध होती है।

निर्जरा का मूल हेतु तपस्या है। तपस्या के द्वारा तीन बातें फलित होती हैं–

१. ऊर्जा का अधिक संचय।
२. ऊर्जा का अल्प व्यय।
३. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुंज के साथ साधक का सम्पर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूं'–इतनी-सी प्रतीत होती थी वह ज्योतिपुंज में मिल जाती है। और तब 'मैं हूं' बदल जाता है। केवल 'है' शेष रह जाता है 'मैं' की बात समाप्त हो जाती है। जो रश्मियां बिखरी पड़ी थीं, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर बाहर फैल रही थीं, वे सारी रश्मियां सिमटकर ज्योतिपुंज में लीन हो जाती हैं। उस समय ज्योतिपुंज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहां कौन ज्योतिपुंज और कौन मैं–यह भेद मिट जाता है। सब कुछ ज्योतिमय बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म भावना

भगवान् महावीर से पूछा गया–'धर्म की श्रद्धा से क्या होता है ? उसका परिणाम क्या होता ?' भगवान् ने कहा–'धर्म-श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।' जिन स्पंदनों के प्रति, पौद्गलिक स्पंदनों के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पंदनों का अनुभव होने लग जाता है।

धर्म भावना

धर्म का अर्थ है स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। धर्म को प्राण, द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। व्यक्ति जब धर्म को जान लेता है, उससे सम्यक् परिचित हो जाता है तब उसके लिए जो कुछ है वह सब धर्म ही है।

मेरी दृष्टि में धर्म की परिभाषा है–

* धर्म हमारे जीवन का वह आलोक है जो हमारी इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को आलोकित करता है, प्रकाश से भर देता है।
* धर्म वह है जो हमारे जीवन की अन्धकारमय संस्कारों की परतों को प्रकाशमय बनाता है।
* धर्म वह है जो इन्द्रियों को, बुद्धि को और मन को निर्मल बनाता है।
* धर्म वह है जो इन्द्रिय, बुद्धि और मन को शक्तिशाली बनाता है।

कोई भी व्यक्ति अंधकार की गुफा में नहीं रहना चाहता, कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं रहना चाहता तथा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति वीर्यहीन नहीं रहना चाहता। सब व्यक्ति प्रकाशी, ज्ञानी और वीर्यवान् बनना चाहते हैं।

अतीत का शोधन करना, अतीत के खजाने को खाली करना, यह है धर्म। यही है ध्यान का परिणाम या उद्देश्य। अतीत के परिणामों से बच जाना धर्म का उद्देश्य नहीं है। यह हो सकता है कि आज किसी व्यक्ति ने धर्म की आराधना प्रारम्भ की, वह अतीत के प्रति जागरूक बन गया, अतीत में जो भंडार भरा था, उसके प्रति इतना जागरूक हो गया कि वह उसे प्रभावित कर सकेगा। अतीत के संस्कारों के उदय में उसने एक रुकावट पैदा कर दी। धर्म की आराधना का अर्थ है वर्तमान में जागरूक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना। वर्तमान में जागरूक रहने वाला व्यक्ति एक प्रतिरक्षा पंक्ति खड़ी कर देता है और तब वह अतीत के संस्कारों के प्रभाव से बच जाता है। शरीर रोग से बचता है, वह दवाइयों से नहीं बचता। यह अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति से बचता है। हमारे शरीर में एक प्रतिरक्षा पंक्ति है, जो रोग के कीटाणुओं से लड़ती रहती है। पूरा शरीर रोग के कीटाणुओं से भरा पड़ा है। वे उसी में पल रहे हैं पुष्ट हो रहे हैं। फिर प्रश्न होता है कि आदमी स्वस्थ कैसे रह पाता है? शरीर में कीटाणु है, फिर भी हम स्वस्थ इसलिए रह पाते हैं कि शरीर में प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है। वह एण्टीबॉडी है। यह प्रति-शरीर रोग से बचाता है, कीटाणुओं को समाप्त करता है। उनके आक्रमण को विफल बना देता है। यदि यह प्रतिरोधात्मक शक्ति नहीं होती, यदि यह प्रति-शरीर की प्रक्रिया नहीं होती तो कभी आदमी बिस्तर को छोड़ ही नहीं सकता। हम ध्यान का प्रयोग करते हैं, धर्म की आराधना करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम संस्कार के सामने प्रति-संस्कार पैदा कर रहे हैं। जो कर्म का खजाना हमें प्रभावित करता है, जो संस्कार हमें प्रभावित कर रहे हैं, उनके समक्ष ऐसी प्रतिरोधात्मक पंक्ति खड़ी कर देते हैं कि हम संस्कारों के प्रहारों से बच जाते हैं। यह है धर्म का परिणाम और ध्यान का परिणाम। हम इस तथ्य को विस्मृत कर कह देते हैं कि धार्मिक के जीवन में वह विपत्ति क्यों आयी ? अरे, धार्मिक कौन-सा बड़ा आदमी है? ध्यान करने वाला कौन-सी तीसरी दुनिया से आया हुआ है ? आज धर्म करने वाला या ध्यान करने वाला भी अतीत से बंधा हुआ है। न जाने अतीत में उसने क्या-क्या किया था। अपराध का चित्त उसमें विद्यमान था। कितने लोगों के जीवन में उसने कितने प्रकार के विघ्न पैदा किए थे। बाधाएं डाली थीं। आज यदि उसके जीवन में विघ्न-बाधाएं आती हैं तो वह कहता है, मैं अच्छा काम करना चाहता था, पर विघ्न आ गया। अरे, तुम अपने अतीत को देखो। तुमने कितने विघ्न किये थे, कितनी अन्तराय पैदा की थी ? उन सबका परिणाम आज तुम्हें भुगतना पड़ रहा है।

आदमी अच्छे काम प्रारम्भ करता है तो हजारों विघ्न सामने आ खड़े हो जाते हैं। बुरे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले कम मिलेंगे। अच्छे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले एकत्रित हो जाएंगे। ऐसा होता है। यह संसार का क्रम है।

धार्मिक कौन ?

धर्मध्यान वस्तु-सत्यों को खोजने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है ? यह कोई धर्म-अधर्म का ध्यान नहीं है, किन्तु धर्मों का ध्यान है, वस्तु के पर्यायों का ध्यान है। इससे वस्तु के रहस्यों का उद्‌घाटन होता है। आज वैज्ञानिक जगत् में जो बहुत सारी खोजें हो रही हैं, उन खोजों के पीछे धर्म-ध्यान ही काम कर रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। खोजना कोई बुरी बात नहीं है। खोज चाहे एक वैज्ञानिक करे या एक अध्यात्मवेत्ता करे, साधक करे। खोज-खोज है। वह आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान नहीं है। शर्त इतनी है कि उस खोज के साथ राग-द्वेष की श्रृंखला है। किन्तु जहां शुद्ध सत्य की खोज है वहां केवल तत्त्व को खोजना है कि परमाणु क्या है ? इलेक्ट्रॉन क्या है ? प्रोटोन क्या है ? न्यूट्रॉन क्या है ? न्यूक्लियस क्या है ? यह सारी तत्त्व की खोज है। यह धर्म-ध्यान है। इस प्रकार मानसिक समस्याओं को खोजना, संकल्प शक्ति के प्रभाव को खोजना—ये सारी चीजें वैज्ञानिक कर रहे हैं। जो खोजें अध्यात्म के साधक को करनी चाहिए थीं वे सारी खोजें एक वैज्ञानिक कर रहा है। अध्यात्म-साधक इस ओर सुप्त है, उदासीन है। किन्तु वैज्ञानिक जागरूक है, प्रयत्नशील है। यह अध्यात्म जगत् को बहुत बड़ी चुनौती है। वैज्ञानिक निःस्पृह भाव से, राग-द्वेष रहित भाव से यह कार्य कर रहा है। सत्य की खोज कोई भी करे, वह सत्य तक पहुंचता है। हम क्यों नहीं मानें कि सत्य की खोज करने वाला, चाहे फिर वह वैज्ञानिक हो या साधक उस अंश में अध्यात्म का साथी है जिस अंश में वह राग-द्वेष से शून्य होकर सत्य की खोज में लगा रहता है। इस मर्म को समझना चाहिए और साधकों को सत्य की खोज में लग जाना चाहिए।

हम कैसे जान सकें कि व्यक्ति में धर्म-ध्यान का अवतरण हुआ है या नहीं ? कसौटी क्या है ? प्राचीन साधकों ने इसकी कसौटी भी बताई है। जब धर्म-ध्यान का अवतरण होता है तब व्यक्ति में अर्थ की खोज स्पष्ट हो जाती है। कोई समस्या सामने आयी, तत्त्व सामने आया और ऐसा लगे कि उसका समाधान लिखा हुआ-सा है, तो समझना चाहिए कि व्यक्ति में धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। वस्तु-सत्य की खोज करते-करते बहुत सारी बातें सहज ही प्रकट हो जाती हैं। एक बीज मिला और उसका सारा रहस्य प्राप्त हो जाएगा। एक वाक्य के आधार पर वह सारी बात समझ लेगा। पदानुसारिता, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि—ये सब धर्म-ध्यान करने वाले व्यक्ति के लक्षण हैं। धर्म-ध्यान की अनुभूति आंतरिक अधिक है और बाहरी कम। यह आंतरिक कसौटी है। व्यक्ति स्वयं इसका अनुभव कर सकता है कि उसमें धर्म-ध्यान उतर रहा है। उसका शील बदल जाता है। उसका स्वभाव बदल जाता है। उसमें मैत्री की भावना जाग उठती है। उसमें अहिंसा प्रस्फुटित होने लगती है। उसमें सत्य की प्रबल निष्ठा का उदय होता है। अचौर्य का विकास होता है। उसमें वासनाओं की विरति होती है। उसमें मध्यस्थभाव प्रकट होता है। उसकी मूर्च्छा घटती है। ये सब धर्म-ध्यान की आंतरिक कसौटियां हैं।

धर्म-ध्यान की बाहरी कसौटियां भी हैं। इससे शरीर की निश्चलता सधती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। बैठते ही शरीर निश्चल हो जाए तो समझना चाहिए कि धर्म-ध्यान उतर रहा है। जब हाथ, पैर, वाणी आदि का असंयम समाप्त हो जाता है तब मानना चाहिए कि धर्म-ध्यान का अवतरण हुआ है। ये दो बाहरी लक्षण हैं। तीसरा लक्षण है—श्वास की मंदता। श्वास तेज है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान में प्रवेश नहीं हुआ है। श्वास मंद है तो धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। यह कसौटी जैन आचार्यों की हीं नहीं है, हठ-योग की भी यह कसौटी है। श्वास इतना मन्द हो जाता है कि पता ही नहीं चलता कि वह चल रहा है। इस प्रकार श्वास की मंदता, वृत्तियों की स्थिरता, व्यवहार में उत्तेजित नहीं होना—ये सब कसौटियां हैं।

धर्म-ध्यान शुद्ध लेश्याओं के आलंबन से होता है। तैजस, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुद्ध लेश्याएं हैं। ये जितनी होती हैं, उतना ही धर्म-ध्यान होता है। इन लेश्याओं के अभाव में राग-द्वेष आ जाता है। धर्म-ध्यान धर्म-ध्यान नहीं रहता। तैजस लेश्या का काम है आनंद का अनुभव कराना, सुखासिका—इतनी सुखासिका कि पौद्गलिक जगत् में उसकी कोई तुलना नहीं है। एक वर्ष तक सम्यक् प्रकार से तेजोलेश्या की साधना करने वाला सर्वार्थसिद्ध के देवों के सुखों का अतिक्रमण कर देता है। पद्मलेश्या से शांति प्रकट होती है। मन की इतनी शांति, कषायों की इतनी शांति कि उसकी कोई सीमा नहीं रहती। शुक्ललेश्या से वीतरागता, कषायों की निर्मलता, मन की निर्मलता, चित्त की शुद्धि प्रकट होती है।

जो व्यक्ति आनंदित रहता है, निरन्तर आनंद का अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन में उतरा है। जीवन यदि शांति से ओतःप्रोत हो तो मानना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन में व्याप्त है। चित्त की निर्मलता हो, कोई प्रवंचना न हो, ठगाई न हो, आगे-पीछे कुछ ऐसा बर्ताव न हो तो धर्म-ध्यान का अवतरण समझ लेना चाहिए।

धर्म-ध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसके लक्षण, आलंबन और अनुप्रेक्षाओं से फलित होता है।

धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

एक बार स्वर्ण ने स्वर्णकार से कहा, 'तुम मुझे अग्नि में डालते हो, इसका मुझे दुःख नहीं। लोहे से मुझे पीटते हो, इसका भी मुझे दुःख नहीं। लेकिन दुःख इस बात का है कि तुम मुझे चिरमियों से तोलते हो।' ठीक यही वेदना समझदार व्यक्ति के मन में होती है। जब वह सुनता है कि धर्म अफीम की गोली है या निकम्मी चीज है। किन्तु मेरी यह मान्यता है कि व्यक्ति श्वास के बिना जी सकता है, (चाहे कुछ क्षण तक ही सही)। लेकिन धर्म के बिना दो क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।

दर्शन की भाषा में धर्म की परिभाषा है आत्मा की शुद्धि ही धर्म है। साहित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भाषा में धर्म की परिभाषा है—जिसके द्वारा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा में धर्म की परिभाषा है—समता।

समता धर्म है और विषमता अधर्म। यह एक कसौटी है। एक जमाना था अर्थवाद का। लोग किसी भी चीज को बढ़ा-चढ़ाकर कहते थे। जैसे अगर तुम क्रोध करोगे तो काले हो जाओगे या अमुक काम करोगे तो स्वर्ग में जाओगे आदि-आदि। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही। आज का बुद्धिवादी इन बातों पर विश्वास नहीं करेगा। लोकमान्य तिलक को पुस्तकों से बेहद प्यार था। उन्होंने एक बार कहा था, 'अगर मैं नरक में भी जाऊं और वहां मुझे पुस्तकें मिल जाएं तो मैं स्वर्ग की कामना नहीं करूंगा, वही मेरे लिए स्वर्ग बन जाएगा।' आज व्यक्ति नरक से डरता नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति बताये हैं—मंद, मध्यम और प्राज्ञ। तीनों को अलग-अलग तरीकों से समझाया जाए। मन्द व्यक्ति को कहें, अगर तुम बुरा करोगे, पाप करोगे तो नरक में जाओगे। मध्यम व्यक्ति को वस्तु-स्थिति समझायी जाए—यह काम बुरा है, ऐसा करने से तुम्हारा अहित होगा। प्राज्ञ व्यक्ति को तत्त्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता है। कौन-सा काम करने से किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वतः सही मार्ग अपना लेता है।

क्रोध का असर होता है हमारे मन, वचन और शरीर पर। साधारण व्यक्ति स्वयं इसका अनुमान नहीं लगा सकता, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि क्रोधी व्यक्ति का रक्त विषम बन जाता है। क्रोध में डूबी हुई माता द्वारा बच्चे को स्तन-पान कराने पर कभी-कभी बच्चे की मृत्यु हो जाने के उदाहरण भी सामने आये हैं। घृणा से आंतों में छाले हो जाते हैं, दस्त लगने लगते हैं। ईर्ष्या से घाव व मुंह में छाले हो जाते हैं। यहां तक कि नब्बे प्रतिशत बीमारियां मानसिक अशुद्धि की उपज है और दस प्रतिशत शारीरिक। आयुर्वेद का मत है कि क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या व भय आदि से मन्दाग्नि हो जाती है। जो रस बनता है वह कभी कम और कभी अधिक बनने लगता है, इसके कारण पाचन पर भयंकर प्रभाव पड़ता है। क्रोध, भय, लोभ आदि दुर्गुणों के कारण अनेक बार मृत्यु तक हो जाती है।

इन सब बुराइयों और दुर्गुणों का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाए, इसलिए हमें धर्म की ओर मुड़ना पड़ेगा। लेकिन केवल रूढ़ि निभाना ही धर्म नहीं है। सामायिक का अर्थ समझे बिना एक मुहूर्त्त तक मुख-वस्त्रिका मुंह पर बांध कर बैठे रहना ही सामायिक नहीं है। सामायिक का अर्थ है—समता। मनरूपी घोड़े पर लगाम लगाये बिना लड़ाई, निन्दा आदि विचारों व राग-द्वेष आदि भावों पर रोक लगाये बिना शुद्ध सामायिक का फल भी कहां से प्राप्त होगा ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का मूल तत्त्व है कषाय-मुक्ति। जो व्यक्ति कषाय से मुक्त होता है वही सही अर्थ में धार्मिक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीनभावन की मनोवृत्ति आदि अधर्म हैं। धर्म उनके मन में टिकता है, जो शक्तिशाली हैं पवित्र हैं, भय रहित हैं। अभय धर्म है, समता धर्म है, क्षमाशीलता धर्म है, दूसरे की उन्नति देखकर सबके विकास की इच्छा करना धर्म है, मित्रता की भावन का विकास करना धर्म है। क्रोध नहीं करना, ऋजुता, सरलता, सन्तोष धर्म है दुनिया में कौन समर्थन नहीं करेगा इस परिभाषा का ?

जैन नवकार मंत्र का पाठ करता है तो वैदिक गायत्री का। एक मुसलमान कुरान का पाठ करता है तो ईसाई बाइबिल का। यही भेद आ सकता है, लेकिन उपर्युक्त बातों के लिए किसी में अन्तर नहीं आएगा। ये बातें सम्प्रदायातीत हैं धर्म हमारे लिए शरण देने वाला है, किन्तु लोग आज धर्म का उपयोग करन नहीं जानते।

धर्म का विश्लेषण सही दृष्टिकोण से किया जाए तो निश्चित रूप से आपके स्वस्थ व सुखी जीवन बिताने का साधन मिल जाएगा।

त्याग की शक्ति का उत्स : धर्म की चेतना

धर्म की सबसे बड़ी शक्ति है—त्याग की शक्ति। दुनिया में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो त्याग की शक्ति पैदा कर सके। एक मात्र धर्म की चेतना से व्यक्ति में त्याग करने की क्षमता आती है। संसार के सारे शास्त्र भोग की बात सिखाते हैं, बटोरने की बात और इन्द्रियों के विषयों के सेवन की बात सिखाते हैं। एक मात्र धर्म की चेतना व्यक्ति को त्याग सिखाती है। वह कहती है—त्याग करो, विषयों का परित्याग करो। अनुपलब्ध को उपलब्ध करने का प्रयत्न मत करो। किन्तु आज मूल पर ही कुठाराघात हो चुका है। चरित्र की चेतना जब लुप्त हो जाती है, तब व्यक्ति के मन में यह विचार उठता है कि चरित्रवान् दुःख पाता है और चरित्रहीन सुख भोगता है। जब यही विचार दृढ़मूल बन जाता है तब उस व्यक्ति का, समाज का या राष्ट्र का चरित्र-पक्ष कभी उज्ज्वल नहीं रह सकता। वे कभी उन्नति के शिखर का स्पर्श नहीं कर सकते।

धर्म का एक मात्र उद्देश्य है—निर्जरा। उसका एकमात्र लक्ष्य है—पुराने संस्कारों को क्षीण करना। चैतन्य की उपलब्धि धर्म-साधना से ही संभव है। जो चैतन्य को उपलब्ध कराए, पुराने संस्कारों को मिटाए, भय को नष्ट करे, प्रलोभन से ऊपर उठाए, वही धर्म है, वही अध्यात्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक-संस्थान भावना

सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है, का चिन्तन करना लोक भावना है। जड़ और चेतन का यह आवासस्थल है। मनुष्य, पशु, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा (सिद्धि-स्थान)–ये सब लोक की सीमा के अन्तर्गत हैं। साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपने अन्तः स्थित चेतना (आत्मा) का ध्यान करे। यह सोचे–राग और द्वेष की उठने वाली तरंगों का यह परिणाम है। लोक-भावना का अभिप्राय है–इस वैविध्य और वैचित्र्य का सम्यग् अवलोकन कर स्वयं को सतत तटस्थ बनाए रखना।

यह लोक विविधताओं की रंगभूमि है। इसमें अनेक संस्थान और अनेक परिणमन हैं। उन सब में एकत्व या समत्व की अनुभूति कर घृणा, अभिमान और हीन भावना पर विजय पायी जा सकती है। समत्व की साधना के लिए इस भावना के अभ्यास का बहुत महत्त्व है।

बाहर से भीतर की ओर

भगवान् महावीर ने इसका उपाय बताते हुए कहा–एक कछुआ है। जब कोई कठिन स्थिति पैदा होती है, पक्षी उसे नोचने आते हैं, सियार आदि उसे खाने आते हैं, कोई असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है, भय उत्पन्न होता है, तब तत्काल वह अपनी खाल में चला जाता है। प्रकृति ने उसे ऐसी खाल भी दी है जो उसके लिए ढाल का काम करती है। प्राचीन काल में जब तलवारों और भालों से युद्ध होता था, तब योद्धा अपने हाथ में ढाल रखते थे। वह भी कछुए की खाल से ही बनती थी। कछुआ अपनी खाल के भीतर जाने के बाद सब प्रकार से सुरक्षित बन जाता था। क्या हमारे पास भी ऐसी कोई ढाल है जिसमें पहुंचकर हम पापों से बच सकें ? हमारे मन में वासना उभरती है। हमारे ऊपर वासना का आक्रमण होता है, क्रोध का आक्रमण होता है, आवेश का आक्रमण होता है। क्या कोई उपाय है इन आक्रमणों से बचने का? हां, है उपाय। भगवान् ने कहा–जैसे कछुआ बाहरी आक्रमण से बचने के लिए अपनी ढाल में चला जाता है, वैसे ही तुम अध्यात्म में चले जाओ। भीतर चले जाओ, अन्दर प्रवेश कर लो, सुरक्षित हो जाओगे। जब तक मन बाहर भटकता है तब तक वासनाएं उभरती हैं, आवेश उभरते हैं और जो स्थितियां चिन्ता, भय और दुःख उत्पन्न करने वाली हैं वे सारी उभरती हैं, उभर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती हैं। तुम भीतर चले जाओ, चेतना के जगत् में चले जाओ, चेतना का नैकट्य प्राप्त कर लो, सुरक्षित हो जाओगे, पूर्ण सुरक्षित। कोई खतरा नहीं कोई भय नहीं। यह ज्वलंत शक्ति है। इसका अनुभव किया जा सकता है।

कछुए की उपमा साधक के लिए गीता, बुद्ध वचन, महावीर वाणी आदि में सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। कछुआ भयभीत स्थान में तत्काल अपने अंगों को समेट कर सुरक्षित हो जाता है।

साधक के लिए कछुए की वृत्ति आवश्यक है। वह अपनी प्रवृत्तियों को सतत समेटे रखे। बाहर भय ही भय है। जहां भी अनुपयुक्त–प्रमत्त हुआ कि बंधा। मुक्ति के लिए अप्रमत्तता आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोधि-दुर्लभ भावना

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है और बोधि उससे अधिक दुर्लभ है। यहूदी सन्त मौनीज के मृत्यु की वेला सन्निकट थी। पुरोहित पास में खड़ा मन्त्र पढ़ रहा था। उसने कहा–'मूसा का स्मरण करो, यह अन्तिम क्षण है।' मौनीज ने आंखें खोली और कहा, 'हटो यहां से। मेरे सामने नाम मत लो मुसा का।' पुरोहित को आश्चर्य हुआ, सब देखते रह गए। यह कैसी बात ! पुरोहित ने कहा–'जीवन भर जिनका गीत गुनगुनाया, हजारों लोगों को सन्देश दिया और अब यह क्या कह रहे हो ? जिन्दगी की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिला रहे हो ?' मौनीज ने कहा, 'मैं जानता हूं। किन्तु अभी प्रश्न वैयक्तिक है। मूसा यह नहीं पूछेगा कि तुम मूसा क्यों नहीं हुए, वह पूछेगा कि तुम मौनीज क्यों नहीं हुए ?'

स्वयं का होना बोधि है। जीवन में सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नहीं पाई, उसने कुछ नहीं पाया और बोधि पाकर जिसने और कुछ नहीं पाया उसने सब कुछ पा लिया। मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है, खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नहीं है। संबोधि अपनी सम्पत्ति है, उसे खोजना है। अनेक-अनेक योनियों में जन्मे और मरे, किन्तु स्वयं के अस्तित्व को नहीं पहचाना। जन्म के पूर्व और मरने के बाद भी जिनका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज में निकलना बोधि भावना का अभिप्राय है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है–'भावनाओं में रमण करता हुआ साधक इसी जीवन में दिव्य मुक्तानन्द का स्पर्श कर लेता है। उसकी कषायाग्नि शांत हो जाती है, पर-द्रव्यों के प्रति जो आसक्ति है वह नष्ट हो जाती है, अज्ञान का उन्मूलन होता है और हृदय में बोध-प्रदीप प्रज्वलित हो जाता है।'

बोधि-सम्पन्नता

सम्यक्त्व या सही दृष्टिकोण की प्राप्ति बोधि-सम्पन्नता का पहला सोपान है। जो व्यक्ति सम्यक्त्व पा लेता है, वह साधना में अग्रसर होता हुआ बोधि से संपन्न हो जाता है।

सम्युगदृष्टि व्यक्ति के पांच लक्षण हैं–

१. आस्तिक्य–आत्मा, कर्म आदि में विश्वास।

२. शम–क्रोध आदि कषायों का उपशमन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. संवेग—मोक्ष के प्रति तीव्र अभिरुचि।
४. निर्वेद—वैराग्य। उनके तीन प्रकार हैं—संसार-वैराग्य, शरीर-वैराग्य और भोग-वैराग्य।
५. अनुकंपा—कृपा भाव, सर्वभूतमैत्री-आत्मोपम्य भाव। प्राणीमात्र के प्रति अनुकंपा।

अहिंसा दया का पर्यायवाची नाम है। पंचाध्यायी में इसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है। उसमें कहा है—'जो समग्र प्राणियों के प्रति अनुग्रह है, उस अनुकंपा को दया जानना चाहिए। मैत्रीभाव, मध्यस्थता, शल्य-वर्जन और वैर-वर्जन—ये अनुकम्पा के अंतर्गत हैं।' इससे दया का विशुद्ध स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। जिस दया में किसी का भी उत्पीड़न नहीं होता, वस्तुतः वही सच्ची अनुकम्पा है।

बोधि के प्रकार

बोधि के तीन प्रकार हैं—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चरित्रबोधि। सहजतया मनुष्य का आकर्षण ऐश्वर्य और सुख-सुविधा में होता है, किन्तु वे ही दुःख के हेतु बनते हैं, इस स्थिति को मनुष्य भुला देता है। प्रस्तुत भावना में मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस जगत् में दुर्लभ क्या है ? धन-सम्पदा और सुख-सुविधा वस्तुतः दुर्लभ नहीं है। दुर्लभ है मानसिक शांति। वह धन-सम्पदा और सुख-सुविधा से प्राप्त नहीं होती किंतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दृष्टिकोण और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होती है।

मन की शांति का हेतु बोधि है। कारण प्राप्त होने पर कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। बोधि प्राप्त होने पर मन की शांति का प्रश्न जटिल नहीं होता।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते ! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है ?' भगवान् ने कहा—'गौतम ! दर्शन-सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तरज्ञान से आत्मा को भावित करता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी गति का आयुष्य नहीं बांधता।'

योगी व्रतेन संपन्नो, न लोकस्यैषणाञ्चरेत्।
भावशुद्धिः क्रियाश्चापि, प्रथयन् ते शिवमश्नुते।। ५९।।

महाव्रतों से सम्पन्न योगी लोकैषणा में नहीं फंसता। वह मानसिक शुद्धि और सत्क्रियाओं का विस्तार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार गौतम ने पूछा–'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' भगवान् ने कहा–'उत्पाद तत्त्व है।' गौतम की समस्या सुलझी नहीं। उन्होंने फिर पूछा–'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' भगवन् ने कहा–'विनाश तत्त्व है।' अभी भी मन समाहित नहीं हुआ। तीसरी बार गौतम ने पूछा–'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' भगवन् ने कहा–'ध्रौव्य तत्त्व है।'

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–यह त्रिपुटी है। गौतम गणधर ने इसी के आधार पर वाङ्मय का विस्तार किया था। उत्पाद और व्यय प्रत्येक चेतन और जड़ दोनों पदार्थों की अवस्थाएं हैं। जड़ और चेतन दोनों ध्रुव हैं। जड़ चेतन नहीं होता और चेतन जड़ नहीं होता। अवस्थाओं का परिवर्तन इन दोनों में सतत चालू रहता है। चेतन एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में जाता है। यह आत्मा की अमरता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा–'पुराने कपड़े के फट जाने पर जिस प्रकार नया कपड़ा धारण किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी वर्तमान जीर्ण स्थिति को त्यागकर नया रूप स्वीकार करती है। कभी देवत्व, कभी पशुत्व, कभी नारकीय, कभी मानवीय आकार में आत्मा का परिवर्तन होता रहता है। वह बालक से युवक और युवक से बूढ़ा बन मृत्यु का आलिंगन करती है। इन सबमें आत्मा विद्यमान रहती है। ये उसकी विभिन्न अवस्थाएं हैं। चेतनत्व का विनाश नहीं होता।'

जड़ में यही परिवर्तन मिलता है। मिट्टी के अनेक आकार बनते हैं और बिगड़ते हैं। सोने की कितनी अवस्थाएं होती हैं ? लेकिन सुवर्णत्व सब में वैसा ही रहता है। एक व्यक्ति सोने का घट लेना चाहता है, एक व्यक्ति मुकुट और एक व्यक्ति केवल सुवर्ण। मुकुट को तोड़कर सोने का घट बनाने पर एक को प्रसन्नता होती है और मुकुट वाले को विषाद। लेकिन सुवर्ण वाले व्यक्ति को न प्रसन्नता है, न विषाद। सुवर्ण ध्रौव्य है। घट और मुकुट उसकी अवस्थाएं हैं। पुद्गल-जड़ के गुण किसी भी दशा में मिटते नहीं। मिट्टी भले सोने के रूप में परिणत हो जाए, शरीर चिता में जलकर राख भी क्यों न बन जाए, इन सबमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श–ये सदा अवस्थित रहेंगे। एक परमाणु से लेकर अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध में भी इनकी अवस्थिति है।

संसार की अपेक्षा से मुक्त होने वाले जीव कम हो जाते हैं। वे अपने परमात्म-स्वरूप को पाकर जन्म और मृत्यु के घेरे को लांघ जाते हैं। किन्तु इससे आत्मा की संख्या में कोई कमी-बेशी नहीं होती। आत्मत्व यहां और वहां सतत विद्यमान रहता है। संसारी आत्माएं अनन्त हैं और मुक्त आत्माएं भी अनन्त हैं। मुक्त जीवों की अपेक्षा संसारी जीव सदा अनन्त रहे हैं और रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार कभी शून्य नहीं होगा। मुक्ति जाने के योग्य जीव भी सदा यहां मिलते रहेंगे।

श्राविका जयन्ती के प्रश्न से इसका स्पष्ट हल सामने आ जाता है। जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा–'भगवन् ! क्या सभी जीव मुक्त हो जायेंगे? यदि सभी मुक्त हो जाएंगे तो संसार जीवशून्य हो जाएगा।' भगवान् ने कहा–ऐसा नहीं होता। मोक्ष में वे ही जीव जाते हैं, जो भव्य होते हैं।' इससे एक प्रश्न पैदा हो जाता है कि भव्य जीव सब मोक्ष में चले जायेंगे, तो क्या संसार भव्यशून्य नहीं हो जायेगा ?' भगवान् ने कहा–'ऐसा भी नहीं होगा। मोक्ष में जाने वाले भव्य में जायेंगे। लेकिन वैसी अनुकूल स्थिति उत्पन्न होने पर ऐसा होता है। सबको ऐसे अवसर सुलभ नहीं होते।'

आत्मा ज्ञानमय है। उसको सब कुछ बोध होना चाहिए। उसके लिए यह अज्ञेय क्यों है कि वह कहां से आया है ? कहां जायेगा ? भविष्य की घटनाएं क्यों अज्ञात रहती हैं ? ज्ञान की पूर्णता तथा श्रद्धा और आचरण के विकास में कौन बाधक है ?

भगवान् महावीर की दृष्टि में ज्ञानावरणीय, अन्तराय और मोहनीय–ये तीन कर्म बाधक हैं। ज्ञान पर जो आवरण है वह ज्ञानावरणीय है, आत्मा को जानने में वह बाधा डालता है। जब यह हट जाता है तब ज्ञान का क्षेत्र व्यापक बन जाता है। आत्म-विकास में विघ्न डालने वाला कर्म अन्तराय है। वह आत्मशक्ति के स्फोट को रोकता है। मनुष्य यथार्थ को जानता हुआ भी उसमें उद्योग नहीं करता। यथार्थ के प्रति श्रद्धाशील न होना और न उसको स्वीकार करना–यह मोहनीय कर्म की देन है। मोहोदय से मनुष्य भौतिक आकर्षणों में फंसा रहता है। सत्य के प्रति न उसकी अभिरुचि होती है, न वह सत्य का आचरण ही करता है। किन्तु उल्टा इसे अपनी शांति में बाधक मानता है। यह मूढ़ता मोहजन्य है।

स्वसन्मत्याऽपि विज्ञाय, धर्मसारं निशम्य वा।
मतिमान् मानवो नूनं, प्रत्याचक्षीत पापकम्।।

बुद्धिमान् मनुष्य धर्म के सार को अपनी सद्बुद्धि से जानकर या सुनकर पाप का प्रत्याख्यान करे।

बुद्ध ने कहा–भिक्षुओ ! मैं आदरणीय, श्रद्धेय और सम्माननीय हूं, इसलिए मेरी वाणी को स्वीकार मत करो, किन्तु अपनी मेधा–बुद्धि से परीक्षण करके स्वीकार करो–'**परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात्।**' महावीर भी यही कहते हैं–अपनी बुद्धि से परखो–'**मइमं पास।**' और भी आत्मद्रष्टा ऋषियों का यही स्वर है। मुहम्मद ने कहा है–'सब जगह मुझे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण मत मानो।' किन्तु व्यवहार में यह कम ही होता है। मनुष्य की बुद्धि कुछ परिपक्व होती है उससे पूर्व ही वह धर्म को पकड़ लेता है। जन्म के साथ धर्म का जन्म होना देखा जाता है। कहते हैं—दुनिया में हजारों मत-मतांतर हैं। प्रायः व्यक्ति अपनी सीमा में खड़े मिलते हैं। हिन्दु, बौद्ध, ईसाई, सिक्ख आदि का चोला जन्म के साथ धारण हो जाता है।

मनुष्य में धर्म की भूख—जिज्ञासा पैदा ही नहीं होती। उससे पूर्व धर्म का भोजन उसे प्राप्त हो जाता है। सत्य का मार्ग उद्घाटित नहीं होता। सत्य की प्यास पैदा होना कठिन है और पैदा हो जाए तो फिर पानी मिलना सरल नहीं है। जीसस ने कहा—'धन्य हैं वे जिन्हें धर्म की भूख है क्योंकि उनकी भूख तृप्त हो जाएगी।' सबसे पहले यह अपेक्षित है कि व्यक्ति में धर्म की भूख जागृत हो। पाप कर्म से निवृत्त होना कठिन नहीं है जितना कि धर्म की भूख का जागरण होना है। अर्जुनमाली, अंगुलिमार, वाल्मिकी आदि प्रसिद्ध हैं जिनको धर्म की प्यास पैदा होते ही मार्ग मिला और उनके पाप छूटते चले गए।

पाप अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ प्रवृत्ति में व्यक्ति पहले अपने को सताता है और जो स्वयं को दुःख देता है वही दूसरे को सताता है, इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि पाप है अपने को दुःख देना। जो आत्मस्थ है, स्वयं में स्थित है और जिसकी इन्द्रियां शांत हो गई हैं वह स्वयं में प्रसन्न है, सुखी है, आनंदित है। साधक व्यक्ति न स्वयं को सताता है और न दूसरों को कष्ट देता है। इसलिए पाप का अनुमोदन उसके द्वारा संभाव्य नहीं होता। अध्यात्म की साधना है—स्वयं में प्रतिष्ठित होना। पाप से बचने की अपेक्षा स्वयं में स्थित होने का प्रयत्न अधिक सशक्त है। अपने से बाहर जाना ही पाप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री भावना

भगवान् महावीर ने मैत्री का बहुत बड़ा सूत्र दिया। एक पादरी ने आचार्यश्री से कहा, प्रभु ईशु ने कितनी बड़ी बात कही है कि अपने शत्रु के साथ भी मैत्री करो। कितनी बड़ी बात है ? क्या इससे बड़ी बात हो सकती है ? आचार्यश्री ने कहा, यह बड़ी बात है, किन्तु भगवान् महावीर ने इससे आगे की बात कही है कि किसी को शत्रु मानो ही मत। पहले शत्रु माने और फिर मैत्री करे इससे तो अच्छा है कि किसी को शत्रु माने ही नहीं। पादरी अवाक् रह गया। उसके अहं पर अव्यक्त चोट हुई। उसने रहस्य समझ लिया।

कुछ व्यक्तियों ने लिंकन से कहा, आपके शत्रु बहुत हैं। अभी आप सत्ता में हैं। उनको समाप्त क्यों नहीं कर देते ? लिंकन ने कहा, 'उन्हें समाप्त कर रहा हूं।' लोगों ने कहा, अभी तक किसी को जेल में नहीं डाला, फांसी नहीं दी, देश से नहीं निकाला। फिर कैसे समाप्त कर रहे हैं ? लिंकन बोले, शिष्ट व्यवहार से सबको जीत रहा हूं। कुछ ही समय में वे मेरे मित्र बन जाएंगे। फिर कोई शत्रु नहीं रहेगा। सब शत्रु समाप्त हो जाएंगे।

यह मैत्री का महान् सूत्र है। इसके समक्ष शत्रु कोई रहता ही नहीं। मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याएं समाहित हो जाती हैं। प्रतिदिन हमारे मन पर अनेक मैल जमा होते जा रहे हैं। उनमें सबसे क्लिष्ट मैल है शत्रुता का, द्वेष का। इस दुनिया का यह अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नहीं है। इस संसार में रुचि और चिंतन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है, रीति-रीवाजों का भेद है—ये सब भेद न रहें, यह कभी संभव नहीं है। रुचि की भिन्नता है तब भेद समाप्त नहीं हो सकते। इन भेदों के कारण हमारे मन में शत्रुता और द्वेष का भाव पनपता है, यह अवांक्षनीय है। भगवान् ने कहा, दूसरे के साथ बुरा व्यवहार करने में यह देखो कि तुम्हारा स्वयं का अहित हो रहा है। दूसरे का अहित हो या नहीं, यह निश्चित नहीं है, किन्तु तुम्हारे अहित निश्चित है, उसमें कोई विकल्प नहीं है। दूसरे के प्रति तुम्हारे मन में बुरा विचार आया, चाहे उसका पता किसी को न लगे, पर उसका अंकन तुम्हारे मस्तिष्कीय कोशों में जो जाएगा, उसका बुरा परिणाम तुम्हें अवश्य ही भोगना पड़ेगा। दूसरे का अनिष्ट करने में स्वयं का अनिष्ट है—जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सूत्र को पकड़ लेता है वह कभी दूसरे का अनिष्ट नहीं कर सकता। 'मैं दूसरे का अनिष्ट कर रहा हूं'—यह सोचना मूर्च्छा है। वह नहीं जानता कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है ? भीतर क्या हो रहा है ? जिसके मन में मैत्री की भावना का जागरण होता है वह कभी किसी का अहित नहीं कर सकता।

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसे किसी से भी भय नहीं होता। शत्रुता और भय, मैत्री और अभय—ये दो युगल हैं। जिसका मन भय से भरा होता है, वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन में कोई भय नहीं होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है किन्तु शत्रु नहीं मानता। सब जीवों के हितचिंतन का बार-बार अभ्यास करने में मैत्री का संस्कार पुष्ट होता है।

मनुष्य के ज्ञात संबंधों की कड़ी बहुत छोटी है और अज्ञात की श्रृंखला बहुत प्रलम्ब है। ज्ञात स्पष्ट है और अज्ञात अस्पष्ट, इसलिए शत्रु, मित्र आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं। अज्ञात सामने आ जाए तो ये भाव स्वतः शांत हो सकते हैं। जन्म-मृत्यु की लम्बी परम्परा से कौन अपरिचित है? किन्तु इसे साधारण लोग नहीं समझते। साधक आत्म-तुला के पथ पर अग्रसर होता है; उसे यह स्पष्ट हो जाए तो बहुत अच्छा है, किन्तु बहुत कम व्यक्तियों को अतीत ज्ञात होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूं और आगे भी रहूंगा। अतीत में था तो कहां था, कौन मेरे संबंधी थे, आदि प्रश्न स्वतः खड़े हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधक का मन सबके प्रति मित्रभाव धारण कर लेता है। **'मित्ति से सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'**—मेरा सबके साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नहीं है। आंतरिक चेतना से जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे साधक के मन में शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र-मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु-मन अशांत, हिंसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है। उसमें प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्वलित रहती है। मित्र-मन में ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

मैत्री-भावना का साधक स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है, किंतु दूसरों को कष्ट नहीं देता। उसकी दृष्टि में पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नहीं। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है। खलीफा अली अपने शत्रु के साथ वर्षों लड़ता रहा। एक दिन शत्रु हाथ में आ गया। उसकी छाती पर बैठ भाला मारने वाला ही था, इतने में शत्रु ने मुंह पर थूक दिया। अली को एक क्षण गुस्सा आया और बोला—'आज नहीं लड़ेंगे।' लोगों ने कहा, 'कैसी मूर्खता कर रहे हैं ? वर्षों से शत्रु हाथ आया और आप छोड़ [illegible]' अली ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा–'कुरान का वचन है–क्रोध में मत लड़ो।' मुझे गुस्सा आ गया। शत्रु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा–'इतने वर्षों क्या आप बिना क्रोध में लड़ रहे थे।' अली ने उत्तर दिया–'हां।' शत्रु चरणों में गिर पड़ा। उसे पता ही आज चला कि बिना क्रोध के भी लड़ा जा सकता है। वह मित्र हो गया। लड़ने का हेतु भिन्न हो सकता है, किन्तु क्रोध में नहीं लड़ना–यह मित्रता का परिचायक है। मैत्री भाव का विराट् रूप जब सामने आता है तब द्वैत नहीं रहता। **'आयतुले पयासु'**–प्राणियों को अपने समान देखो–यह उसका फलितार्थ है।

स्वयं सत्य खोजें : सबके साथ मैत्री करें

हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते हैं कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने मेरा कुछ किया है। सारा-का-सारा दोष हम दूसरों के सिर मढ़ देते हैं–पत्थर कितने ऊबड़-खाबड़ हैं, मुझे ठोकर लग गई। अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी, इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे किन्तु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसलिये ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसलिए सिर में चोट लगी; किन्तु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोड़ा नहीं, इसलिए चोट लगी, ऐसा कोई नहीं सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड़ डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया। हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते हैं। दूसरों में दोष देखते हैं और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं। परन्तु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है–अपने कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्त्तव्य में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया वह फूट गया। अब इस सचाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नहीं सोचेंगे। हम कहेंगे--पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरों के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है। किन्तु वास्तव में मित्रता है--सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना, किसी का किसी पर दोषारोपण न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है 'आशातना।' जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेष है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करें सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करें।

मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

मानवीय सम्बन्धों की दूसरी कठिनाई है--कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से बड़े व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पड़ता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन भी कैसे सुरक्षित रह सकता है। यह धारणा रूढ़ हो गयी है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने में गौरव अनुभव करता है। नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए ? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी ? इस प्रकार की धारणाओं ने सामाजिक और मानवीय सम्बन्धों में बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेमपूर्ण भावनाओं के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर व्यवहार से नहीं किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजों के द्वारा नयी सचाइयां सामने आयी हैं कि पवित्र और सद्भावना पूर्ण भावनाओं के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूल को और अधिक विकसित किया जा सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ऐसी स्थिति में पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावनापूर्ण चेतना के द्वारा क्या विकसित नहीं किया जा सकता ? क्या वह निरा पत्थर है। पत्थर को भी पवित्र भावनाओं से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बड़ी चट्टान को उठाना होता है तब पांच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर, संकल्पशक्ति के सहारे उसे उठा देते हैं।

विनम्रता, मृदुता हर किसी को पिघाल देती है। हम किसी के प्रति सद्भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करें, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते हैं और लताएं अपनी दिशा बदल देती हैं। एक ईसाई महिला ने प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाएं। किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नहीं मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयी और विनम्र स्वर में बोली–'लता ! मुझे दुःख है कि तुझे काटना पड़ेगा। मुझे खेद है ! तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढ़ती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है पौधा भी सुन लेता है, तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा ? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है ? किंतु हमने यह रूढ़ धारणा बना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नहीं किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय संबंधों में कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला जा रहा है।

सरस जीवन की प्रक्रिया–मृदुता

जीवन की सफलता का सूत्र है–सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नहीं हो सकता। वह स्वयं भी सरस नहीं हो सकता और दूसरों में भी सरसता नहीं भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वयं सरस होता है और दूसरों में भी सरसता भरता है।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। मुनि भिक्षा लेकर आए। भिक्षा दिखाई। एक पात्र में चने की दाल और मूंग की दाल मिश्रित थी। आचार्य भिक्षु ने मुनि से कहा, 'दोनों दालों को मिलाकर क्यों लाये ? अलग-अलग पात्र में लाना चाहिए।' मुनि ने सहजभाव से उत्तर दिया, 'दाल दाल होती है। क्या अन्तर आता है। साथ ले आया।' आचार्य भिक्षु ने कहा, 'चने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाल बीमार को नहीं दी जा सकती। मूंग की दाल बीमार को दी जा सकती है। तुमने गलती की है।' भिक्षु ने उसे उलाहना दिया।

मुनि को बात खटक गयी। वे भोजन न कर, सो गए। भिक्षु भोजन मंडली में बैठे। साधु को उपस्थित न देखकर पूछताछ की। पता चला कि वे सो रहे हैं। भिक्षु व्यवहार-पटु थे। मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मुनि के मन को पढ़ा और जोर से पुकारा। 'अरे ! सोते-सोते दोष मेरा देख रहा है या अपना ?' इतना सुनते ही मुनि का गुस्सा शांत हो गया। वे उठे, बाहर आए, भिक्षु को वंदना कर बोले, 'दोष तो अपना ही देख रहा था।' बस, सारा वातावरण सजीव हो गया।

आचार्य भिक्षु के शब्दों ने उसमें सरसता भर दी। मुनि सरसता से अभिभूत हो गए। सरसता वही भर सकता है जिसके जीवन-व्यवहार में सरसता हो। सरसहीन व्यक्ति का व्यवहार मृदु नहीं हो सकता। वह कभी दूसरों को सरस नहीं बना सकता। मैत्री सरसता का घटक है।

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना

शक्ति के बिना मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नहीं होती, मैत्री का भाव स्थायी नहीं हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के बिना कलुषता का निरसन भी नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नहीं होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

खमतखामणा का वास्तविक अर्थ

खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने, किन्तु तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान् व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। वह इतना विराट् बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नहीं होता। भगवान् महावीर को देखें। अन्यान्य साधकों को देखें। वे सब अपनी साधना के द्वारा ही महान् बने थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए, शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते हैं तब दृष्टि का रूपांतरण होता है। हम तब सचमुच इकोलॉजी के सिद्धांत की परिधि में आ जाते हैं। आज की इस नई शाखा का विकास जितना अहिंसा के जगत् में हुआ है, आज तो उसका पुनरावर्तन हो रहा है बहुत ही थोड़े अंशों में। परस्परालम्बन, सहयोग और परस्पर निर्भरता—ये सब प्रकृति के कण-कण से जुड़े हुए हैं। ये सब अहिंसा के सिद्धांत में बहुत विकसित हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमोद भावना

प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वयं में प्रसन्न नहीं होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिए कठिन होता है। जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद-प्रसन्न रह सकता है। जिसकी अपने में प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है। वह अप्रसन्नता को देखता नहीं। अपने से जो राजी नहीं है, वह दूसरों के दोष देखता है, दूसरों की प्रसन्नता/विशिष्टता से ईर्ष्या करता है। दूसरों के गुणों को देखकर व्यक्ति स्वयं को प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भावित करे, किन्तु ईर्ष्या की ग्रंथि खुलनी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिए मन को तृप्त कर ले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिए। यह कोई असम्भव नहीं है। जो कुछ प्राप्त है, उसमें सदा प्रसन्न रहे। अतृप्ति को पास फटकने न दे। जैसे-जैसे हम अपने से राजी होते जाएंगे, कोई वासना नहीं रहेगी। तब सहज ही दूसरों की विशेषताएं या अविशेषताएं हमारे लिए कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होंगी। विशेषताएं जहां प्रसन्नता के लिए होंगी वहां अविशेषताएं करुणा उत्पन्न करेंगी। जैसे एक व्यक्ति विकास के चरम पद को पा सकता है, वैसे दूसरा भी पा सकता है, किन्तु वह अपने को गलत दिशा में नियोजित कर रहा है इसलिए करुणा का पात्र है। स्वयं में प्रसन्न रहना सीखें, फिर दूसरों से अप्रसन्नता भी नहीं आयेगी और दूसरों के गुणों के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नहीं होगी।

गुणों का मूल्यांकन

आचार्य ने अभ्यर्थना की—प्रभो! गुणी मनुष्यों के प्रति मेरी प्रमोद भावना जागृत हो। जो मुझसे ज्यादा गुणवान् हैं, जो मुझसे ज्यादा क्षमतावान् हैं, उनके प्रति मन में प्रमोद जागे, ईर्ष्या की भावना न आए।

ईर्ष्या बहुत बड़ी बीमारी है। यह व्यापक रोग है। साधु-संत भी इससे अछूते नहीं हैं। जब एक साधु का यश बढ़ता है, महत्त्व और शोभा बढ़ती है। उस समय प्रमोद या हर्ष प्रदर्शित करना बहुत कठिन हो जाता है। दूसरे के मन में तत्काल यह भावना जागती है कि किन उपायों से इसके यश को और महत्त्व को धूलिसात् करूं। बहुत भयंकर रोग है ईर्ष्या का। इससे विरले ही बच पाते हैं। ईर्ष्या की चिकित्सा अध्यात्म से ही हो सकती है। जो सचमुच आध्यात्मिक रस में ओत: प्रोत हैं वे गुणवान् व्यक्ति के प्रति प्रमोद प्रदर्शित कर अपने आत्मगुणों का जागरण करते हैं। गुणी के गुणों का नि:स्वार्थ भाव से मूल्यांकन करना, दूसरों के समक्ष उन्हें अभिव्यक्ति देना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना-लभ्य उपलब्धि है। हर व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता।

सन् १९७९ में मुझे युवाचार्य पद पर मनोनीत किया गया। अनेक ऊहापोह हुए। मेरे सहपाठी और साथी मुनि बुद्धमलजी ने जिस भाव-भाषा में प्रमोद भावना व्यक्त की, उससे आचार्यश्री और स्वयं मैं--दोनों गद्‌गद् थे। इनके भावों को सुनकर आचार्यश्री को बड़ा हर्ष हुआ और मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसी भावना वही व्यक्ति प्रदर्शित कर सकता है जिसमें कुछ गंभीरता होती है, साधना की ऊंचाई होती है। अन्यथा ऐसी भावना निकलती नहीं। जानते सब हैं कि हमारे संघ की एक सुनिश्चित व्यवस्था है--आचार्य ने जिस मुनि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया, भावी आचार्य घोषित कर दिया, फिर कोई राजी हो या नाराज, उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। मर्यादा को जानना सरल है, पर प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्मन की मर्यादा कुछ और ही होती है। वह अपनी-अपनी वृत्ति पर निर्भर होती है।

समानता का दर्शन

ईर्ष्या जटिलतम मानसिक उलझनों में से एक है। आदमी अकारण ही दुःखी बन जाता है। ईर्ष्या से मानसिक तनाव बढ़ता है। ईर्ष्या उस व्यक्ति के मन में पैदा होती है जिसे अधिक आत्मिक समानता में विश्वास नहीं होता। जो मानता है कि हर आत्मा समान है, हर आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है, हर आत्मा को विकास करने का अधिकार है और हर आत्मा उसका विकास कर सकती है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास देखकर ईर्ष्यालु नहीं होता किन्तु प्रसन्न होता है। ईर्ष्या नास्तिकता का चिन्ह है। क्या आत्मनिष्ठ व्यक्ति आत्म-विकास पर एकाधिकार मान सकता है ?

दूसरे के विकास को नकारने का अर्थ गुणों की श्रेष्ठता को नकारना है। यदि गुणों की अच्छाई में हमारा विश्वास है तो वे गुण किसी में भी प्रकट हुए हों, हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं। इस चिन्तन की पुष्टि से मानसिक हर्ष निश्छिद्र और अव्यवच्छिन्न बन जाता है। दूसरे की विशेषता देखी तो प्रमोद की भावना जागी, हर्ष की भावना जागी; कभी कोई हीनता का अनुभव नहीं हुआ और अपने पुरुषार्थ की ओर ही ध्यान गया। यह हंसने वाली चेतना है। समस्या में से समाधान खोजने वाली चेतना या दुःख में सुख खोजने वाली चेतना है। ऐसे लोग भी बहुत मिलते हैं जो इस चेतना का विकास कर लेते हैं और निरन्तर सुख में रहते हैं, दुःख का अनुभव नहीं करते। अज्ञानी मनुष्य के लिए यह संसार समुद्र जहर से भरा हुआ है और प्रमोद भावना वाले मनुष्य के लिए यह संसार समुद्र अमृत से भरा हुआ है। अमृत ही अमृत है उसके लिए। एक के लिए जहर और एक के लिए अमृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा भावना

करुणा मैत्री का प्रयोग है। जिसका सब जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। उस करुणा का सम्बन्ध पर-सापेक्ष नहीं होता। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। महावीर, बुद्ध, जीसस आदि संत इसके अनन्यतम उदाहरण हैं। महायान बौद्ध कहते हैं–बुद्ध का निर्वाण हुआ। वे निर्वाण के द्वार पर रुक गये। कहा–भीतर आओ। बुद्ध कहते हैं–जब तक समस्त प्राणी दुःख से मुक्त नहीं होते तब तक मैं भीतर कैसे आ सकता हूं ? प्रेम का हृदय-सागर जब छलछला जाता है तब करुणा की ऊर्मियां तट पर टकराने लगती हैं। जितने भी संत बोले हैं, वे सब प्रेम-मैत्री के मूर्त रूप थे और वह प्रेम करुणा के माध्यम से वाणी के द्वारा बाहर बहा है।

अमेरिकन विचारक हेनरी थारो से एक व्यक्ति मिलने के लिए आया। हाथ मिलाया और तत्क्षण हेनरी ने हाथ छोड़ दिया। कहा–यह हाथ जीवंत नहीं है, मृत है। इसमें प्रेम, करुणा, सौहार्द, सहानुभूति नहीं है। यह उदात्त प्रेम की सूचना है। करुणा, सौहार्द आदि गुण मनुष्य की आन्तरिक चेतना की शुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया। नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी। इतने में एक छोटा बच्चा आ गया, हजरत उसे प्रेम करने लगे। उसने कहा, 'मेरे दस बच्चे हैं, किन्तु मैंने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-संलाप कभी नहीं किया।' हजरत ने वह नियुक्ति-पत्र वापस लेकर फाड़ते हुए कहा–'जब तुम अपने बच्चों से भी प्रेम नहीं कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मैं कैसे करूं ?'

एक संत के पास एक व्यक्ति संन्यासी बनने आया। संत ने पूछा–'क्या तुम किसी से प्रेम करते हो ?' उसने कहा–'आप क्या बात कर रहे हैं ? मेरा किसी से प्रेम नहीं है।' संत ने कहा–'तब मुश्किल है। अगर प्रेम हो तो उसे व्यापक बनाया जा सकता है, किन्तु है ही नहीं, तब मैं क्या करूं ?' प्रेम, करुणा, सहानुभूति ये अन्तस्तल के सूचना-संस्थान हैं। दुःखी, पीड़ित, त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जागृत होता है वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमल, मृदु और प्रेम से शून्य नहीं है। उसी करुणा को आत्मा से जोड़ना है, दुःख के कारणों को मिटाना है, जिससे अनन्त करुणा का जन्म हो सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुदूर क्षितिज में बिजली का कौंधना देखकर हमें बादलों के अस्तित्व का बोध हो जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण में करुणा का प्रवाह देखकर हम जान पाते हैं कि अमुक व्यक्ति में सत्य की जिज्ञासा है। उसे सत्य का कुछ साक्षात् हुआ है और उसका दृष्टिकोण समीचीन है। क्रूरता का विसर्जन किए बिना कोई भी आदमी सत्य की दिशा में गतिशील नहीं हो सकता। इस अनुभूति की तीव्रता के द्वारा मनुष्य में करुणा का संस्कार सुदृढ़ हो जाता है।

आचार्य की अभ्यर्थना है, 'प्रभो ! दुःख पाने वाले प्राणियों के प्रति मेरे मन में करुणा की भावना जागे।' आदमी में क्रूरता होती है निर्दयता होती है। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति की भावना नहीं रहती। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं देखता हूं कि आदमी धार्मिक भी है और क्रूर भी है। धार्मिकता और क्रूरता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। अनेक धार्मिक कहलाने वाले को इतना क्रूर देखा है कि उनको धार्मिक कहने में हिचक होती है। वह छोटों के साथ क्रूर व्यवहार करने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं।

नैतिकता का आधार–करुणा

नैतिकता का आधार है–करुणा। हमारी दो वृत्तियां हैं–एक है क्रूरता की वृत्ति और दूसरी है करुणा की वृत्ति। करुणा का सम्बन्ध है संवेदनशीलता से। मनुष्य जितना संवेदनशील होता है, उतनी करुणा उसमें जागती जाती है। मनुष्य जितना असंवेदनशील होता है, उतनी ही क्रूरता बढ़ती जाती है।

मेरे सामने एक प्रश्न आया कि क्या ध्यान के अभ्यास के द्वारा पुलिसकर्मियों को पराक्रमहीन एवं शौर्यहीन बनाना चाहते हैं ? मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं पूछना चाहता हूं, क्या शौर्य और क्रूरता एक ही है ? नहीं दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। शौर्य भिन्न वस्तु है और क्रूरता भिन्न वस्तु है। रात और दिन में जितना अन्तर है उससे भी अधिक अन्तर है क्रूरता और शौर्य में। शौर्य पराक्रम है। उसे न्यून करने की बात ही प्राप्त नहीं होती। पराक्रम को बढ़ाया जा सकता है। उसका विकास किया जा सकता है। उसका विकास वांछनीय है। क्रूरता अमानवीय दृष्टिकोण है, राक्षसी कार्य है। उसे कम करना जरूरी है।

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

विद्या विवाद के लिए, धन अहंतुष्टि के लिए और शक्ति दूसरों को पीड़ित करने के लिए–ये तीन बातें हैं। दुष्ट व्यक्ति के लिए ही तीनों प्राप्त हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सज्जन व्यक्ति के लिए तीनों विपरीत रूप में होती हैं। उसके लिए विद्या विवाद के लिए नहीं, ज्ञान के लिए होती है। उसके लिए धन अहंकार का कारण न बनकर दान का कारण बनता है और शक्ति का उपयोग दूसरों को पीड़ित करने के लिए नहीं किन्तु दूसरों की रक्षा के लिए होता है। वह क्रूर नहीं होता। उसमें करुणा का अजस्र स्रोत बहता रहता है।

क्रूरता की समस्या : करुणा का समाधान

क्रूरता का सबसे बड़ा कारण है—लोभ, धनार्जन की अति आकांक्षा या संग्रह की वृत्ति। प्रश्न है कि क्या क्रूरता को मिटाया जा सकता है ? क्या इसका विसर्जन किया जा सकता है ? क्या इसका कोई उपाय है ? हम समस्या को जानते हैं। हमें उसके निराकरण को भी जानना होगा। समस्या का अन्त तब तक नहीं होता जब तक हम निराकरण का सही उपाय नहीं जानेंगे। समस्या है तो उसके निराकरण का उपाय भी है। उपाय वही होता है जो मूल को छूता है। सहायक कारण अनेक हो सकते हैं, पर उनसे मूल समस्या का अन्त नहीं होता। समस्या का अन्त तभी होता है जब सही उपाय हस्तगत हो जाता है।

रास्ते में प्यास से व्याकुल होने पर शिवाजी के गुरु रामदास ने प्यास मिटाने के लिए खेत से एक गन्ने का टुकड़ा तोड़ा। तोड़ते ही किसान ने रामदास को डण्डे से पीटा। गुरु को डण्डे से पीटे जाने पर शिवाजी का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन रामदास ने रहस्य को समझाते हुए कहा—'तुम्हें बात समझ में नहीं आयी। कोई गूढ़ रहस्य नहीं है। देखो, यह किसान गरीब है। यदि यह गरीबी से ग्रस्त नहीं होता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करता। इसने गरीबी के कारण ही ऐसा व्यवहार किया है। यदि इसकी अपराध-वृत्ति को मिटाना है तो इसकी गरीबी को मिटाना होगा। इसे पांच बीघा जमीन और दे दो, फिर यह ऐसा व्यवहार कभी नहीं करेगा।'

यह है समस्या का समाधान और यह है समस्या का सम्यक् उपाय। हम मूल कारण की खोज नहीं करते और मूल कारण को खोजे बिना समस्या का भी समाधान नहीं हो सकता। क्रूरता ही समस्या का मूल है—अमानवीय दृष्टिकोण, फिर चाहे वह लोभ के रूप में अभिव्यक्त हो या संग्रहवृत्ति के रूप में विकसित हो। इसको मिटाने का एक मात्र उपाय है—मानवीय दृष्टिकोण का विकास। इसे ही प्राचीन भाषा में आत्मौपम्यदृष्टि कहा गया है। इसका अर्थ है प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझना। आधुनिक भाषा में यही है मानवीय दृष्टि। इसका फलित है कि प्रत्येक व्यक्ति में चेतना जागे कि 'सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे जैसे ही मनुष्य हैं। हम सब एक ही हैं। मैं भी मनुष्य हूं। वह भी मनुष्य है। मुझे मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना चाहिए।'

इस दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है आज सामाजिक जीवन में। जब तक इस दृष्टि का विकास नहीं होगा तब तक क्रूरता समाप्त नहीं होगी, व्यवहार नहीं बदलेगा। आदमी दूसरे आदमी के प्रति बहुत क्रूर व्यवहार कर लेता है। मिल मालिक मजदूर के प्रति, सेठ कर्मचारी के प्रति, अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति क्रूर व्यवहार करता है। सर्वत्र क्रूर व्यवहार देखा जाता है। इसका कारण है—बड़प्पन और छुटपन का मनोभाव। यह मान लिया गया है कि एक बड़ा है, एक छोटा है। बड़ा छोटे के प्रति क्रूर व्यवहार कर सकता है, मानो कि यह मान्यता-प्राप्त स्थिति है। यहां का आदमी पशुओं के प्रति भी क्रूर व्यवहार करता है। जिस गाय से दूध लेना है आदमी उसी को पीट देता है। ऐसा पीटता है कि गाय आगे-आगे दौड़ती है और आदमी उसी पर लाठियां बरसाता हुआ पीछे-पीछे दौड़ता चला जाता है। जिस गाय से दूध लेना है उस गाय को पीटने से दूध कहां रहेगा ? दूध सूख जाएगा। दूध भी प्रेमपूर्ण व्यवहार किए बिना नहीं मिलता। जिन लोगों ने यह समझ लिया है कि गाय के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से अधिक दूध देगी, उन्होंने पशुओं के रहन-सहन की सुन्दरतम व्यवस्थाएं की हैं। उनके रहने के लिए मकान हैं। वहां पंखें चलते हैं। वहां कहीं-कहीं वातानुकूलित मकान हैं। रेडियो बजते हैं। संगीत की स्वर-लहरियां थिरकती हैं। इस वातावरण में रहने वाली गायें अधिक दूध देती हैं, गालियां दी जाती हैं, तिरस्कार किया जाता है उनका दूध धीरे-धीरे सूख जाता है।

हर प्राणी प्रेमपूर्ण व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिकों ने वनस्पति जगत् पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधों को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सींचा जाता है, वे पौधे अधिक विकसित होते हैं। जिन पौधों को उपेक्षा वृत्ति से पानी सींचा जाता है, वे कुम्हला जाते हैं। पानी वही है, सींचने वाला भी वही है, कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं है, किन्तु भावात्मक परिवर्तन के द्वारा एक दिशा के पौधे बढ़ गए और दूसरी दिशा के पौधे मुरझा गए। जिनको आवेश में, क्रोध की स्थिति में पानी दिया गया, वे मुरझा गये और प्रेमपूर्ण भावना से सिंचन मिलने वाले पौधे बहुत बढ़ गए।

हम प्राणी से काम भी लेना चाहते हैं और क्रूरता भी करते चले जाते हैं। यह प्रतिकूल आचरण है। दुनिया का नियम है कि प्रेमपूर्ण व्यवहार से दूसरे से अधिक काम लिया जा सकता है, जीवन में सफल हुआ जा सकता है, अधिक सहयोग लिया जा सकता है, परन्तु अभी तक मानवीय दृष्टिकोण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितना विकसित होना चाहिए उतना विकसित नहीं हुआ है। इसमें दोषी सभी हैं। हम किसी एक को दोषी नहीं बता सकते। एक मिल मालिक अपने मजदूरों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है तो मजदूर भी दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं। एक बड़ा अफसर अपने अधीनस्थ छोटे अफसरों के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है तो वे छोटे अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं। जिस किसी के पास थोड़ी भी सत्ता है, शक्ति है, क्रूरता का व्यवहार न करे, यह नहीं देखा जाता। सब दोषी हैं। कोई भी दोष-मुक्त नहीं है। सत्ता न मिले, कुर्सी न मिले, तब तक सब ठीक हैं, नम्र हैं। जब सत्ता हस्तगत हो जाती है, फिर न जाने क्यों सारा व्यवहार बदल जाता है, नम्रता समाप्त हो जाती है, क्रूरता का व्यवहार हो जाता है, बड़प्पन की भावना पनपती है और फिर वह सबको प्रतिद्विष्ट मानता है।

जब सत्ता आती है तब आदमी अन्धा हो जाता है। वह न्याय के स्थान पर अन्याय अधिक करता है। सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग न हो, धन और शक्ति का दुरुपयोग न हो तो मानना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है। तब समझना चाहिए कि करुणा की ज्योति, करुणा की दीपशिखा प्रज्वलित हुई है। यह होने पर ही अन्याय मिट सकता है, आदमी को आदमी समझकर न्यायपूर्ण व्यवहार हो सकता है। यह निश्चित है कि किसी के पास पैसा कम हो, किसी के पास पैसा अधिक हो, किसी के पास अधिकार अधिक हो और किसी के पास कम अधिकार हो, यह भेद बुद्धि और शक्ति के तारतम्य पर आधारित है। यह होता है। कभी ऐसा नहीं होता कि सबमें बुद्धि और शक्ति समान हो। तरतमता बनी रहती है। पर अन्ततः आदमी आदमी है। यदि यह तथ्य अनुभूत होता है तो आदमी की संवेदनशीलता बढ़ती है और तब समस्याओं का समाधान हो सकता है।

सामाजिक स्वास्थ्य का सूत्र है—करुणा। जीवन में करुणा का विकास हो, संवेदनशीलता जागे और मनुष्य प्राणी जगत् के प्रति करुणार्द्र बना रहे। ऐसा होने पर ही क्रूरता समाप्त हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपेक्षा भावना

अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों स्थितियों में सर्वत्र सम रहना 'उपेक्षा' है। साधक को न पदार्थों से जुड़ना है और न बिछुड़ना है। पदार्थ पदार्थ है। उसमें राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष है अपने भीतर। जब आदमी किसी से जुड़ता है तो राग और बिछुड़ता या घृणा करता है तो द्वेष आता है। साधक को जहां कहीं भी राग और द्वेष दिखाई दे, तत्काल उनकी उपेक्षा कर अपने भीतर चला जाये। यह जैसे पदार्थों के साथ होता है, वैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व, रूप, विशिष्ट कौशल आदि पर भी होता है। भिक्षु वक्कलि बुद्ध के रूप पर इतना मुग्ध हो गया, बस, उसे ही निहारता रहता। बुद्ध ने कहा—क्या है वक्कलि मेरे इस शरीर में ? जैसा हाड़, मांस, रक्त आदि तुम्हारे शरीर में है, वैसा ही इसमें है। रूप को देखना है, तो बुद्ध के धर्म-कार्य का रूप देखो। जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है। यह भी बन्धन है। आनन्द बुद्ध से बन्धे रहे। गौतम महावीर से बन्धे रहे। बन्धन का मार्ग सरल है। मनुष्य बन्धन-प्रिय है। पर वह बन्धन छोड़ता है तो दूसरा कहीं न कहीं जोड़ लेता है। उपेक्षा करना कठिन है। उपेक्षा भावना का साधक कहीं किसी भी जड़ और चेतन के साथ बन्धता नहीं। वह आने वाले समस्त बन्धनों की उपेक्षा कर तटस्थ भाव से अपने ध्येय में गति करता रहता है।

अब्राहम लिंकन राष्ट्रपति बने। संसद में भाषण देने जब खड़े हुए तब किसी ने व्यंग्य कसा। कहा—आपको याद है, आप चमार के लड़के हैं। लिंकन ने कहा—धन्यवाद, आपने पिता का स्मरण दिलाया और आगे आपसे कहना चाहता हूं, मेरे पिताजी कुशल चमार थे। मैं इतना कुशल राष्ट्रपति नहीं बन सकूंगा। दूसरी बार फिर कहा—वे जूते बनाते थे। लिंकन बिलकुल उत्तेजित नहीं हुए। उसी तटस्थ भाव से कहा—'हां', किन्तु किसी ने भी कोई शिकायत नहीं की। क्या आपको कोई शिकायत है ?'

साधक जब उपेक्षा भावना में निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विषाद, सुख और दुःख, सम्मान और अपमान आदि द्वन्द्व सहजतया क्षीण होते चले जाते हैं।

मध्यस्थ भाव की इसीलिए आचार्य ने अभ्यर्थना की है—प्रभो ! जो मेरी निंदा करते हैं, अवज्ञा करते हैं, मुझसे विपरीत व्यवहार करते हैं, मेरी बात नहीं मानते, उन सबके प्रति मेरे मन में मध्यस्थता का भाव जागे। मैं उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन विपरीत आचरणों के प्रति उदासीन रहूं। उनके प्रति अन्यथा भाव न आए। मैं यही सोचूं कि मैंने अपना काम कर लिया। वे सब अपना काम करते हैं, मुझे क्या !

आचार्य सोमदेव ने लिखा है—समता परमं आचरणम्। आचार का सबसे बड़ा सूत्र है—समता, साम्यभाव, समानता। यह केवल समाजवाद का साम्यवाद का ही सूत्र नहीं है। यह हर चिन्तन की अच्छाई का सूत्र है कि जहां समतापूर्ण मनःस्थिति होती है, वहां समाज का विकास होता है और जहां समाज की आचारधारा में विषमता होती है, वहां समाज का पतन होता है। आचार के परिष्कार का अर्थ है—समता का विकास।

तटस्थता कैसे ?

पूछा गया, तटस्थता कैसे संभव हो सकती है ? मैंने कहा—तटस्थता इन्द्रिय-संवर के द्वारा फलित होती है। जिस व्यक्ति ने इन्द्रिय-संवर साध लिया, वह तटस्थ हो जाता है। जब मन से प्रियता और अप्रियता का भाव समाप्त हो जाता है, तब पदार्थ पदार्थ मात्र रह जाता है, प्राणी प्राणी मात्र रह जाता है। हम कह देते हैं, अच्छी वस्तु के साथ हमारी प्रियता जुड़ती है यह भ्रांति है। वस्तु रुचिकर लगती है प्रियता के कारण, वस्तु अरुचिकर लगती है अप्रियता के कारण। प्रियता और अप्रियता के संस्कार धुल जाने पर वस्तु वस्तु रहती है, पदार्थ पदार्थ रहता है। क्या यह संभव है कि प्रियता और अप्रियता का भाव समाप्त हो जाए ? बहुत सम्भव है। यदि हम प्रायोगिक जीवन जीएं तो ऐसा सम्भव है कि पदार्थ है, प्राणी है, किन्तु प्रियता और अप्रियता का संस्कार समाप्त। प्रश्न होता है—क्या आंखों और कानों को बन्द रखें ? क्या इन्द्रियों के दरवाजों को बन्द रखें ? जिससे कि यह स्थिति बन जाए। इन्द्रियों के दरवाजों को दीर्घकाल तक बन्द रखा जा सकता है। जीवन की लम्बी अवधि में, इस दीर्घकालीन यात्रा में यह कभी सम्भव नहीं है कि आदमी आंख बन्द कर बैठ जाए, कानों के परदे फाड़ दे। यह कभी सम्भव नहीं है। इन्द्रियों के द्वार खुले रहेंगे। द्वार खुले रहेंगे, पानी आयेगा पर गन्दगी नहीं आएगी। इन्द्रियों का काम है जागना, संवेदन करना, ज्ञान करना। लोगों ने भ्रांतिवश यह मान लिया है कि इन्द्रियों का काम है—राग-द्वेष करना, प्रियता और अप्रियता करना। यह काम इन्द्रियों का काम नहीं है। आंख का काम मूर्च्छित होना नहीं है। आंख का काम प्रियता-अप्रियता पैदा करना नहीं है। आंख तो ज्ञान की एक धारा है, चैतन्य की एक धारा है। इसमें कैसी प्रियता और कैसी अप्रियता ! ज्ञान और मूर्च्छा के योग को हमने एक मान लिया, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत बड़ी भ्रांति हो गई। ज्ञान की धारा भिन्न है। मूर्च्छा की धारा भिन्न है। राग और द्वेष की धारा ज्ञानधारा के साथ जुड़ जाती है और हम दोनों को एक मानकर प्रियता और अप्रियता के भ्रम में फंस जाते हैं।

जब यह भ्रांति टूटती है, हमें अपने चैतन्य का अनुभव होता है, तब इन्द्रिय-संवर सहज घटित हो सकता है। बेचारा हरिण दौड़ रहा है मृग-मरीचिका के पीछे। सूरज की किरणें ताल में पड़ती हैं। मृग को लगता है कि वहां पानी लहलहा रहा है। वह पानी पीने दौड़ता है। निकट जाने पर वहां पानी नहीं मिलता। वहां से देखने पर आगे पानी दीखता है। वहां जाता है, पर पानी नहीं मिलता। वह इस दौड़धूप में प्राण गवां बैठता है।

विवेक की निष्पत्ति–तटस्थता

अस्तित्व की झलक का पहला फल है–विवेक। हमारी चेतना के जागरण की पहली भूमिका है–विवेक। विवेक की निष्पत्ति है–तटस्थता। यह चेतना के जागरण की दूसरी भूमिका है। तटस्थता अर्थात् उपेक्षा। उपेक्षा के दो अर्थ हैं–ध्यान न देना और निकटता से देखना। उप+ईक्षा=उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। पक्षपात में रहने वाला निकटता से नहीं देख सकता। वह प्रिय के प्रति अनुरक्त होगा और अप्रिय के प्रति द्विष्ट होगा। वह एक के प्रति राग करेगा और दूसरे के प्रति द्वेष करेगा। जिसमें झुकाव होता है वह सही अर्थ में निकटता से नहीं देख सकता। वह दूर से ही देखता है। न प्रिय को ठीक से समझ सकता है और न अप्रिय को ठीक से समझ सकता है।

उपेक्षा का एक अर्थ है–ध्यान न देना, अवगणना करना। जो तटस्थ हो जाता है, उसके सामने प्रिय भी आता है, अप्रिय भी आता है किंतु वह दोनों की उपेक्षा कर, अवगणना कर आगे बढ़ जाता है। उपेक्षा का फल है–समता।

विवेक का फल है–तटस्थता। तटस्थता का फल है–उपेक्षा। उपेक्षा का फल है–समता।

अतीत को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है–द्रष्टाभाव का विकास। जिस व्यक्ति ने अपने द्रष्टाभाव को विकसित कर लिया उसने अतीत से अपना पिंड छुड़ा लिया। जिसने द्रष्टाभाव का विकास नहीं किया, उसे अतीत भूत की भांति सताता रहता है। जब वह ध्यान करने बैठता है तब हजारों प्रकार की वासनाएं उभर आती हैं। व्यक्ति निराश हो जाता है। सोचता है–ध्यान मेरे वश की बात नहीं है। ध्यान मन की शांति के लिए करता हूं किन्तु ध्यान करने के लिए बैठते ही मन अशांत हो जाता है। वह निराश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति ध्यान को छोड़ देता है। जब तक द्रष्टभाव का विकास नहीं होता तब तक स्थिति में परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से द्रष्टाभाव विकसित होता है। प्रेक्षाध्यान से वह सुस्थिर होता है। हमारी चेतना की ऐसी अवस्था निर्मित हो जाती है कि जो कुछ घटित होता है वह देखा जाता है, प्रतिक्रिया नहीं होती। साधक मात्र द्रष्टा रहे, प्रतिक्रिया न करे। द्रष्टाभाव का विकास होते ही प्रतिक्रियाएं पीछे रह जाती हैं।

प्रेक्षा ही तटस्थता

मध्यस्थता या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रंजित नहीं होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनों की उपेक्षा करता है—दोनों को निकटता से देखता है इसलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नहीं किया जा सकता। जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है, उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।

चक्षु दृश्य को देखता है, पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है तब न वह कर्मबंध करता है और न विपाक में आए हुए कर्म का वेदन करता है। जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है वह व्याधि या अन्य आगन्तुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नहीं होती किंतु कर्म बन्ध, सत्ता, उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

प्रश्न होता है कि किसे देखें ? क्या देखें ? अच्छा-बुरा जो भी आए उसे देखें। क्रोध आए तो उसे भी देखो। मान आए तो उसे भी देखो। वास्तव में जो क्रोध को देखता है, वही मान को देखता है। क्रोध हमारी सबसे स्थूल वृत्ति है। यह सबके समक्ष प्रत्यक्ष होती है। मान छिपा रहता है। प्रकट कम होता है। क्रोध तत्काल प्रकट हो जाता है। क्रोध को देखो, मान को देखो। इसका पूरा चक्र है। देखते-देखते दुःख तक चले जाओ। दुःख को देखना प्रारम्भ करो। उपायों को देखो, हेतुओं को देखो। आतंक को देखो। परिणाम को देखो। क्रोध का परिणाम है—दुःख। दुःख को देखो। सुख को भी देखो। सुख के संवेदनों को देखो। दुःख के स्पन्दनों को देखो। समत्व को देखो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तटस्थता को देखो। अन्यदर्शी को देखो। उसको देखो जहां दूसरा कोई नहीं है। चेतना के उस शुद्ध स्वभाव को देखो जहां जानने-देखने के सिवाय कुछ भी नहीं है। वही परम दर्शन है। उसके आगे कुछ भी नहीं है। देखने में यह भेदरेखा मत खींचो कि इसे देखूंगा और उसे नहीं देखूंगा। अच्छे को देखूंगा। बुरे को नहीं देखूंगा। देखने के क्षेत्र में अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं होता। ये विकल्प होते हैं—सोचने-विचारने के क्षेत्र में। जो भी आए देखते रहो। देखते-देखते वह बिन्दु आ जाएगा जहां आगे देखना शेष नहीं है। परम आ जाएगा। वहां हमारी यात्रा की संपन्नता होगी, अनन्य आ जाएगा। तब हम अपने शुद्ध चैतन्य के अनुभव में, ज्ञान और दर्शन की समग्रता में पहुंच जाएंगे। वहां केवल जानना देखना ही रहेगा और सब समाप्त। यह यात्रा का अन्तिम बिन्दु है।

समत्व की दूसरी अवस्था है—तटस्थता

समत्व का अर्थ है तटस्थता। तुम तटस्थ रहो। एक ओर मत झुको। इस संसार में कभी कुछ अप्रिय घटित होता है और कभी कुछ प्रिय घटित होता है। कभी वह घटित होता है जो हम चाहते हैं और कभी वह घटित होता है जो हम नहीं चाहते। चाहा भी घटित होता है, अनचाहा भी घटित होता है। अब यदि इसके साथ हमारे मन का चक्का भी घूमता रहेगा तो इतनी उलझने बढ़ जाएंगी कि अन्ततः आत्म-हत्या के सिवाय कोई विकल्प नहीं बचेगा। एक आदमी का जब मनचाहा होता है तब वह अत्यन्त प्रसन्न रहता है। जब वह देखता है कि विश्व के इस क्षितिज पर अनचाहा भी घटित हो रहा है तब उसका मन उलझनों से भर जाता है। इन उलझनों से पार जाने के लिए वह आत्म-हत्या को कारगर मान बैठता है।

एक सुन्दरी है। फिल्म अभिनेत्री या नर्तकी है। वह अभी यौवन की दहलीज पर है। राष्ट्र या विश्व में उसका सम्मान होता है। वह विश्व-प्रसिद्ध हो जाती है। उसकी अवस्था बदलती है। वह यौवन को पार कर वृद्धावस्था की ओर बढ़ती है। अब उसे लगता है कि उसे कम सम्मान मिल रहा है। उसका आकर्षण कम हो गया है। जो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त थी, वह धीरे-धीरे कम हो रही है। लोगों में जो प्रियता थी, वह कम हो रही है, तब वह सुन्दरी सन्तुलन खो बैठती है और अपने जीवन को समाप्त करने पर तुल जाती है। इस प्रकार अनेक महिलाओं ने आत्म-हत्या कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की है। ऐसा क्यों होता है ? यह इसलिए नहीं होता है कि पहले जो सम्मान प्राप्त था वह आज नहीं है, जो प्रियता या आकर्षण था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह आज नहीं है। किन्तु यह इसलिए घटित होता है कि मन के साथ एक रागात्मक भाव जुड़ा था, उसकी अब पूर्ति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में मन को इतनी गहरी ठेस लगती है कि व्यक्ति तिलमिला उठता है, वह अपने आपको संभाल नहीं पाता।

एक व्यक्ति के पास करोड़ों की संपत्ति है। क्या उसके लिए इतनी संपत्ति उपयोगी है ? नहीं। वह उस संपत्ति को भूमि में गाड़कर रखेगा। क्या उसका कोई उपयोग है ? फिर भी मन में एक रागात्मक भाव जुड़ा हुआ है कि यह मेरा है। यह मेरी संपत्ति है। यह भाव उसे संतोष दे रहा है। उससे मानसिक संतोष मिलता है, मानसिक तृप्ति मिलती है। जिस दिन संपत्ति चली जाती है या उस पर रहा हुआ स्वामित्व छूट जाता है, तब आदमी अस्त-व्यस्त, आकुल-व्याकुल हो जाता है। स्वामित्व छूटने से क्या अन्तर पड़ा ? कोई भी अन्तर नहीं पड़ा। वह संपत्ति तो वहीं की वहीं पड़ी है। वैसी की वैसी है। केवल स्वामी बदला है। किन्तु मन का वह धागा टूट गया है। अब वह एकांत में या जंगल में जाकर रहने की सोचता है। देश को छोड़ देने की बात सोचता है या शरीर को छोड़ देने की बात सोचता है। यह सब इसलिए होता है कि व्यक्ति में तटस्थता नहीं है। जब व्यक्ति तटस्थ नहीं होता तब वह प्रत्येक परिस्थिति के साथ अपने आपको जोड़ देता है। वह मन को परिस्थिति से अलग नहीं रख पाता। जब समत्व की अवस्था जागती है तब तटस्थता भी जाग जाती है। जो व्यक्ति तटस्थ होता है, वह लाभ-अलाभ, जो भी घटित होता है उसे जान लेता है, उसे देख लेता है, पर उसमें लिप्त नहीं होता। अपने को उसके साथ नहीं जोड़ता। जान लेता है, भोगता नहीं। जानने वाला न दुःखी होता है और न सुखी होता है, भोगने वाला दुःखी भी होता है और सुखी भी होता है। दोनों भार उसे उठाने पड़ते हैं। समत्व की दूसरी अवस्था है—तटस्थता।

तटस्थता का फलित—मानसिक स्वास्थ्य

मानसिक स्वास्थ्य की एक कसौटी है। जो व्यक्ति मन से स्वस्थ होता है वह अच्छा व्यवहार करने वाले के प्रति अच्छा व्यवहार करता है और उस व्यक्ति के प्रति भी अच्छा व्यवहार करता है जो प्रतिकूल व्यवहार करता है। अच्छे के प्रति अच्छा और बुरे के प्रति भी अच्छा। वह ऐसा इसलिए करता है कि यदि सामने वाला व्यक्ति मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ है तो क्या वह भी अस्वस्थ हो जाए। वमन करने वाले को देखकर क्या स्वयं भी वमन करने लग जाए। मन की स्वस्थता रखने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिकूल व्यवहार वही व्यक्ति करता है जो मन से दुर्बल है, मन से अस्वस्थ है। जिन व्यक्तियों ने इस सूत्र का विकास किया है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ईंट का जबाब पत्थर से—वे व्यक्ति वास्तव में ही मन से रोगी थे। यदि वे स्वस्थ होते तो इस प्रकार के सूत्रों का प्रतिपादन नहीं होता। आवश्यकता यह है कि सामने वाला व्यक्ति यदि मन से दुर्बल है, अस्वस्थ है तो तुम अपने मानसिक स्वास्थ्य का परिचय दो और उसे यह समझने का अवसर दो कि तुम अपने मन से रुग्ण नहीं हो, मन से स्वस्थ हो।

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुरक्त होने और उससे भिन्न वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्विष्ट होने का अर्थ पक्षपात है। पक्षपात यानी विषमता। राग और द्वेष से होने वाले अन्याय के परिणामों को समझे बिना क्या कोई भी व्यक्ति मानसिक झुकाव से बच सकता है ?

कोई व्यक्ति उन्मार्ग की ओर जा रहा है। उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना कर्त्तव्य है, किन्तु बल-प्रयोग के द्वारा उस कर्त्तव्य की पालना नहीं हो सकती। हृदय परिवर्तन का प्रयत्न करने पर भी यदि सामने वाला व्यक्ति उन्मार्ग से विमुख नहीं होता है तो उसके लिए प्रतीक्षा ही की जा सकती है किन्तु क्रोध करके अपने मन को धूमिल और परिस्थिति को जटिल बनाना समुचित नहीं हो सकता। उलझन-भरी परिस्थिति व वातावरण में अपने मानसिक संतुलन को बनाए रखने का अभ्यास करने, न्याय के प्रति दृढ़ निष्ठा होने तथा हृदय परिवर्तन के सिद्धांत में आस्था होने से मध्यस्थता का संस्कार सुस्थिर होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'उवेहमाणो अणुवेहमाणं बुया उवेहाहि समियाए'—मध्यस्थभाव रखने वाला व्यक्ति मध्यस्थभाव न रखने वाले से कहता है—'तुम सत्य के लिए मध्यस्थ भाव का आलम्बन लो।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्तव्यनिष्ठा अनुप्रेक्षा

कर्त्तव्यनिष्ठा सदाचार की प्रेरक शक्ति है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कर्म से विरत रहता है। जब कभी उनके चरण प्रमाद की ओर बढ़ते हैं, कर्त्तव्य की प्रेरणा उसे मोड़ देती है और वह सत्संकल्प कर लेता है।

मानवीय एकता का संघाटक ही कर्त्तव्य हो सकता है। उसकी प्रेरणा समानता है। जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की भिन्नता में भी मानवीय अभिन्नता है। उसे गौण करने का मुख्य हेतु है व्यक्तिगत आकांक्षा और अहम्। अपनी समृद्धि और बड़प्पन में जो रस है, वह एक सीमा तक न्याय-संगत हो सकता है किन्तु जब वह दूसरों को संकट में डालने लगता है तब सर्वमान्य न्याय-संगत धरातल के नीचे उतर जाता है।

अध्यात्म और व्यवहार

अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई भी नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है, वह व्यवहार करता है। व्यवहार के बिना वह जी नहीं सकता, उसका जीवन चल नहीं सकता। किंतु दोनों का व्यवहार बहुत भिन्न होता है। आचारांग सूत्र का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति को अन्यथा व्यवहार करना चाहिए। व्यवहार की भूमिका पर जीने वाले की तरह नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे भिन्न प्रकार से व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा व्यवहार करना चाहिए।

हम 'अन्यथा' शब्द को समझें, इसके तात्पर्य को समझें। व्यावहारिक व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नहीं होता, वह प्रतिक्रियात्मक होता है। वह सोचता है, उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया है तो मैं उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करूं। यह क्रियात्मक व्यवहार नहीं, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति में कर्त्तव्य की स्वतंत्र प्रेरणा नहीं होती और कर्त्तव्य का स्वतंत्र मूल्य भी नहीं होता। उसका कर्त्तव्य स्व-संकल्प से प्रेरित नहीं होता, वह होता है दूसरों से प्रेरित। वर्तमान के आचार-शास्त्रियों और दार्शनिकों ने आचार के मूल्य की मीमांसा में इस प्रश्न पर बहुत चर्चा की है कि हमारे कर्त्तव्य की प्रेरणा और हमारे कर्त्तव्य का स्वरूप क्या होना चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा—'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य होना चाहिए, न दया के लिए, न अनुकम्पा के लिए और न दूसरों का भला करने के लिया। ये सब नैतिक कर्म के हामी नहीं हैं और उससे सम्बद्ध भी नहीं हैं। केवल मनुष्य का स्वतंत्र संकल्प उसका स्वलक्ष्य मूल्य है। इसीलिए कर्त्तव्य के लिए ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए।'

कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की यह बात बहुत ही मूल्यवान् है। यह क्रियात्मक बात है, प्रतिक्रियात्मक नहीं। कोई व्यक्ति दया का पात्र है, उस पर कोई दया करता है तो यह कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है। यह प्रतिक्रिया है। मैं पर को आत्मा के समान समझता हूं और उसके साथ मैत्री का व्यवहार करता हूं, यह स्वतंत्र कर्त्तव्य है, स्वतंत्र मूल्य है, क्रियात्मक कार्य है।

कर्त्तव्य-बोध

रचनात्मक दृष्टिकोण का दूसरा सूत्र है कर्त्तव्य-बोध। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का बोध होना चाहिए। जिस समाज में कर्त्तव्य-बोध नहीं होता, वहां ध्वंस शुरू हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य होता है, दायित्व होता है। जहां कर्त्तव्य-बोध और दायित्व होता है, वह समाज स्वस्थ होता है।

कर्त्तव्य और दायित्व-बोध

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बहुत जरूरी होता है कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध, कर्त्तव्य की चेतना का जागरण और दायित्व की चेतना का जागरण। आखिर दंड और यंत्रणा से कब तक कार्य चलेगा ? क्या पूरे जीवन-काल तक आदमी नियंत्रण से रहेगा ? क्या यह भय निरंतर सबके सिर पर सवार ही रहेगा ? भयभीत समाज सदा रोग-ग्रस्त रहता है, वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। भय सबसे बड़ी बीमारी है। भय तब होता है जब दायित्व और कर्त्तव्य की चेतना नहीं जगती। जिस समाज में कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना जाग जाती है उसे डरने की जरूरत नहीं होती।

जिन लोगों में दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति उन बातों से ऊपर उठ जाते हैं। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते हैं। जिन्हें दायित्व की अनुभूति हो जाती है, उन्हें दायित्व सौंपकर बदलने का प्रयत्न किया जाता है। लोग तो सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य नहीं था, फिर इस पर यह दायित्व क्यों डाला गया ? किंतु मैं यह अनुभव करता हूं कि दायित्व डालने पर उस व्यक्ति में सचमुच परिवर्तन आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। परन्तु दायित्व की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें भी परिवर्तन आने लग जाता है। चरित्र-निर्माण की दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

युवक का कर्त्तव्य-बोध

हम धर्म की बात सोचते हैं तो वह देशातीत और कालातीत बात होती है। उसमें देश और काल की कोई मर्यादा नहीं होती। न कोई बालक, न कोई बूढ़ा और न कोई युवक। किन्तु जहां व्यवहार की क्रियान्विति का प्रश्न होता है, वहां देश को भी मानना होता है और काल को भी मानना होता है। उन दोनों से हटकर हम व्यवहार को नहीं चला सकते, कोई भी क्रियान्विति नहीं कर सकते।

युवक शब्द भी एक काल की संज्ञा को सूचित करता है। यौवन दो अवस्थाओं के बीच एक शक्ति की अवस्था है। बालक में क्षमताएं होती हैं किन्तु विकसित नहीं होती, क्योंकि उसका शरीर-तंत्र समर्थ नहीं होता। बूढ़े में शरीर-तंत्र और क्षमताएं दोनों विकासातीत हो जाती हैं, विकास से परे चलने लग जाती हैं। उसके शरीर की बहुत सारी कोशिकाएं, मस्तिष्क की बहुत सारी कोशिकाएं खप चुकती हैं और शरीर का तंत्र शिथिल हो जाता है। उसमें अनुभव होते हुए भी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। इन दोनों के बीच की अवस्था है—यौवन। युवा दोनों के बीच में है। उसमें शरीर की क्षमता भी है और क्रियान्विति की क्षमता भी है। इसीलिए युवक एक शक्ति का या शक्ति की अभिव्यक्ति का स्रोत होता है। इसलिए युवक से बहुत आशाएं होती हैं। कोई भी देश, कोई भी समाज, कार्य-क्षमता का जहां प्रश्न है, वहां युवकों को आगे रखता है। चाहे देश-रक्षा का कार्य हो, चाहे समाज सेवा का कार्य हो, चाहे और कोई दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य हो, युवक की अपेक्षा होती है। किन्तु युवक के लिए भी बहुत कठिनाई है। कठिनाई इसलिए कि एक ओर उसके शरीर के सारे उपकरण बहुत सक्रिय होते हैं। रक्त भी बहुत तेज बहता है। दूसरी ओर दुनिया का वातावरण उसके प्रतिकूल भी हो सकता है और होता भी है। उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करना, दोनों के साथ संगति जुटा लेना बहुत कठिन बात है और यही संघर्ष आज सारी दुनिया में चल रहा है। आज के साहित्य का एक शब्द है—**'भोगा हुआ यथार्थ।'** हमें केवल कल्पना के जीवन में नहीं जीना। युवक में बहुत कल्पनाएं उभरती हैं। उसका घरेलू पक्ष उसके अभिभावकों के हाथ में होता है। समाज का क्षेत्र कुछ पुराने कार्यकर्त्ताओं के हाथ में होता है तो युवक के लिए कल्पना करने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत अवकाश रहता है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि कल्पना तब तक अर्थवान् नहीं होती जब तक कि 'भोगे हुए यथार्थ' पर हम नहीं चल पाते। हमारा जीवन यथार्थ का होना चाहिए।

हमारी कल्पनाएं तब तक अर्थवान् नहीं होती, मूल्यवान् नहीं होतीं जब तक हमें यथार्थ का बोध नहीं होता, अपने ही पैरों के नीचे भी भूमि का बोध नहीं होता। यथार्थ पर चले बिना कोई भी आदमी आगे नहीं बढ़ सकता। दुनिया में इतने गड्ढे हैं कि पग-पग पर उसमें गिर पड़ने की संभावना बनी रहती है। गड्ढों को पार कर वही आगे बढ़ सकता है जो यथार्थ की आंख से अपने पैरों के नीचे धरातल को देखकर चलता है। आज की सामाजिक परिस्थिति, आज की राजनैतिक परिस्थिति और आज की धार्मिक परिस्थिति—तीनों परिस्थितियां हमारे सामने हैं। दुनिया का जो वातावरण है, उससे कोई भी बच नहीं सकता। जो व्यक्ति व्यवहार में चलता है, वह स्वयं प्रभावित होता है और प्रभावित करता है। हम प्रभावों को ग्रहण करते हैं किन्तु आने वाले प्रभावों से अपने आपको कितना बचा सकते हैं और कितना लाभ उठा सकते हैं, यह है यथार्थ की भूमिका। यदि हम इस भूमिका पर वास्तव में चलें तो जो प्रभाव आ रहे हैं उनसे लाभ उठा सकते हैं। लाभ उठाना बहुत जरूरी है, क्योंकि मैं मानता हूं कि वर्तमान में बहुत सारी चीजें ऐसी अच्छी हैं जो पुराने काल में नहीं थीं। उन-उन चीजों से हमें लाभ भी उठाना चाहिए। कुछ चीजें व्यर्थ होती हैं, उनसे अपने आपको बचाना चाहिए। दोनों बातें बराबर होनी चाहिए। उसके लिए यथार्थ की भूमिका पर चलना बहुत जरूरी है।

आज युवक का मतलब एक 'क्रांति' से जुड़ गया। आवेश और युवक एक दूसरे के पर्याय जैसे हो गए। एक बार मैं डॉ० कोठारी से बात कर रहा था। मैंने पूछा, 'आज के विश्वविद्यालयों में इतने उग्र आंदोलन हो रहे हैं तो क्या आप इनसे सहमत हैं ?' उन्होंने कहा, 'देखिए महाराज ! मैं मानता हूं कि आज व्यापारी वर्ग में कोई क्षमता नहीं है। राज्य कर्मचारियों में तो है ही नहीं कि वे बुराई का प्रतिकार कर सकें। आज जितना अन्याय चल रहा है, उसके प्रति एकमात्र प्रतिकार की शक्ति किसी में है तो वह है युवक और विद्यार्थी में। विद्यार्थी ही सचमुच क्रान्ति कर सकता है और उसमें वह क्षमता भी है। इसलिए विद्यार्थी की क्षमता को और उसकी क्रांति करने की शक्ति को हमें नहीं कुचलना है, नहीं रोकना है। मैं युवक के इस पक्ष का समर्थक हूं। किन्तु इतना जरूर है कि आवेश के स्थान पर थोड़ा संतुलन, थोड़ा विचार और थोड़ा विवेक होना चाहिए।' उनकी शक्ति को रोकना नहीं है। शक्ति का उपयोग करना है और शक्ति का उपयोग होना भी चाहिए। इण्डोनेशिया में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कुछ परिवर्तन हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में युवक वर्ग था। विद्यार्थियों ने सारे शासन को पलट दिया। आज ऐसा कहीं भी हो सकता है। यदि आज के समूचे विद्यार्थी, हिन्दुस्तान के करोड़ों-करोड़ों विद्यार्थी अगर बात को पकड़ लें तो शायद हिन्दुस्तान का भी काया-कल्प हो सकता है। किन्तु मुझे लगता है कि शक्ति का सही नियोजन नहीं हो रहा है। शक्ति का सही दिशा में नियोजन हो और उसके साथ विवेक और सन्तुलन हो जाए और सही मार्ग-दर्शन हो तो उसकी सम्भावनाएं बढ़ सकती हैं। आज निर्माण की अपेक्षा है। किन्तु निश्चित मानिए निर्माण तब तक नहीं होगा जब तक कि चरित्र का विकास नहीं होगा। आज हिन्दुस्तान की सारी कठिनाई, सारी गरीबी इस बात पर पल रही है कि यहां भ्रष्टाचार बहुत है। पुल बनता है तो एक ही वर्षा में टूट जाता है। बांध बनता है तो एक ही वर्षा में उसमें दरारें पड़ जाती हैं। मकान बनता है तो काम में आने से पहले ही ढह जाता है। यह सारा इसीलिए होता है कि सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार खुलकर चल रहा है। आज धन के प्रति इतना व्यापक मोह है कि जो होना चाहिए उसका उलटा परिणाम आ रहा है।

आज के युवक को यथार्थ की भूमिका का अनुभव करना चाहिए। पहली बात है कि केवल बातों पर भरोसा नहीं, कार्य क्षमता में विश्वास होना चाहिए। एक व्यक्ति ने बताया—अमरीकी लोग सप्ताह में दो दिन तो पूरी छुट्टी मनाते हैं, किन्तु पांच दिन वे निष्ठापूर्वक तन्मयता से काम करते हैं। जितना काम वे पांच दिन में करते हैं, उतना ही हिन्दुस्तानी युवक शायद पांच सप्ताह में नहीं कर सकता। कर्त्तव्यनिष्ठा के बिना ऐसा सम्भव नहीं होता।

कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली बात है आत्मसेवा का संकल्प—स्व-निर्माण। दूसरी बात है तीर्थ-सेवा का संकल्प—जन-निर्माण।

एक बात याद आ रही है, दादा धर्माधिकारी की। जब मैं दिल्ली शिविर में था तो उन्होंने एक बात कही, 'यदि अणुव्रत वाले या जैन लोग समता का प्रयोग करें, एक ऐसा कारखाना, एक ऐसा उद्योग और फैक्टरी चलाएं जिसमें कोई मालिक न हो और मजदूर न हो, सब समभागी हों, काम करने वाला हर व्यक्ति उसे संचालित करने वाला हो, उसका डायरेक्टर, उसका श्रमिक सब-के-सब समभागी हों। न कोई स्वामी हो, न कोई सेवक। न कोई मिल-मालिक हो, न कोई मजदूर। अगर एक भी ऐसा प्रयोग हो जाय तो हम देखेंगे कि अध्यात्म में आज भी प्राण है और अध्यात्म में आज भी शक्ति है। अध्यात्म और अपरिग्रह का आज भी प्रयोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक समतावाद का प्रयोग किया जा सकता है और यदि वह नहीं किया जा सकता तो फिर अध्यात्म, अपरिग्रह और समता—इन शब्दों को सदा के लिए दफना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देना चाहिए। क्यों भार ढोते फिरेंगे इनका, यदि कोई प्रयोग नहीं हो सकता है तो ? क्या केवल शब्दों का भार ढोना है ? आगे ही सिर पर बहुत भार है और बेचारे गृहस्थों पर कितना भार है ! कमाई का भार, परिवार को चलाने का भार, महंगाई का भार, कितनी समस्याओं का भार, इनकमटैक्स का भार, मृत्यु टैक्स का भार, सारे भार ढोते-ढोते छोटे-से दिमाग को परेशानी हो रही है।

आज के युवक में कहां है अध्ययन ? मैं मानता हूं कि क्रियान्विति के लिए सबसे पहले विचार-विकास की आवश्यकता होती है। बौद्धिक क्षमता बढ़ती है तो सारी बातें बढ़ती हैं। आज के संसार में बौद्धिक विकास चरम सीमा को छू रहा है। प्रतिदिन नये-नये आयाम खुल रहे हैं। साधारण-से-साधारण विषय पर इतना अन्वेषण और सूक्ष्म अध्ययन हुआ है कि एककोषीय जीव जैसे साधारण-से लगने वाले विषय पर 'चेम्बर डिक्शनरी' जैसी बीस-बीस पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जो व्यक्ति आज के विचार और विकास के सम्पर्क में नहीं रहता, अगर दो सप्ताह तक वह उससे कट जाता है तो वह पिछड़ जाता है। इतनी तेज गति से और इतनी तेज रफ्तार से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता चला जा रहा है। उस स्थिति में यदि अध्ययन की उपेक्षा की जाती है तो व्यक्ति युग के साथ कैसे चल सकता है ? कैसे हमारा युग-बोध स्पष्ट हो सकता है ? आज का युवक पढ़ता तो है किन्तु ऐसे उपन्यास जो रोमांटिक हैं, ऐसे उपन्यास जो जासूसी से भरे-पूरे हैं। वे कहानियां जो सेक्स से भरी-पूरी हैं, जीवन के विकास में इनका कोई बड़ा योगदान नहीं होता। जब तक अध्ययन की गम्भीरता नहीं आती तब तक कोई बड़ी बात नहीं हो सकती। निश्चित मानिए—ऊंचाई हमेशा गम्भीरता के साथ पैदा होती है बड़े भवन को खड़ा करना है, पचास मंजिल और सौ मंजिल का प्रासाद खड़ा करना है तो गहराई में जाना होगा। उस मकान को बालू की नींव पर खड़ा कर दें या बिना नींव के खड़ा कर दें, किन्तु वह टिकेगा नहीं, ढह पड़ेगा। मजबूत मकान के लिए मजबूत नींव की आवश्यकता होती है। गहराई के बिना ऊंचाई सम्भव नहीं है। हम तीन आयामों में फैलते हैं—लम्बाई, ऊंचाई और चौड़ाई। इन सारी बातों में फैलने के लिए गहराई की बहुत जरूरत है और गहराई विचार विकास के बिना नहीं आ सकती। आज तत्त्वज्ञान का जितना विकास हुआ है, सत्य का जितना प्रकटीकरण हुआ है, जितना सत्य दुनिया के सामने प्रस्तुत किया गया है वह आध्यात्मिकता के द्वारा, उन आध्यात्मिक लोगों ने किया, जो ध्यान की गहराई में चलते चले गये, डुबकियां लेते रहे और गहरे-से-गहरे उतरते चले गये। भौतिक क्षेत्र में भी उन व्यक्तियों ने ही अपूर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देन दी है जो अध्ययन और विचार की गहराई में गये हैं। चाहे बिजली, चाहे बड़े-बड़े प्रासाद, चाहे सड़कें, चाहे बड़े-बड़े कारखाने, चाहे जीवन की सुख-सुविधा के सारे साधन और उपकरण उन्हीं लोगों ने दिये हैं जिन्होंने गहराई में जाकर सोचा है। हमारे किसान सैकड़ों वर्षों से खेती करते चले आ रहे हैं, पारिवारिक ढंग से करते चले आ रहे हैं किन्तु आज लाल अमरूद भी पैदा किए जा रहे हैं। अनेक फलों में अनेक प्रकार की सुगन्धें भी पैदा की जा रही हैं। ये सारे प्रयोग किस आधार पर हो रहे हैं ? सारे विज्ञान और ज्ञान की गहराई के आधार पर हो रहे हैं। अन्यथा जैसा चलता था वैसा ही चलता रहता। हमारे लोग झोंपड़ों में रहते थे। शताब्दियों तक झोंपड़ों में रहते ही चले गए। उन्हें उससे आगे कभी कुछ नहीं सूझा। ऐसा क्यों हुआ ? साथ में अध्ययन नहीं था। अध्ययन के बिना विकास नहीं होता। जो विकास होता है, वह अध्ययन के आधार पर ही होता है। कर्म और ज्ञान—ये दो हैं। ज्ञान गहराई है और कर्म उसकी ऊंचाई है या अभिव्यक्ति है। व्यक्त और अव्यक्त ये दो बातें हैं। भारतीय दर्शन में व्यक्त और अव्यक्त की चर्चा बहुत मिलेगी। अव्यक्त नीचे रहता है, छिपा हुआ रहता है। व्यक्त हमारे सामने आता है, प्रकट रहता है। किन्तु कोई भी व्यक्त अव्यक्त के बिना नहीं होता। जिस व्यक्त के नीचे अव्यक्त नहीं है, वह कभी व्यक्त नहीं हो सकता। व्यक्त हो सकता है ज्ञान के आधार पर, जब कर्म का योग मिलता है। हमारा कर्म इसलिए विकसित नहीं हो रहा है कि हमारे ज्ञान में गहराई नहीं है। यदि ज्ञान में गहराई हो तो कर्म विकसित होने का मौका मिलेगा। युवक को अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए और अध्ययन भी वैसा अध्ययन जो शतशाखी बन सके।

हमें जीवन का नया मोड़ देना है। नया मोड़ देने के लिए जो पहली शर्त होगी वह है—चरित्र-निर्माण, आत्म-निर्माण। महावीर को आज के इतिहासकारों ने नीति का प्रथम प्रतिष्ठापक बतलाया है। जिन्होंने नीति का प्रतिपादन किया उनमें सबसे पहला नाम भगवान् महावीर का आता है। महावीर ने धर्म के साथ नीति का प्रतिपादन किया। महावीर ने कभी नहीं कहा कि मेरी पूजा करो। महावीर ने कभी नहीं कहा कि मेरा नाम जपो। उन्होंने कभी नहीं कहा कि मेरे नाम पर बैठे रहो और भगवान् के भरोसे (राम भरोसे) बैठे रहो। महावीर पुरुषार्थवादी थे। वे पराक्रम में विश्वास करते थे। उन्होंने यही कहा कि तुम सच्चे बनो। उन्होंने नीति-धर्म का प्रतिपादन किया, चरित्र धर्म का प्रतिपादन किया। युवकों के लिए सबसे पहली बात जो करणीय है, वह है आत्म-निर्माण की दिशा में गति और प्रयत्न।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारी का कर्त्तव्य-बोध

सबसे पहले हम यह निर्धारण करें कि हमें समाज को कैसा बनाना है इसके पश्चात् हम सबसे पहले स्त्रियों को प्रबुद्ध करें और उन्हें एक ऐसा संकल्प दें कि उन्हें कैसे पुत्र पैदा करना है ? यह बहुत ही कार्यकारी बात होगी। माता के मन में जो संकल्प होता है, जैसा पुत्र वह चाहती है, यदि संकल्प बलवान् होता है तो वैसा ही पुत्र उसे प्राप्त हो जाता है। दुनिया में जितने भी शक्तिशाली पुरुष हुए हैं, उनकी शक्ति के पीछे माता के दृढ़ सकंल्प ने भी काम किया है। जो माता गर्भ से पूर्व या पश्चात् अच्छे संकल्प करती है, अच्छे व्यवहार करती है, अच्छा साहित्य पढ़ती है, अच्छे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र शक्तिशाली होता है। जिसकी माता हीन भावना से ग्रस्त होती है, बुरे भाव रखती है, बुरे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र कभी शक्तिशाली नहीं होता। वह डरपोक ही नहीं, अंगहीन भी होता है।

महिलाओं में भी शक्ति होती है। वे बड़े-बड़े कार्य कर सकती हैं। आचार्यश्री की यात्रा के माध्यम से हमने देखा कि कुछेक महिलाओं ने व्यवस्थित शिक्षा-संस्थान चलाने में अपना कीर्तिमान स्थापित किया है। महिलाए कार्य कर सकती हैं—इनमें मुझे संदेह नहीं है। वे अपनी शक्ति को इस दिशा में नियोजित करें तो आश्चर्यकारी कार्य संपन्न हो सकते हैं। वे इस बात में न उलझें कि स्त्री दुर्बल है या पुरुष दुर्बल है। कोई दुर्बल नहीं है। दुर्बलता और सबलता का कथन सापेक्ष होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में नारी को राक्षसी कहा गया है। क्या पुरुष राक्षस नहीं होता ? पुरुष भी राक्षस होता है और नारी भी राक्षसी होती है। पुरुष भी देवता होता है, नारी भी देवी होती है। जहां नारी को राक्षसी कहा गया वहां यह भी कहा गया, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:'। यह सब सापेक्ष कथन है, इतिहास में प्राप्त होता है कि अतीत में भारतीय समाज में दो प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित थीं। एक थी पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था और दूसरी थी मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था। पुरुष प्रधान व्यवस्था थी तो नारी प्रधान व्यवस्था भी थी। आज भी सीमांत प्रदेशों में ऐसी जातियां हैं जहां स्त्री प्रधान होती है। पुरुष रसोई बनाता है, सन्तान का पालन करता है। नारी बाजार जाती है, सौदा लाती है। पुरुष घूंघट निकालता है, नारी खुले मुंह मुक्त विचरण करती है। ये सब देश-काल सापेक्ष स्थितियां हैं। यदि इन्हें हम शाश्वत सत्य मान लें तो बड़ी भ्रांति होगी। हमें सापेक्ष ही मानना चाहिए। हमें यह सोचना चाहिए कि हमें क्या बनना है, हमें क्या करना है ? इस प्रश्न को सुलझाने से पहले हमें यह स्वीकार करना होगा कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियों के पिछड़ने में उनकी अशिक्षा ही मूल-भूत कारण है। यह सच है कि शिक्षा ही सब कुछ नहीं है; किन्तु उसका भी अपना महत्त्व है। शिक्षा यह पहली भूमिका है। जब तक यह पहली भूमिका तैयार नहीं होगी तब तक अगली भूमिकाएं प्राप्त ही नहीं होंगी। महिलाओं का यह प्रथम कार्य है कि वे ज्ञान की दिशा में आगे बढ़ें। वे अक्षर ज्ञान के प्रचार में अपना समय दें। वे स्वयं शिक्षित बनें और अपनी बहिनों को भी शिक्षित करने का प्रयास करें। जब ज्ञान जागता है तब हीन-भावना समाप्त हो जाती है, स्वयं की शक्ति का भान होता है और कुछ करने की बात प्राप्त होती है।

स्त्रियां यदि स्वाध्याय-मण्डल और ध्यान-मण्डल का संचालन करना प्रारम्भ करती हैं तो अशिक्षा का वातावरण कुछ अंशों में समाप्त हो जाता है।

स्त्रियों को सबसे पहले अपने आपको शक्तिशाली बनाना होगा। जो शक्तिशाली नहीं होता उसकी कोई सहायता नहीं करता। देव भी उसी की सहायता करता है जो पुरुषार्थी और पराक्रमी होता है।

स्त्रियां अपने कर्त्तव्यों की लौ को प्रज्वलित करें और ज्ञान बढ़ाएं। कुछ ही वर्षों में ऐसा परिवर्तन आएगा कि लोग नारी की दुर्बलताओं को भूलकर यह सोचने के लिए बाध्य होंगे की नारी की शक्ति का कैसे उपयोग किया जाए ?

कर्त्तव्य-परायणता

कर्त्तव्य-परायणता की सबसे पहली शर्त है—निष्ठा और जागरूकता। जिस व्यक्ति की कर्त्तव्य-पालन में निष्ठा है, वह प्रमाद, अन्याय और मुफ्तखोरी जैसा कोई काम नहीं कर सकता। कर्त्तव्य-भावना की कमी का कारण राष्ट्रीय प्रेम की न्यूनता भी है। अपने राष्ट्र के प्रति उदात्त प्रेम होगा तो प्रमाद जैसी स्थिति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। परिवार और अपने चरित्र-बल के लिए भी व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं। श्रमिक अणुव्रत के ये विधान कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने के लिए ही हैं। जिस श्रमिक का जीवन संस्कारी होता है, जिसमें किसी प्रकार का दुर्व्यसन नहीं होता, जो जुआ नहीं खेलता, बाल विवाह, मृत्युभोज जैसी सामाजिक कुरुतियों को प्रश्रय नहीं देता, अपने अर्जित अर्थ का सुरा, सिनेमा, सिगरेट आदि आदतों की पूर्ति के लिए अपव्यय नहीं करता, श्रम से जी नहीं चुराता और अपने दायित्व के प्रति जागरूक रहता है वह श्रमिक कभी कर्त्तव्य-च्युत नहीं हो सकता। श्रमिक जीवन एक प्रशस्त जीवन पद्धति ही नहीं, देश की बहुत बड़ी शक्ति है। श्रमिक अणुव्रत की धाराएं इस शक्ति को चारित्रिक सम्पदा से परिमंडित कर कर्त्तव्यपालन की अपूर्व क्षमता दे सकती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा

ध्यान एक परमपुरुषार्थ है, यह दृष्टि जब तक स्पष्ट नहीं हो जाती है, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। दृष्टि की स्पष्टता किसी भी कार्य की सफलता का वह बिंदु है, जिसे नजर अन्दाज कर कोई भी व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता। ध्यान से शक्ति का अर्जन होता है और उस अर्जित शक्ति से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

कुछ लोग ध्यान को निष्क्रियता का प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि में ध्यान का प्रयोग वे व्यक्ति करते हैं, जिसके पास कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता। पर मैं इस मान्यता से सहमत नहीं हूं। मेरे अभिमत से यह चिंतन उन लोगों का हो सकता है जो ध्यान की विधि से परिचित नहीं हैं और उस प्रक्रिया से गुजरे नहीं हैं। जो ध्यान अकर्मण्यता को निष्पन्न करता है, मैं उसे ध्यान मानने के लिए भी तैयार नहीं हूं। ध्यान की शक्ति इतनी विस्फोटक होती है कि वह मानव चेतना में छिपी हुई अनेक विशिष्ट शक्तियों का जागरण कर मनुष्य को कहां से कहां पहुंचा देती है।

मैं चाहता हूं कि हमारे साधक निराश या भय से मुक्त हों और प्रलोभन के प्रवाह में न बहें। भय और प्रलोभन से चित्त विक्षिप्त होता है। इसलिए सही पथ दर्शन में सही गुर सीखकर उसका अभ्यास करना चाहिए। इस क्रम से अपना ही नहीं समूची मानवता का भला हो सकता है।

पुरुषार्थ हर व्यक्ति के हाथ की बात है, पर ध्यान का पुरुषार्थ कोई-कोई ही कर सकता है। इसीलिए हर व्यक्ति को इसके लिए प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। ध्यान का पुरुषार्थ करने वाले व्यक्तियों को दो बातों पर ध्यान देना जरूरी है। पहली बात यह है कि ध्यान के साधक में किसी प्रकार का भय न हो और दूसरी बात है—उनमें किसी प्रकार का प्रलोभन न हो।

स्वावलम्बन और पुरुषार्थ

हमारे वैयक्तिक जीवन की दूसरी फलश्रुति है—स्वावलंबन। स्वावलंबन कहां है ? इतना परावलम्बन होता है कि आदमी दूसरे पर निर्भर होता चला जाता है। आपने अमरबेल का नाम सुना होगा। नाम तो बहुत सुन्दर, पर बड़ी खतरनाक बेल होती है। जिस पौधे पर चढ़ जाती है उसका तो अंत ही समझिये। अपने पैरों पर खड़ी नहीं होती। दूसरे का आलंबन ढूंढती है, दूसरों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सहारे खड़ी होती है। बड़ी अजीब प्रकृति है। जिसके सहारे खड़ी होती है उसे खाना शुरू कर देती है। कहा जाता है कि अमरबेल एक किलोमीटर तक अपना पैर फैला देती है। वह दूसरों पर फैलती है और दूसरों को समाप्त करती चली जाती है। परावलम्बन का सबसे अच्छा उदाहरण है—अमरबेल। आदमी भी कम परावलंबी नहीं है, अमरबेल से कम खतरनाक नहीं है। वह भी दूसरों के कंधों पर अपना वैभव, अपना ऐश्वर्य चलाता है और उनको चट करता चला जाता है।

आज व्यक्ति इतना परावलंबी हो गया कि उसने स्वावलंबन को बिलकुल भुला डाला है। लगता तो यह है, यदि दूसरा काम करने वाला मिलता हो तो शायद कुछ लोग तो हाथ हिलाना भी पसन्द नहीं करेंगे। मुंह में कौर डालना भी नहीं चाहेंगे। चाह रहे हैं कि ऐसी मशीन का निर्माण हो जो कोरी रसोई ही नहीं पकाए, मुंह में कौर भी दे। फिर ऐसी मशीन की खोज भी करनी होगी जो पचा भी दे। पचाने की भी फिर क्या जरूरत है ? इतनी सुविधावादी मनोवृत्ति बन जाती है कि आदमी हर बात के लिए दूसरों का मुंह ताकता रहता है। इससे एक बहुत बड़ा अनर्थ हुआ है कि आदमी श्रम करना भूल गया।

प्रश्न होता है स्वावलम्बन और पुरुषार्थ में क्या अन्तर है ? पुरुषार्थ हमारे शरीर की प्रक्रिया है। अंगों को काम में लेना और नियोजित करना, यानी शक्ति का उपयोग करना है पुरुषार्थ, और अपनी शक्ति पर भरोसा करना है स्वावलंबन। पहले स्वावलंबन होता है। स्वावलंबन होता है तो पुरुषार्थ होता है। अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है तो फिर स्वावलंबन की बात नहीं आती। जिसे अपने पैरों पर भरोसा नहीं है, उसे लाठी लेनी पड़ती है या फिर वैशाखी के सहारे चलना पड़ता है। अपनी शक्ति पर भरोसा होना पहली बात है। यह स्वावलंबन का दृष्टिकोण है और अपनी शक्ति का उपयोग करना, काम में लाना, पुरुषार्थ है।

जब तक पूरा श्रम शरीर को नहीं मिलता, रोग समाप्त नहीं होते, हमारे रक्त की प्रणालियां स्पष्ट नहीं होती, स्वास्थ्य उपलब्ध नहीं होता। सचमुच शरीर को श्रम चाहिए। श्रम बहुत आवश्यक है। कोई श्रम न कर सके तो योगासन का आलंबन ले सकता है। योगासन के द्वारा शरीर को भी स्वास्थ्य मिलता है। श्रम हमारे जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

स्वतंत्रता, स्वावलंबन और पुरुषार्थ पर विश्वास—ये व्यक्ति की तीन वैयक्तिकताएं हैं। व्यक्ति की तीन सीमाएं हैं, जो व्यक्ति को अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष और पौरुष

१. मनुष्य अपने सुख-दुख का कर्त्ता स्वयं है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है।

२. राजा देव नहीं है, ईश्वर का अवतार नहीं है। वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, सम्पन्न मनुष्य कहो।

३. ग्रन्थ मनुष्य की कृति है। पहले मनुष्य फिर ग्रन्थ। कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय नहीं है।

४. विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यों के योग या परस्परापेक्षिता से स्वतः संचालित है। वह किसी एक सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा संचालित नहीं है।

५. यह विश्व छह द्रव्यों की संघटना है। वे ये हैं–

१. धर्म–गतितत्त्व।	४. काल।
२. अधर्म–स्थितितत्त्व।	५. पुद्गल
३. आकाश।	६. जीव।

६. मनुष्य अपने ही कर्त्तव्य से उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति करता है। इस प्रसंग में महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष–इन तत्त्वों की व्याख्या की।

७. मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्जा नहीं है। भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है। वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है।

स्वावलंबन नैतिक जीवन की पहली शर्त है। समाज की भूमिका में स्वावलंबन का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य दूसरों का सहयोग ले नहीं। मेरी सम्मति में उसका अर्थ यही होना चाहिए कि मनुष्य अपनी शक्ति का संगोपन न करे, जिस सीमा तक अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके तथा विलासी जीवन को उच्च और श्रमरत जीवन को हेय न माने।

विलास और आराम के प्रति मनुष्य का झुकाव सहज ही होता है और इस धारणा से उसे पुष्टि मिल जाती है कि श्रम करने वाला छोटा होता है। परावलंबी जीवन का यही आधार है।

स्वावलंबन (अपनी श्रम शक्ति) का अनुपयोग ओर परावलंबन (दूसरों की श्रम शक्ति) का उपयोग शोषणपूर्ण जीवन का आरम्भ बिंदु है। शोषण अनैतिकता की जड़ है। अणुव्रती चाहता है कि समाज में शोषण न रहे। अतः उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह स्वावलंबन या श्रम की भावना को जन-जन तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचाए। पर यह बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि श्रम या स्वावलंबन का कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं है। यह जीवन का स्वाभाविक मूल्य है। इसे अतिरिक्त मूल्य दिए जाने की स्थिति में यह जीवन में प्रतिष्ठित नहीं होता, बल्कि जीवन पर समारोपित होता है।

स्व-निर्भरता

एक राजकुमार दीक्षित हो रहा था। माता-पिता ने कहा–'कुमार ! तुम बड़े सुकुमार हो, बहुत कोमल हो, तुम दीक्षित हो रहे हो। तुम्हें ज्ञात नहीं है, शरीर में बीमारी पैदा हो जाएगी, हो सकती है, तो चिकित्सा नहीं करा सकोगे। अचिकित्स्य है यह संयम का मार्ग। बीमारी पैदा होने पर क्या करोगे? कौन आहार, पानी लाकर देगा ? भूखे-प्यासे और रुग्ण होकर बैठे रहोगे। क्या प्राप्त होगा ?'

राजकुमार बोला–'माता-पिता ! जंगल में रहने वाले पशु बीमार हो जाते हैं। कौन उनकी परिचर्या करता है ? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है? रुग्ण पड़े रहते हैं। जब स्वस्थ होते हैं तब जंगल में जाकर खा-पी लेते हैं। जब ये पशु भी ऐसा कर सकते हैं तो मैं मनुष्य हूं, ऐसा क्यों नहीं कर सकूंगा ?'

यह एक महत्त्वपूर्ण खोज थी स्वावलंबन और स्व-निर्भरता की। रोग की स्थिति में भी दूसरे का सहारा न लिया जाए। यदि रोग का प्रतिकार करना हो तो बाहरी वस्तु से न किया जाए।

अमेरिका में एक संस्थान ऐसा है जिसका सदस्य दवा का भी प्रयोग नहीं करते। वे कोई दवा नहीं लेते। ऑपरेशन की आवश्यकता होने पर भी ऑपरेशन नहीं कराते। सदस्य थोड़े हैं पर जो हैं, वे कट्टरता से इनका पालन करते हैं। सब कुछ वे ईश्वर पर छोड़ देते हैं।

'तेगिच्छं नाभिमंदेज्जा'–जैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह बहुत प्राचीन सिद्धांत है। जैन आगमों में यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यह कैसे संभव हो सकता है कि बीमारी हो और चिकित्सा न हो ? चिकित्सा हो सकती है पर वह बाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द है। स्वावलम्बन और स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, बाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर-वस्तु से चिकित्सा मत करो।

शरीर में रोग पैदा होता है तो शरीर में नीरोगता की भी पूरी व्यवस्था है। आसनों का विकास इस दिशा में हुआ था। चिकित्सा के लिए बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है। आसनों का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास और विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग रोग निवारण की दिशा में हुआ था। इसमें नाड़ी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाचन कमजोर है। भोजन के बाद वज्रासन में बैठो, पाचन की दुर्बलता मिट जाएगी।

पाचन की गड़बड़ी है। भोजन के बाद दाएं नथुने से पन्द्रह मिनट तक श्वास लो, पाचन स्वस्थ होने लगेगा।

पाचन दुर्बल है। महामुद्रा का प्रयोग करो, पाचन ठीक होने लगेगा।

प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए आसन और नाड़ियों का प्रयोग तथा स्वर का प्रयोग खोजा गया था। हजारों आसनों का प्रयोग होने लगा। शारीरिक बीमारी हो तो आसनों का प्रयोग किया जा सकता है और मानसिक बीमारी के लिए भी आसनों का प्रयोग किया जा सकता है।

ये सारे तथ्य स्वावलंबन और आत्मानुशासन के लिए खोजे गए थे।

युवक और स्वावलम्बन

युवकों की शक्ति आज एक समस्या बन रही है। वह ध्वंस की ओर जा रही है। सारे देश की स्थिति को देखिए। भारत के युवकों की शक्ति जितनी निर्माणात्मक कार्यों में नहीं लग रही है, उससे कहीं अधिक हिंसात्मक कामों में लग रही है। आए दिन समस्याओं का सामना सबको करना पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी शक्ति का ठीक नियोजन नहीं हो रहा है। युवक को शक्ति का पर्यायवाची मान लिया है। युवक अर्थात् शक्ति और शक्ति अर्थात् युवक। युवक शक्ति का प्रतिनिधि होता है। यह प्रतिनिधित्व तो उसने स्वीकार कर लिया किन्तु उसका ठीक नियोजन नहीं किया। इस नियोजन की गड़बड़ी के कारण आज देश में बहुत सारी समस्याएं पैदा हो गयी हैं।

आचार्यश्री तुलसी का उदाहरण हमारे सामने है। जब आचार्यश्री की अवस्था मात्र बाईस वर्ष की थी, उस समय आपने एक शक्तिशाली संघ का नेतृत्व अपने कंधों पर लिया और उसका विकास किया। शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामों में किया। आचार्यश्री का प्रारम्भिक सूत्र था—'हमें ध्वंस की ओर अपनी शक्ति नहीं लगानी है।' दुनिया में सबका विरोध होता है। कोई ऐसा नहीं है कि जिसका विरोध नहीं होता। सूर्य अकारण प्रकाश देता है, पर उसकी भी आलोचना होती है। सूर्य का भी विरोध होता है। हवा अकारण हमें लाभान्वित करती है, प्राण देती है, जीवन देती है, पर उसका भी विरोध होता है।

काका कालेलकर बहुत वर्ष पहले दिल्ली में आचार्यश्री से मिलने आए। आते ही बोले, 'मैं आपसे मिल रहा हूं, उसके पीछे एक प्रेरणा है। वह यह कि मेरे पास आपके विरोध में इतना साहित्य आया कि ढेर लग गया। मैंने वह साहित्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध होता है, वह निश्चित ही जीवित व्यक्ति है। मुर्दे का विरोध कोई नहीं करता। कहने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जरूरत भी नहीं होती है। विरोध उसका होता है जो जीवित है। आप में जीवन है और उसी ने मुझे प्रेरित किया कि आपसे मिलना चाहिए और आज मैं मिल रहा हूं।' विरोध हुआ किन्तु उस सारे विरोध के बीच में आचार्यश्री ने जो एक स्वर दिया, वह था—'जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।' यानी विरोध को विनोद समझकर चलें। यह था शक्ति का निर्माणात्मक कार्यों में नियोजन।

जो व्यक्ति अपनी शक्ति का निर्माणात्मक और रचनात्मक कार्यों में नियोजन कर सकता है, वह सचमुच विकास कर लेता है। यदि आज यह बात हमारे अध्यापकों, विद्यार्थियों और मजदूरों की समझ में आ जाए तो मैं समझता हूं कि जो रचनात्मक निष्पत्तियां हमारे सामने आनी चाहिए, किन्तु नहीं आ रही हैं, उनका एक समाधान हो सकता है।

आज देश की स्थिति क्या है ? आज के युवकों की स्थिति क्या है ? शक्ति का नियोजन करने के लिए हमें कुछेक बातों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होगा। पहली बात है कर्मण्यता। शक्ति तो है किन्तु कर्मण्यता नहीं है। आज हिन्दुस्तान जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह है अकर्मण्यता और मुफ्तखोरी का पाठ उसने शताब्दियों से पढ़ लिया है। यह बीमारी उसकी रग-रग में जमी हुई है। भगवान् की दया हो, कोई काम करना न पड़े, ऐसा मानस हो गया है। लेने के लिए उसका इतना मानस बन गया है कि कोई काम करना न पड़े, श्रम करना न पड़े और काम बन जाए तो भगवान् की कृपा है, धर्म की कृपा है। श्रम करना पड़ जाए तो हम मानते हैं कि भगवान् की कृपा कम है। धर्म की कृपा कम है।

पुराने जमाने की बात है। आचार्य भद्रबाहु, एक बहुत बड़े आचार्य हुए हैं। संघ के सामने कोई कठिनाई आने पर उन्होंने एक मंत्र की रचना की। संघ का संकट दूर हो गया। एक स्त्री रसोई बना रही थी। उसका बछड़ा भाग गया। स्त्री ने सोचा, बछड़े को पकड़कर लाऊं। फिर सोचा, क्यों जाऊं? मुझे मंत्र याद है। उसने मंत्र का पाठ किया और देवी उपस्थित हो गयी। स्त्री ने कहा, देवी ! कोई संकट तो नहीं है। किन्तु मेरा बछड़ा भाग गया है। तुम उसे लाकर खूंटे में बांध दो।' देवी को आश्चर्य हुआ। वह भद्रबाहु के पास जाकर बोली 'महाराज ! आपने क्या कर दिया है ? यह मंत्र आपने क्यों दे दिया आज तो हमें बछड़ा बांधना पड़ रहा है, कल पता नहीं क्या-क्या करना पड़ेगा।'

यह जो अकर्मण्यता की बीमारी है, अपने कर्म पर, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास न करने की बीमारी है, हिन्दुस्तान के युवक को इस बीमारी से मुक्त होना चाहिए। अगर हमारे युवक इस बीमारी से मुक्त हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि सबसे बड़ी समस्या का समाधान हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य अनुप्रेक्षा

ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा में प्रस्थान, सत्य को जीने का अभ्यास। सत्य को झुठलाने का प्रयत्न नहीं करना ध्यान की उपलब्धि है। ध्यान के अभ्यास से गुजरने के बाद भी यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं बना तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सधा नहीं। ध्यान से आध्यात्मिक निष्पत्ति आनी चाहिए, अध्यात्म फलित होना चाहिए।

ध्यान की निष्पत्ति है—सचाई का जीवन जीना। जब आदमी सचाई का जीवन नहीं जीता है तो व्यावहारिक समस्याएं बहुत पैदा हो जाती हैं।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है—**'सच्चव्वतं उवसंपज्जामि'** सत्य का व्रत स्वीकार करता हूं। ध्यान का सारा प्रयोजन है—सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता वह सत्य की खोज की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। हमारे चारों ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य हैं, जिन्हें स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उन्हें स्थूल मन से भी नहीं पकड़ा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नहीं बनते। उन्हें जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नहीं किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नहीं बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नहीं बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मल के आवरण जमे हुए हैं। वे जब तक नहीं टूटते तब तक चेतना में सूक्ष्मता नहीं आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता है। वह सत्य को बाहर नहीं खोजता, अपने में ही खोजता है।

सत्य की खोज के मुख्य रूप से चार आयाम हैं। पहला आयाम है—श्वास। दूसरा आयाम है—शरीर। तीसरा आयाम है—मन, चित्त बुद्धि। चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा। ये सारे के सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम हैं।

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

'भंते ! सत्य क्या है ?'

'वह बताया नहीं जा सकता।'

'तो हम उसे कैसे जानें ?'

'तुम स्वयं उसे खोजो।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उसकी खोज कैसे करें ?'

'कर्म को छोड़ दो। मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।'

'भंते ! फिर जीवन कैसे चलेगा ?'

'संयत कर्म करो। बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तो संयम से खाओ। सब कुछ संयम से करो।'

'भंते ! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता।'

'ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसीलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और वक्तव्य है। इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यग् ज्ञान है।'

वक्तव्य सत्य

'भंते ! वक्तव्य सत्य क्या है ?'

'अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।'

हमारी मांग तो अनन्त को जानने की है, संपूर्ण सत्य को जानने की है, अखंड सत्य को जानने की है। वह हमारी मांग पूरी नहीं होती। हमें जानने को मिलता है थोड़ा-सा अंश, अनन्त का एक खंड। हम उसको पकड़ कर, उस खंड को लेकर, अखंड के लिए लड़ने लग जाते हैं। यह लड़ाई कभी समाप्त नहीं होती। अच्छा तो यह होता कि कोई आदमी बोलता ही नहीं। कम से कम सत्य के बारे में कभी जबान नहीं खोलता, केवल व्यवहार की संपूर्ति के लिए बोलता तो लड़ाइयां नहीं होतीं। सत्य के विषय में न बोलना ही असत्य से बचने का अच्छा उपाय है। किन्तु ऐसा हो नहीं सका। उन ज्ञानी पुरुषों ने भी अनुकंपा की, दया की कि अज्ञानी लोग पूरा न जान सकें तो कम-से-कम थोड़ा बहुत जान लें। यह अनुकम्पा भारी पड़ गयी। इसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाद का रास्ता खोल दिया। आज यह स्थिति पैदा हो गई है कि आदमी सत्य को जाने न जाने, उसके लिए विवाद करने को तैयार है।

नहीं बोलने का एक बहुत बड़ा मूल्य है, सत्य की सुरक्षा। नहीं बोलने से सत्य की पूरी सुरक्षा होती है। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत—ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते हैं। एक कहता है—अस्ति अर्थात् है। दूसरा कहता है—नास्ति अर्थात् नहीं है। दोनों की दो दिशाएं हैं। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा—जो कहता है अस्ति, वह भी सही नहीं है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नहीं है। दोनों सही तब हो सकते हैं जब दोनों अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड़ देते हैं और कहते हैं कि इस दृष्टि से, इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नहीं है—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। जब स्यादस्ति कहने से भी काम नहीं चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी काम नहीं चलता तब स्याद् अवक्तव्य कहना होता है। यह मानकर चलो कि सत्य कहा नहीं जा सकता, संपूर्ण सत्य कहा नहीं जा सकता। सत्य की प्रकृति ही ऐसी ही है, सत्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कहा नहीं जा सकता। हम जो कहते हैं वह सत्य का एक अंशमात्र होता है। हम अंशमात्र का कथन करके पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय ही करते हैं, एक दृष्टि से। इस बात को मानकर ही तुम कहो कि पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। यह गूंगे का गुड़ है। यह स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता।

मैं समझता हूं कि न बोलना, मौन रहना, सत्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है।

सत्य क्या है ?

दृष्टि और प्रतिपादन दो प्रकार के होते हैं—यथार्थ और अयथार्थ। जो तथ्य जिस रूप में है उसे उसी रूप में देखना और प्रतिपादन करना यथार्थ है और तथ्य के विपरीत दर्शन और प्रतिपादन अयथार्थ हो जाता है। सत्य का अर्थ है—यथार्थ का दर्शन और प्रतिपादन।

यथार्थ का दर्शन यह दृष्टिकोण का सत्य है या सत्य का दृष्टिकोण है। यथार्थ का प्रतिपादन वाणी का सत्य है। सत्य का महाव्रत चरित्र का पक्ष है, व्यवहार का पक्ष है। सत्य का महाव्रती दूसरे को वही बात कहता है, जो यथार्थ होती है और यथार्थ ही अहिंसा धर्म के अनुकूल होती है।

सत्य का ऋजुता के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति ऋजु नहीं होता वह सत्य का प्रतिपालन नहीं कर सकता। इस संदर्भ में सत्य का संदर्भ केवल वाणी से नहीं होता किन्तु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। इस आधार पर सत्य की परिभाषा यह हो जाती है–

सत्य है–काया की ऋजुता	असत्य है–काया की वक्रता
सत्य है–वाणी की ऋजुता	असत्य है–वाणी की वक्रता
सत्य है–भाव की ऋजुता	असत्य है–भाव की वक्रता
सत्य है–संवादी-प्रवृत्ति, कथनी करनी की समानता।	असत्य है–विसंवादी प्रवृत्ति, करनी की असमानता।

इन चारों अंगों का समग्रता से अनुशीलन करना ही सत्य का महाव्रत है। असत्य और मायाचार का निकट का सम्बन्ध है। जो कुशल मायावी नहीं होता, वह कुशल असत्यभाषी भी नहीं होता। सत्य में कोई छिपाव नहीं होता। असत्यभाषी को बहुत छिपाना पड़ता है। उसे एक बड़ा-सा मायाजाल बिछाना पड़ता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने असत्य के लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया।

जिस प्रवृत्ति में माया है, दूसरों को ठगने की मनोवृत्ति है और असत्य है–यथार्थ को उलटने का प्रयत्न है, वहां हिंसा कैसे नहीं होगी ? वह समूचा प्रयत्न हिंसा का प्रयत्न है इसलिए असत्य बोलना हिंसा से भिन्न वस्तु नहीं है।

सत्य को स्वयं खोजें

हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है। मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है–सत्य की खोज। प्राणी जगत् में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सत्य की खोज कर सकता है। दूसरे सारे प्राणी, फिर चाहे वे पशु-पक्षी हो या देवता, कोई भी सत्य की खोज नहीं कर सकता। मनुष्य के पास जितना विकसित मस्तिष्क, विकसित ग्रंथियां और अतीन्द्रिय ज्ञान के केन्द्र हैं, उतने दूसरे किसी भी प्राणी के पास नहीं हैं। इसीलिए मनुष्य ही सत्य की खोज कर सकता है। मनुष्य जीवन का सार है–सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि।

भगवान महावीर ने कहा–**'अप्पणा सच्च मेसेज्जा'** अपने आप सत्य की खोज करो।

हम सत्य की खोज के लिए प्रस्तुत हैं। सत्य खोजना है और स्वयं को ही खोजना है। ऐसा नहीं होता कि एक व्यक्ति सत्य खोजे और दूसरा उपयोग करे। वैज्ञानिक जगत् में यह होता है कि एक व्यक्ति सत्य को खोजता है और सारा जगत् उसका उपयोग करता है। किन्तु अध्यात्म का संसार इससे भिन्न है। इस जगत् में जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वही उसका उपयोग करता है। जो खोजेंगे वे पायेंगे, जो नहीं खोजेंगे, वे कभी नहीं पायेंगे। जो खोजेंगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे ही उसका उपयोग करेंगे, जो नहीं खोजेंगे वे उसका उपयोग नहीं कर पाएंगे।

अध्यात्म के क्षेत्र में जो खोजें हुई हैं, अतीन्द्रि ज्ञानियों ने जो खोजें की हैं, जो देखा है, पाया है, जो अनुभव किया है, उसको उन्होंने दूसरों को बतलाया। दूसरों ने सुना। लाभ उठाया। पर पूरा लाभ नहीं मिला।

उस अभिव्यक्ति के माध्यम से जो सत्य की अनुभूति होनी चाहिए थी, वह किसी को नहीं हुई। वचन के माध्यम से प्राप्त वह सत्य श्रुति के काम आया, सुनने के काम आया तथा मस्तिष्क और बुद्धि के काम आया किन्तु वह अनुभूतिगम्य नहीं बना। वह अनुभूतिगम्य तब बना जब सुनने वालों ने स्वयं खोज प्रारम्भ की, स्वयं उसको उपलब्ध हुए। उससे पहले कुछ भी नहीं हुआ। सुनना व्यर्थ नहीं गया। उससे खोज की पृष्ठभूमि तैयार हुई। वह पृष्ठभूमि तब तक पृष्ठभूमि ही बनी रहती है जब तक उसको आधार बनाकर साधक आगे बढ़ नहीं सकता। साधक जब तक अनुभव के स्तर पर उस सत्य को नहीं पा लेता तब तक वह यह नहीं कह सकता–'यह सचाई है। इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया।' वह तब तक दूसरों को दुहाई देता रहता है। यह उधारी बात है। वह यकीन करता है–यह आगमों की सचाई, गीता या बाईबिल की सचाई है। गुरु ग्रन्थसाहब या कुरान की सचाई, पिटक या अन्य धार्मिक शास्त्र की सचाई है। वह कभी नहीं कह सकता कि यह मेरी सचाई है। यह मेरा भोगा हुआ सत्य है। जब व्यक्ति उस सत्य को उपलब्ध हो जाता है, उसे साक्षात् कर लेता है, तभी वह कह सकता है–'यह मेरा सत्य है। मैंने इसे जाना-देखा है। मैंने इसे भोगा है।'

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सबको वैज्ञानिक होना पड़ता है। जो भी इस यात्रा-रथ पर चलना चाहता है, उसे वैज्ञानिक बनना ही पड़ता है। ऐसा नहीं होता कि आचार्य तुलसी वैज्ञानिक बन जाएं, सत्य की खोज करें और शेष सारे उनके अनुयायी बनकर उस खोजे हुए सत्य का उपयोग करते रहें। ऐसा नहीं हो सकता। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक बनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूंढ निकालना होता है।

'सत्य को खोजो'–इतना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् महावीर ने इसके पीछे 'अप्पणा' शब्द लगाकर इस ओर संकेत किया कि 'सत्य को खोजो'–यह अधूरी बात है। स्वयं सत्य को खोजो–यह पूरी बात है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण संकेत है। यह संकेत साधक के पुरुषार्थ की गाथा है।

दूसरा प्रश्न है कि हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है, किन्तु हमारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ प्रयोगशाला कहां है ? कैसे करेंगे सत्य की खोज ? सत्य खोज के लिए समृद्ध प्रयोगशाला चाहिए। वह यहां नहीं है। बात सच है, किन्तु हमने अपने शरीर को ही प्रयोगशाला बना डाला है। यह शरीर इतनी बड़ी प्रयोगशाला है कि विश्व के किसी भी वैज्ञानिक के पास इतनी समृद्ध और विशाल प्रयोगशाला नहीं है। इस शरीर में इतनी सूक्ष्म यंत्र-संरचना है जो बड़े वैज्ञानिकों को भी आश्चर्य में डाल देती है। एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला नहीं, किन्तु यदि विश्व की समस्त प्रयोगशालाओं को एकत्रित कर लिया जाए, फिर भी वे इस शरीर की प्रयोगशाला के एक अरबवें हिस्से में नहीं समा पाती। तुलना ही नहीं की जा सकती।

यह हमारा शरीर साधन-सम्पन्न प्रयोगशाला है। यह हमारे सामने है। हमें सत्य की खोज करनी है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास हैं। चैतन्य के ये सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उपकरण हैं। आज सूक्ष्म तरंगों वाले या सूक्ष्म शक्ति वाले या हाईफ्रीक्वेन्सी वाले जितने भी सूक्ष्म उपकरण होते हैं वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में, वे सारे-के-सारे या उनसे भी अधिक सूक्ष्म उपकरण, हमारे इस शरीर में प्राप्त हैं। वे स्वतः संचालित हैं। किन्तु उसको काम में न लेने के कारण उन पर जंग जम गया है, वे निष्क्रिय हो गए हैं। हमने यात्रा प्रारम्भ की है। हम उस जंग को हटाने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे ही वह जमा हुआ मैल हटेगा, ये सारे उपकरण पूरा काम देने लग जायेंगे। उन्हीं उपकरणों के द्वारा हम सूक्ष्मतम सत्य को पहचान जायेंगे।

समस्या है सत्य की अनभिज्ञता

इस दुनिया में सबसे बड़ी समस्या है सत्य को जानना। हमारी सारी कठिनाइयों और समस्याओं का मूल है सत्य को न जानना। आदमी यदि सत्य को जान लेता तो कोई समस्या नहीं होती। दुनिया में वस्तुतः कोई समस्या है ही नहीं, केवल सत्य की अनभिज्ञता ही समस्या है।

प्रकाश और अन्धकार दोनों विरोधी युगल हैं किन्तु इनमें नितान्त विरोध नहीं है। दोनों एक साथ आ जाते हैं। सह-अस्तित्व और सह-अवस्थान दोनों ही जरूरी हैं। स्याद्वाद विरोधी तत्त्वों की व्याख्या करता है। दो विरोधी तत्त्वों को, विरोधी बातों को एक साथ स्वीकारना ही है स्याद्वाद और अनेकान्त। अनेकान्त और स्याद्वाद का फलित है सह-अस्तित्व।

सत्य विशाल है और शब्द सीमित। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए शब्द होते हैं। परन्तु वे उसको सीमित बना देते हैं। यही कारण है कि जो शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान के लिए होते हैं वे स्वयं समस्या बन जाते हैं।

यदि सत्य के निकट पहुंच जाएं तो विरोधी हितों में सामंजस्य हो सकता है। यदि आज समाज में नये मूल्यों का सामंजस्य किया जा सके तो समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। आचार्य तुलसी सामंजस्य की बात करते हैं। सबसे पहले सत्य और अध्यात्म की बात करते हैं।

मनुष्य में यदि सत्य की जिज्ञासा और निष्ठा नहीं है तो वह अच्छा भी नहीं बन सकता। प्रगति और विकास का द्वार बन्द ही रहेगा। इसलिये सबसे पहले सत्य को पहचानें और फिर उसे स्वीकार करें। मन के आवरणों को हटाकर मैला, कूड़ा-कर्कट निकालकर स्वच्छता स्वीकार करें और दृष्टि लाभ कर ज्ञान को परिष्कृत करें। ज्ञान, दर्शन और चरित्र की समन्विति तभी होगी जब हम दृष्टि साफ रखेंगे। इसके लिए सत्य की प्रबल जिज्ञासा होनी चाहिए। आन्तरिक तड़प और जिज्ञासा के बिना मनुष्य जहां का तहां रहेगा।

सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादि काल से चर्चित रहा है। जो ध्रुव है, जो स्थिर है वह सत्य है, पर वही सत्य नहीं है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। जो परिवर्तन है, वह सत्य है पर वही सत्य नहीं है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नहीं। जो दृश्य है वह सत्य है, पर वह भी सत्य है जो दृश्य नहीं है। सत्य के अनेक रूप हैं। एकरूप अनेकरूपता का अंश रहकर ही सत्य है। उनसे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं है। सत्य किसी धर्म प्रवर्तक द्वारा कृत नहीं है। वह सहज है अकृत है। वह धर्म प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान् महावीर ने कहा–'सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है। सत्य एक ओर अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है वह सत्य है। यह परम अभेददृष्टि है। इस जगत् में चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वयं सत्य है, फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नहीं है और इसलिए नहीं है कि राग एवं द्वेष उसका सत्य से सीधा सम्पर्क होने में बाधा डाले हुए हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत नहीं होता। द्वेष-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसी के सामने अनावृत होता है, जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है, जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नहीं होते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य के दो रूप : अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान् महावीर वीतराग थे। सत्य से उनका सीधा सम्पर्क था। उन्होंने जो कहा, वह सुना-सुनाया या पढ़ा-पढ़ाया नहीं कहा। उन्होंने जो कहा, वह सत्य से सम्पर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्घाटन और आत्मानुभूति का ऋजु उद्बोधन है। जो सत्य है वह अनुपयोगी नहीं है, पर उसके कुछ अंश विशेष उपयोगी होते हैं। हम परिवर्तनशील संसार में रहने वाले हैं, अतः कोरे अस्तित्ववादी ही नहीं, किन्तु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नहीं मानते, किन्तु यथार्थ की उपलब्धि को सत्य मानते हैं।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—ये दोनों अस्तित्ववादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण हैं। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है, वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान् ने कहा—'आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है।' उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भगवान् ने कहा—'आत्मा ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है।' पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण से देखने का संदेश देते हैं। अनेकान्त-दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था जितना कि द्वैत और एकान्त दृष्टि से द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत—दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

सत्य के विघ्न

सत्य आत्मा से बाहर नहीं है। वह हमें पाना नहीं है किन्तु प्राप्त है। उसके अभिव्यक्त होने में जो विघ्न हैं, उन्हें दूर करना है। सत्य की दूरी विघ्न के कारण प्रतीत होती है। विघ्न नष्ट हो जाने पर सत्य में और हम में कोई द्वैत नहीं रहता।

सम्यग्-दर्शन का पहला विघ्न है—आशंका। अशंकनीय तत्त्व के प्रति शंका का उत्पन्न होना सत्य के साथ आंख-मिचौनी खेलने जैसा है। बहुत सारे लोग अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित होते हैं जबकि वह शंकनीय नहीं है। इस दुनिया में जो पहले नहीं है और पीछे नहीं है, वह मध्य में भी नहीं हो सकता—**'जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया।'**

एक परमाणु भी जब अपना अस्तित्व नहीं खोता, तब चेतना अपना अस्तित्व कैसे खोये ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की भांति सत्य के जितने रूप और पर्याय हैं सब सम्यग् दर्शन के विषय हैं। उनके प्रति आकांक्षा का होना सम्यग्-दर्शन का बहुत बड़ा विघ्न है।

जिस व्यक्ति के मन में सत्य तक पहुंचने की भावना होती है, वही उस तक पहुंच पाता है। दूसरी-दूसरी आकांक्षाओं को लेकर चलने वाला सत्य तक नहीं पहुंच सकता। आकांक्षा सत्य की दिशा में जा ही नहीं सकती। उसे लेकर कोई सत्य की दिशा में चलना चाहता है, उसके पैर भी ठिठक जाते हैं। यह सम्यग्-दर्शन का दूसरा विघ्न है।

सत्य एक लक्ष्य है। उस तक पहुंचने के लिए अवस्थित अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। अनवस्थित अध्यवसाय वाला व्यक्ति एक दिशा में चल नहीं सकता। वह दिशा को बदलता है इसलिए सत्य उसके हाथ नहीं लगता। चित्त की ऊर्जा एक दिशा में प्रवाहित होती है तब वह लक्ष्य तक पहुंच जाती है। चारों दिशाओं में छितरी हुई धारा कभी प्रवाह नहीं बन पाती और प्रवाह बने बिना कोई भी धारा कभी भी समुद्र तक नहीं पहुंच पाती। सत्य के समुद्र तक पहुंचने में चित्त की विचिकित्सा (अनवस्थितता) तीसरा विघ्न है।

सत्य की दिशा में यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत महत्त्व का प्रश्न है कि वह किसे समर्थन दे रहा है ? सत्य की दिशा में चलने वाला यात्री यदि असत्य की दिशा में जाने वालों का समर्थन करता है, उनके साथ अपने सम्पर्क को पुष्ट करता है तो उसकी दिशा भी उलट जाती है, इसलिए इस विषय में उसे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता होती है। यह विघ्न पहले के विघ्नों से भी अधिक भयंकर है। असत्य दिशागामी व्यक्तियों का समर्थन और संपर्क सम्यग्-दर्शन का क्रमशः चौथा और पांचवां विघ्न है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है

'इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं' यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। हर सम्प्रदाय यही कहता है कि हमारा मत सत्य है। अपने-अपने मत की सचाई की दुहाई देने के कारण ही असत्य को बढ़ावा मिलता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि अनेकान्त सत्य है, एकांत सत्य नहीं है। जो समग्र है, सर्वांगीण है, वह सत्य है। फिर भी सूत्रकार ने यह कैसे कहा कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है ?

असत्य का हेतु है—ग्रन्थि। जिसके मन में कोई ग्रन्थि नहीं होती, उलझन नहीं होती, वह निर्ग्रन्थ होता है—असत्य का आग्रह सबसे बड़ी ग्रंथि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे बड़ी उलझन और सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। जिसके मन की यह गांठ खुल जाती है, वह सत्य की सीमा में प्रवेश पा जाता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन में किसी मत का आग्रह नहीं है, एकांगी दृष्टि का स्वीकार या निरूपण नहीं है। उसमें केवल सत्याग्रही दृष्टि का प्रतिपादन है, इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। इसका अर्थ होता है कि अनेकान्त ही सत्य है या अनेकांत द्वारा दृष्ट तत्त्व ही सत्य है।

निर्ग्रन्थ ऋजुता या अनाग्रह का प्रतीक है। राग, देष, क्रोध, अभिमान आदि कारणों से व्यक्ति असत्य का स्वीकार या निरूपण तथा असत् का आग्रह करता है। अज्ञानी आदमी भी यह सब कुछ करता है। निर्ग्रन्थ ज्ञान और वीतरागता—दोनों की उपासना करता है। ज्ञानी और वीतराग का दृष्टिकोण सत्याग्रही होता है। इसलिए उसकी अनुभूति को—निर्ग्रन्थ प्रवचन को—सत्य मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

जैन दर्शन ने सत्य को किसी व्यक्ति-विशेष या परम्परा-विशेष के साथ नहीं जोड़ा है, किन्तु उसे गुणात्मक स्थिति के साथ जोड़ा है। निर्ग्रन्थ कोई व्यक्ति या परम्परा नहीं है। वह एक गुणात्मक अवस्था या स्थिति है। इस दृष्टि से भी निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है और यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

सत्य का अणुव्रत

कुछ विचारकों का अभिमत है कि सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता। उसे टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, इसलिए अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है। किन्तु असत्य जीवन की अनिवार्यता नहीं है अतः सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता।

महाव्रत और अणुव्रत का विभाग केवल अनिवार्यता के आधार पर ही नहीं होता, प्रमाद भी उनके विभाजन का मुख्य हेतु है। हर आदमी के लिए यह संभव नहीं कि वह सतत जागरूक रहे। जो सतत जागरूक नहीं रहता वह पूर्णतः सत्यवादी नहीं हो सकता। जहां प्रमाद आता है वहां असत्य आ ही जाता है। आदमी मजाक में झूठ बोल लेता है। वह झूठ बोलने के उद्देश्य से झूठ नहीं है, फिर भी झूठ तो है ही।

असत्य बोलने का दूसरा हेतु है अशक्यता। हर व्यक्ति में एक साथ इतनी क्षमता विकसित नहीं होती कि वह एक चरण में असत्य बोलना छोड़ दे। जिनमें इस प्रकार की क्षमता विकसित नहीं होती, वे असत्य परिहार का क्रमिक अभ्यास करते हैं। पहले अमुक-अमुक प्रकार का असत्य बोलना छोड़ते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, फिर उससे सूक्ष्म असत्य बोलना छोड़ते है, फिर सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वे पूर्णतः सत्यवादी हो जाते हैं। यह क्रमिक अभ्यास की प्रक्रिया ही तो अणुव्रत है। यह प्रमाद से अप्रमाद की ओर जाने का उपक्रम है। यह अशक्यता से शक्यता को विकसित करने का उपक्रम है। वास्तव में यह सत्य का विभाजन नहीं किन्तु उसका क्रमिक विकास और अभ्यास है।

सत्य का व्रत लेने वाला संपूर्ण सत्य का व्रत ले, यही इष्ट है। किन्तु जो ऐसा न कर सके, वह कम-से-कम संकल्पपूर्वक असत्य बोलना अवश्य छोड़े। फिर धीमे-धीमे प्रमाद और अशक्यता जनित असत्य बोलना भी छोड़े। इस प्रकार असत्य से सत्य की ओर गति सुलभ हो जाती है।

सत्य और ऋजुता—दोनों साथ-साथ चलते हैं। ऋजुता का विकास हुए बिना सत्य का विकास नहीं हो सकता। मानसिक ऋजुता संकल्प मात्र से एक ही क्षण में प्राप्त होने जैसी वस्तु नहीं है। उसकी क्रमिक साधना है और वह दीर्घकालीन है। उसकी साधना ही वास्तव में सत्य की साधना हो इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर ही भगवान् महावीर ने सत्य के अणुव्रत का प्रतिपादन किया।

वाक्-शुद्धि का उपाय : सत्य

वाक्शुद्धि का उपाय है—सत्य का आलम्बन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरंगों को भी समझ लिया, किन्तु उसके पीछे भावना का जो बल है वह यदि असत् है, असत्य है तो सब कुछ बिगड़ जाएगा। यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनके मूल में असत्य का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए सारी समस्याएं जटिल होती जा रही हैं। आप सोचेंगे, असत्य के बिना समाज का व्यवहार ही नहीं चल सकता। सारी राजनीति कूटनीति के आधार पर चलती है। कूटनीति का आधार है—असत्य। समाज का छोटे-से-छोटा व्यवहार और बड़े-से-बड़ा व्यवहार असत्य के आधार पर चलता है। एक आदमी झूठ बोलता है, बच जाता है, सत्य बोलता है, मारा जाता है।

जज ने अपराधी से कहा—'तुम न्यायालय में खड़े हो। सच-सच कहना, झूठ मत कहना। अच्छा बताओ, झूठ बोलने से कहां जाओगे और सच बोलने से कहां जाओगे ?'

'जज साहब ! जानता हूं, झूठ बोलने से नरक में जाऊंगा और सत्य बोलने से जेल में जाऊंगा।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज प्रत्येक आदमी के मन में यह आस्था बैठ गई है कि समाज में सच बोलने का अर्थ है, आपदाओं को निमंत्रण देना, कठिनाइयों में फंसना। जो झूठ बोलने में माहिर होता है वह बड़े-से-बड़े अपराध करके भी बच जाता है। जो व्यक्ति वाक् चतुर होता है, झूठ को छिपाना जानता है, वह सफल हो जाता है। जो सच बोलता है वह बुद्धू होता है, पागल होता है, मूर्ख होता है—यह आज की आस्था है। इसी आस्था के कारण सारा व्यवहार गड़बड़ा गया है।

भगवान् महावीर ने सत्य का सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सत्य वही है जहां काया की सरलता है, भावों की सरलता है, वाणी की सरलता है और अविसंवादिता है। अविसंवादिता का अर्थ है—विसंगतियों से परे हो जाना। एक दिन एक बात कहना और दूसरे दिन दूसरी बात कहना—यह विवाद है। सत्य वह होता है, जो अविसंवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो बात कही, वही बात पचीस वर्ष बाद कहेगा। वाणी में विसंवादिता नहीं होगी। किन्तु आज भाव भी टेढ़ा है, वचन भी टेढ़ा है और जीवन के पग-पग पर विसंवादिता है। इस स्थिति में वाणी की शक्ति कैसे प्राप्त हो ? वाक्शुद्धि कैसे हो ? जिस व्यक्ति की वाक्-शुद्धि हो जाती है, उसके मुंह से निकली हुई बात को होना ही पड़ता है। वह कथन अन्यथा नहीं होता। वचनसिद्धि का सबसे बड़ा साधन है—सत्य। जो सत्यवादी होता है उसके कथन को कोई बदल नहीं सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। उसकी वाणी तरंगों में, परमाणुओं में इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पड़ता है। एक व्यक्ति में सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है—बादल होते हैं तो बिखर जाते हैं। नहीं हों तो बन जाते हैं। ऋषिराय साधक थे। वे जब भी पादविहार करते, आकाश में बादल मंडराने लग जाते। आतप मंद हो जाता। यह होता है और भी न जाने क्या-क्या घटित हो जाता है। सत्य की शक्ति असीम है। जिन लोगों ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी, वे विलम्ब भले ही हो, आगे बढ़े हैं। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। प्रश्न है मूल निष्ठा का। वह बनती ही नहीं, बनने से पहले ही मर जाती है। यदि वास्तव में सत्य का प्रयोग हो तो वाणी में भी अपार शक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय अनुप्रेक्षा

मनुष्य अनेक हैं। अनेकता ने स्वतन्त्रता को जन्म दिया, स्वतंत्रता ने संघर्ष को और संघर्ष ने समन्वय को। भगवान् महावीर इस समन्वय के महान् द्रष्टा और सूत्रधार थे। इस समन्वय सूत्र ने अनेकता को समाप्त नहीं किया, किन्तु उसके साथ जुड़ हुई एकता को प्रदर्शित कर दिया। उसका अर्थ है कि अनेकता-विहीन एकता और एकता-विहीन अनेकता कहीं प्राप्त नहीं होती। जो व्यक्ति केवल अनेकता को देखता है, वह निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है। जो निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है, वह संघर्ष का निर्माण करता है। संघर्ष मनुष्य को त्रास देता है, इसलिए मनुष्य उसे समाप्त करना चाहता है, पर उसे एकता और अनेकता के समन्वय के बिना समाप्त नहीं किया जा सकता। महावीर ने नहीं कहा कि अनेकता का कोई मूल्य नहीं है और उन्होंने नहीं कहा कि एकता का कोई मूल्य नहीं है। उन्होंने कहा दोनों का मूल्य दोनों की सापेक्षता में है, निरपेक्षता में किसी का कोई मूल्य नहीं है। एकता-सापेक्ष अनेकता संघर्ष को जन्म नहीं देती। इसी प्रकार अनेकता-सापेक्ष एकता उपयोगिता को विनष्ट नहीं करती।

मनुष्य मनुष्य के बीच संघर्ष है। जाति, भाषा, संप्रदाय, प्रादेशिकता आदि के आधार पर वह चलता है। जहां भी कोई भेद की रेखा खिंचती है वहां संघर्ष का आरम्भ हो जाता है। निमित्त मिलते ही भीतर सोया हुआ राग-द्वेष का सर्प फुफकार उठता है।

समन्वय की पृष्ठभूमि में वीतरागता का दर्शन है। राग और द्वेष के उपशम का, चित्त की निर्मलता का तथा अहिंसा और मैत्री का मूल्य समझ लेने पर ही समन्वय का सिद्धांत समझ में आता है।

न सर्वथा विरोध : न सर्वथा अविरोध

दो तत्त्व हैं चेतन और अचेतन। अनेकान्त ने दोनों के मध्य रहे हुए संबंध की खोज की और तीसरा नियम दिया कि चेतन और अचेतन में न सर्वथा विरोध है और न सर्वथा अविरोध है। हम नहीं कह सकते कि चेतन अचेतन का सर्वथा विरोधी है और यह भी नहीं कह सकते कि अचेतन चेतन का सर्वथा विरोधी है। यदि वे सर्वथा विरोधी होते तो आत्मा अलग होती, शरीर अलग होता। आत्मा और शरीर--दोनों इसीलिए जुड़े हुए हैं कि उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा विरोध नहीं है। बहुत बार यह प्रश्न दार्शनिक जगत् में उभरता है कि अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त शरीर के साथ कैसे जुड़ी ? अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त कर्म के साथ कैसे जुड़ी ? चेतन आत्मा अचेतन शरीर के साथ कैसे जुड़ी ? यदि हम दोनों को सर्वथा विरोधी मान लें तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि हम यह मानें कि ये दोनों सर्वथा विरोधी नहीं हैं तो समाधान मिल सकता है। सर्वथा विरोध हो तो जुड़े नहीं रह सकते।

पुत्र ने कहा—पिताजी ! आज से मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। मैं आपसे अलग होना चाहता हूं। पिता बोला—कोई कठिनाई नहीं है। इतने दिन तुम मेरे साथ भोजन करते थे, आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन किया करूंगा।

ऐसा ही है सम्बन्ध चेतन और अचेतन के बीच। वे कभी अलग नहीं होते, जुड़े हुए रहते हैं। दोनों एक दूसरे का पूरा उपयोग करते हैं। चेतन अचेतन का उपयोग कर रहा है और अचेतन चेतन का उपयोग कर रहा है। चेतन अचेतन को टिकाए हुए है और अचेतन चेतन को टिकाए हुए है। नियम यही है कि दोनों में सर्वथा विरोध नहीं है। दोनों में सर्वथा विलक्षणता नहीं है। दोनों में साम्य भी है। जितने भी वस्तु धर्म हैं वे सब एक दूसरे की पूरकता में चल रहे हैं। केवल पर्यायों का भेद है। जब हम व्यक्त पर्यायों के आधार पर देखते हैं तो भेद दिखाई देता है। केवल भेद, भेद और भेद। जब हम अव्यक्त पर्यायों को देखते हैं तब अभेद दिखाई देता है। केवल अभेद, अभेद और अभेद।

हमारा प्राणी जगत् बहुत स्पष्ट है। प्राणी जगत् में वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पशु, मनुष्य आदि भेद ही भेद दिखाई देता है, क्योंकि हम व्यक्त पर्याय को देखते हैं। जब हम अव्यक्त पर्याय को देखना प्रारम्भ करेंगे तब सारा उलट जाएगा, भेद मिट जाएगा, केवल बचेगा चैतन्य। वह सब प्राणियों में समान है। वनस्पति में चैतन्य है। कीड़ों-मकोड़ों में चैतन्य है। पशु और आदमी में चैतन्य है। चैतन्य, केवल चैतन्य बचेगा। सारे पर्दे हट जाएंगे। केवल एक शेष रहेगा, सब मिट जाएंगे। अभेद रहेगा चैतन्य रहेगा। सारे भेद समाप्त हो जाएंगे। भेद और अभेद, विरोध या अविरोध यह मात्र पर्यायों का विश्लेषण है। वस्तु में दोनों धर्म एक साथ रहते हैं। विरोध अविरोध, अस्तित्व और नास्तित्व, सत्ता और असत्ता, शाश्वतता और अशाश्वतता—ये युगल एक साथ रहते हैं। केवल पर्याय का अन्तर है, हमारे देखने के कोण का अन्तर है। हम स्थूल पर्याय को देखते हैं और उसी के आधार पर वस्तु का विश्लेषण कर देते हैं। एक बात को हम फिर समझ लें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि हमारे सारे निर्णय, सारी मान्यताएं, सारी धारणाएं और सिद्धांत स्थूल नियमों के आधार पर बनते हैं। उनको हम शाश्वत नियम न मानें, यथार्थ न मानें, सूक्ष्म जगत् के नियम न मानें।

निश्चय और व्यवहार

अनेकान्त ने सूक्ष्म और स्थूल–दोनों नियमों की व्याख्या की और दो कोण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिए। एक कोण है–निश्चय नय और दूसरा कोण है–व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यों को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमों को जानना हो तो व्यवहार नय का सहारा लो। जब ये दोनों नय सापेक्ष होते हैं, समन्वित होते हैं, तब हम इस सचाई तक पहुंच जाते हैं कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नहीं, किन्तु समन्वित रहते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न नहीं होते, किन्तु समन्वित रहते हैं। समन्वय की एक बड़ी धारा हमारे सामने प्रवाहित हो जाती है। इसी समन्वय की धारा के आधार पर मध्यकाल में जैन आचार्यों ने बहुत बड़ा काम किया और प्रत्येक दर्शन के साथ समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

एक जैन आचार्य ने लिखा है कि आत्मा और पुद्गल में कोई अन्तर नहीं है। केवल एक धर्म का अन्तर है। आत्मा चेतन है, पुद्गल चेतन नहीं है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं और पुद्गल में भी अनन्त धर्म हैं। उन अनन्त धर्मों में केवल एक धर्म–चेतन का अन्तर है और कोई अन्तर नहीं। बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथन है। जब अनन्त धर्मों में सब मिलते हैं, केवल एक नहीं मिलता, तो समानता है ही सबकी। बहुत सारी समानता है। अन्तर डालने वाला एक ही मुख्य गुण होता है।

समानता की अनुभूति

गुण दो प्रकार के होते हैं–सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण चेतन और अचेतन सब में समानरूप से मिलता है। आत्मा चेतन होते हुए भी अमूर्त्त है और अचेतन पदार्थ भी अमूर्त्त होते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अचेतन हैं, पर हैं अमूर्त्त। इस दृष्टि से चेतन आत्मा और अचेतन धर्मास्तिकाय समान हैं। दोनों पुद्गलातीत और अभौतिक हैं। धर्मास्तिकाय द्रव्य है पर भौतिक नहीं है, अभौतिक है। हम बहुत बार कह देते हैं कि आत्मा अभौतिक है। परन्तु क्या धर्मास्तिकाय अभौतिक नहीं है ? दोनों (आत्मा और धर्मास्तिकाय) में बहुत बड़ी समानता है। समानता अधिक है। असमानता कम है। जो स्थूल पर्याय को पकड़ता है वह असमानता को पकड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेता है, समानता को छोड़ देता है। इसीलिए विवाद, सम्प्रदायवाद, संघर्ष आदि होते हैं। स्थूल पर्यायों के आधार पर ये सब घटित होते हैं। बाह्य जगत् में भिन्नता अधिक है, समानता कम और अन्तर जगत् में समानता अधिक है, भिन्नता कम है। हम ध्यान के इस उपक्रम के द्वारा यही करना चाहते हैं कि हमारी ऐसी दृष्टि विकसित हो जाए, प्रज्ञा इतनी निर्मल हो जाए कि हम असमानता के नीचे छुपी हुई समानता को देख सकें।

कबीर का बेटा कमाल घास काटने जंगल में गया। सांझ तक घर नहीं लौटा। कबीर चिन्तित हो गए। वे उसे खोजते-खोजते जंगल में पहुंचे। उन्होंने देखा—कमाल पागल की तरह खड़ा है निष्क्रिय। वह घास को देख रहा है, काट नहीं रहा है। कबीर ने उसे झकझोरा। पूछा—क्या कर रहे हो? सूर्य अस्त हो चुका है। घास काटा ही नहीं ? कमाल बोला—किसे काटूं ? क्या अपने आपको काटूं ? जैसी प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, वैसी ही प्राणधारा इस घास के भीतर प्रवाहित होते हुए देख रहा हूं। अब कैसे काटूं ? किसे काटूं ? अब कमाल घास नहीं काट सकता।

इस समानता की अनुभूति को भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी—'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'—पुरुष ! तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है। इसी सन्दर्भ में समानता की अनुभूति के उनके ये वाक्य मननीय हैं—

तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेव्वं ति मन्नति।
जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नति।
जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नति।
जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नति।
जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।

यह परम सत्य की अनुभूति अनेकांत के आधार पर हुई है। अनेकांत को वही स्वीकार कर सकता है जो राग-द्वेष से विमुक्त है। जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की प्रचुरता है वह अनेकांत को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में अनेकांत ध्यान का दर्शन है, साधना का दर्शन है। जिस व्यक्ति की चेतना निर्मल होती है, राग-द्वेष से विमुक्त होती है, उसमें अनेकांत की दृष्टि जागती है, सत्य की प्रज्ञा जागती है, अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सफलता का सूत्र : संभावनाओं का आधार

पर्याय अनन्त हैं। हमारे भीतर अनन्त संभावनाएं छिपी हुई हैं। कोयला हीरा बन सकता है। आज तो यह निश्चित मान्यता हो गई कि कोयला ही हीरा बनता है। कोयले में हीरा बनने की संभावना छिपी हुई है। हर पदार्थ में सब कुछ बनने की संभावना होती है। यह अनेकांत की स्वीकृति है। असंभावना तो बहुत ही थोड़ी है। चेतन अचेतन नहीं बन सकता और अचेतन चेतन नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त सब कुछ बनाया जा सकता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है कि जो एक दूसरे में न बदल सके या न बन सके। सब कुछ बना जा सकता है। सारी संभावनाएं हैं। मिट्टी के एक कण में सारे वर्ण, सारे गंध और सारे स्पर्श होते हैं। मिट्टी का एक कण चीनी से अनन्त गुना मीठा होता है।

आदमी इसीलिए निराश होता है कि वह अनेकांत के नियम को नहीं जानता। इस बात को भूल जाता है कि कोई भी पर्याय शाश्वत नहीं होता। हर पर्याय बदलता रहता है। आज रोग का पर्याय प्रगट हुआ है, हमारा प्रयत्न चले तो नीरोगता का पर्याय प्रगट हो सकता है। आज दुःख का पर्याय अभिव्यक्त हुआ है तो कल सुख का पर्याय अभिव्यक्त हो सकता है। जिस व्यक्ति में इस संभावना को मानने की क्षमता होती है वह कभी दुःखी नहीं होता, वह कभी रोगी नहीं होता। वह कभी खाट पर पड़े-पड़े जीवन नहीं बिता सकता। वह अपनी सोयी शक्ति को जगा लेता है।

अनेकांत है जीवन-दर्शन

कुछ भी अलग नहीं है। सब कुछ जुड़ा हुआ है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद, सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध, सर्वथा अपना या सर्वथा पराया—यह केवल विपर्यय है, यथार्थ नहीं। यदि हमें यथार्थ के साथ रहना है तो हमें जीवन और व्यवहार में अनेकांतदृष्टि को विकसित करना होगा। सबसे बड़ी भूल यह हुई कि हमने अनेकांत को तत्त्ववाद मान लिया। यही मान लिया है कि तत्त्व की व्याख्या में ही अनेकांत का उपयोग होता है। यह भूलभरी मान्यता है। जो व्याख्या जीवन के साथ नहीं जुड़ती, वह तत्त्व के साथ भी नहीं जुड़ सकती। जीवन भी तो एक तत्त्व है। वह महान् तत्त्व है। सारी व्याख्याएं उसी से निकलती हैं। सारे सिद्धांत, धारणाएं और वाद उसी में से निकलते हैं। जीवन से अलग-अलग किसी तथ्य या तत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती। जिस तत्त्व का जीवन के साथ कोई स्पर्श ही नहीं होता, उसका किसी के साथ स्पर्श नहीं हो सकता। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जिसने यह सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया उसने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात दी। जितना सत्य पिण्ड में है, उतना ब्रह्माण्ड में है, जितना ब्रह्मांड में है, उतना पिण्ड में है।

बहुत विलक्षण है हमारा जीवन और बहुत विलक्षण है हमारा शरीर। इस शरीर में अनन्त सत्य छिपा हुआ है। स्थूलदृष्टि से लगता है—ये पैर हैं और ये आंखें हैं। यथार्थ में ये दो कहां हैं ? यदि वास्तव में ये दो हों तो आयुर्वेद के आचार्यों का यह कथन मिथ्या हो जाता कि यदि आंख बीमार हो तो पैर की अंगुलियों पर दवा लगाओ, आंख ठीक हो जाएगी। बहुत विचित्र लगता है यह कथन। किन्तु यह यथार्थ से परे नहीं है। मुंह पर जैसे आंखें हैं, वैसे ही पैरों में भी हैं। पिच्यूटरी ग्लांड यदि भृकुटि के बीच में है तो वह पैर के अंगूठे में भी है। जितने ग्लांड या अन्य अवयव ऊपर हैं, उतने ही नीचे पैरों में हैं। आज ये सब विज्ञान द्वारा सम्मत हैं। सारा शरीर एक है, जुड़ा हुआ है। इसी सिद्धांत के फलस्वरूप एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेसर चिकित्सा प्रणालियों का विकास हुआ है। समूचे शरीर में संवादी अंग हैं। पैर का दर्द है। रीढ़ की हड्डी को दबाओ, वह दर्द मिट जाएगा। पैर के अंगूठे को दबाते ही सिर दर्द मिट जाता है। दबाने की विधि होती है, उसका ज्ञान आवश्यक है।

दृष्टि-परिवर्तन का हेतु

अनेकांत जीवन की एक प्रशस्त पद्धति है। उस पद्धति का प्रारम्भ होता है दृष्टि-परिवर्तन के द्वारा। दृष्टि जब सम्यक् नहीं होती तब हमारी धारणाएं सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् के द्वारा छनकर नहीं आतीं। जब तक हमारा ज्ञान व्यक्त और अव्यक्त—दोनों पर्यायों के समन्वय से नहीं होता तब तक हम सही निर्णय नहीं ले पाते और आपदाओं से बचना तब सम्भव नहीं होता। वस्तु का स्वभाव बहुत बड़ा सत्य है। इसकी हम अवहेलना न करें। उसे समझने का प्रयत्न करें। कोई भी व्यक्ति वस्तु-सत्यों को उलटकर, उन नियमों के विपरीत चलकर सुखी नहीं बन सकता। सुखी और शांत जीवन वही जी सकता है जो वस्तु-सत्यों को मानकर चलता है, न कि अपनी धारणाओं के अनुसार सत्य को ढालने का प्रयत्न करता है। प्रायः होता यह है कि मनुष्य वैसा बनना नहीं चाहता किन्तु आदर्श को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है, उसे नीचे उतार लेना चाहता है। कोई भी व्यक्ति भगवान् की ऊंचाई तक पहुंचना नहीं चाहता, किन्तु भगवान् को अपने धरातल पर ले आना चाहता है। यही विकृति है, यही मिथ्या-दृष्टिकोण है। यदि यह दृष्टिकोण बदल जाए और सत्य को अखण्ड और शाश्वत नियम मानकर चलें तो फिर दुःखी होने का कोई रास्ता ही नहीं बचता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकांत की दृष्टि का फलित समन्वय और सद्भाव है। इसके लिए समन्वय के पांच सूत्रों का अधिक-से-अधिक प्रसार किया जाए। पांच सूत्र इस प्रकार हैं–

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक अथवा लिखित आक्षेप न किया जाए।
२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
५. धर्म के मौलिक तथ्यों–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

स्यात् शब्द का नया अर्थ

केवली, भगवान् या सर्वज्ञ अनन्त सत्य को जान लेते हैं, किन्तु उनमें भी यह क्षमता नहीं है कि वे अनन्त सत्य को कह सकें। यह असंभव है। कोई महान् व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति, दस-बीस-पचास पर्यायों की अभिव्यक्ति कर सकता है। पूरे सत्य को वह कभी नहीं कह सकता। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य के कुछेक पर्यायों को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को हम अस्वीकार कर देते हैं, नकार देते हैं, तब सत्य से हटकर असत्य की ओर चले जाते हैं। हमारा प्रस्थान असत्य की दिशा में हो जाता है। इसलिए अनेकांत ने एक युक्ति प्रस्तुत की। उसने कहा–'तुम असत्य से बच सकते हो यदि तुम 'स्यात्' शब्द लगा लो। वह तुम्हें असत्य से बचा लेगा। 'स्यात्' का यहां भावार्थ होगा–'मैं पूर्ण सत्य कहने में असमर्थ हूं। सत्य का एक पर्याय प्रस्तुत कर रहा हूं।'

प्राचीन साहित्य में 'स्यात्' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है–अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह स्वीकृति पहले ही दे देता है कि मैं जो कह रहा हूं उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखण्ड सत्य मत मान लेना। मैं केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अंश का प्रतिपादन कर रहा हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें केवल एक अंश से परिचित करा रहा हूं। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता प्रकट करता हूं कि मुझसे पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। मैं तुम्हें सत्य के निकट ले जा रहा हूं। यह है 'स्यात्' शब्द की सार्थकता।

सापेक्षता महान विज्ञान है

'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। उसके बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता और उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह सचाई ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रकट हो चुकी थी, किन्तु हमारे दार्शनिक इसे पकड़ नहीं पाए। हमें साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिक को जिसने यह सप्रमाण प्रतिपादित किया कि सापेक्षता के बिना सत्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसने इस सचाई को इतनी प्रखरता से पकड़ा कि आज समूचा विज्ञान सापेक्षता के सिद्धांत पर चल रहा है। सापेक्षता का सिद्धांत जब तक विकसित नहीं हुआ था, तब तक की सारी मान्यताएं, विज्ञान की सारी धारणाएं आज मिथ्या प्रमाणित हो रही हैं। आज भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, गणित के क्षेत्र में, सांख्यीकी विज्ञान के क्षेत्र में, अनेकांत का खुलकर प्रयोग किया जा रहा है; सापेक्षता का उपयोग मुक्तभाव से हो रहा है। आज विज्ञान की महत्त्वपूर्ण मान्यता है कि सापेक्षता के बिना किसी तत्त्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा कि देश और काल सापेक्ष हैं, तब वैज्ञानिक जगत् में एक भयंकर हलचल हुई थी। अनेक वैज्ञानिकों ने इसको स्वीकार नहीं किया। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि देश और काल सापेक्ष कैसे हो सकते हैं। किन्तु धीरे-धीरे यह सापेक्षता बुद्धिगम्य होती गई, प्रमाणित होती गई और आज देश, काल की सापेक्षता का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। हम सारी घटना की व्याख्या देश और काल के आधार पर करते हैं, किन्तु यह भुला देते हैं कि देश और काल सापेक्ष हैं। देश-काल के सापेक्ष होने की बात एक वैज्ञानिक ने कही, न कि अनेकान्त और स्याद्वाद को मानने वाले जैनों ने। उन्होंने इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। कितना अच्छा होता कि जो बात आइन्स्टीन ने कही वह बात कोई जैन दार्शनिक कहता, अनेकान्तवाद को मानने वाला प्रतिपादित करता। क्या उनके सामने ये कल्पनाएं स्पष्ट नहीं थीं ? सापेक्षता का विचार स्पष्ट नहीं था ? सारी कल्पनाएं और विचार स्पष्ट थे, पर नये सन्दर्भ में उसके कथन की बात नहीं सूझी। क्या जैन मानते हैं कि काल निरपेक्ष है। नहीं, काल सर्वथा सापेक्ष है। हमने काल को तीन भागों में विभाजित किया—भूतकाल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भविष्यकाल और वर्तमानकाल। क्यों विभाजित किया ? काल कभी विभक्त होता नहीं, टूटता नहीं। काल कभी ऐसा नहीं होता कि आप उसे अतीत मानें। आज का वैज्ञानिक इस ओर परीक्षण में संलग्न है कि दो हजार, पांच हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर, बुद्ध, कृष्ण आदि महान् व्यक्ति को साक्षात् सन्देश देते हुए आज के आदमी को दिखा दिया जाए। वर्तमान में जीने वाला आदमी महावीर को समता और अहिंसा का प्रवचन करते हुए, बुद्ध को करुणा का सन्देश देते हुए और कृष्ण को गीता का उपदेश करते हुए साक्षात् देख ले, उसे दिखा दिया जाए। क्या ऐसा संभव हो सकता है ? साधारण व्यक्ति के लिए यह असम्भव प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जो मर चुके, समाप्त हो चुके, जिनके पार्थिक शरीर जला दिए गए, उनको कैसे दिखाया जा सकता है ? यह तो अतीत की घटना हो गई। अतीत को वर्तमान के रूप में कैसे रूपायित किया जा सकता है ? मेरे लिए और आपके लिए यह अतीत की घटना हो सकती है, किन्तु देश और काल को सापेक्ष मानने वाले वैज्ञानिक के लिए यह अतीत की घटना नहीं है।

छोटा-बड़ा सब सापेक्ष होता है। हलका और भारी सापेक्ष होता है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में हलका भी होता है और भारी भी होता है। जहां गुरुत्वाकर्षण की सीमा समाप्त होती है वहां हलकापन भी नहीं रहता और भारीपन भी नहीं होता। चिकना, मृदु और कठोर—तीनों सापेक्ष हैं। कौन चिकना ? कौन मृदु ? कौन कठोर ? सारे यौगिक हैं। हमारी सारी बातें सापेक्ष होती हैं। जब हम 'स्यात्' शब्द को अस्वीकार कर देते हैं, अपेक्षा को भुला देते हैं, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। बतलाया गया है कि देवताओं का आयुष्य करोड़ों-करोड़ों वर्षों का होता है यह आश्चर्यकारी कथन लगता है। परन्तु कोई आश्चर्य नहीं है। हम सापेक्षता को न भूलें। जो अन्तरिक्ष गुरुत्वाकर्षण से परे है, वहां काल की सीमा समाप्त हो जाती है। यहां का हजारों वर्षों का काल-माप वहां एक क्षण जैसा भी नहीं होता। जैनागमों में एक प्रसंग आता है। कोई व्यक्ति मरा। वह स्वर्ग में गया। उसने सोचा—'मैं फिर जाऊं मनुष्यलोक में और अपने परिवार वालों से मिलूं। मैं अपने गुरुजनों से मिलूं, मित्रों से मिलूं।' मन में बात आई और उसने तैयारी शुरू की। सब देव बोले—कहां जा रहे हो ? उसने कहा—मनुष्यलोक में जा रहा हूं, अपने परिजनों से मिलने के लिए। वे बोले—अभी-अभी आए थे। दो मिनट ठहरो। यहां की रंगरेलियां देखो। वह ठहर जाता है, उसे लगता है क्षण भर हुआ है। वह वहां से चलकर मनुष्यलोक में आता है, मां, बाप, भाई, बन्धन और मित्रों को खोजता है। पूछता है लोगों से, कोई कुछ भी नहीं बता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते। हजारों-लाखों वर्ष बीत चुके होते हैं। हजारों पीढ़ियां बीत चुकी होती हैं। उसे लगता है--क्षण भर बीता है। पर यहां के हजारों-लाखों वर्ष बीत जाते हैं।

अनेकान्त की सार्थकता

यदि हम अपने भीतर छुपे हुए चोर को और अपने भीतर छुपे हुए साहूकार को पहचान सकें और उस पहचान के बाद भीतर के चोर को सुलाकर साहूकार को जगा सकें तो अनेकान्त की सार्थकता हमारे व्यवहार में हो सकती है। इसीलिए ध्यान और साधना चल रही है। हम इसमें संलग्न हैं। ध्यान के बिना अनेकान्त का मार्ग स्पष्ट और प्रशस्त नहीं होता। ध्यान इसलिए कर रहे हैं कि जो पर्याय अव्यक्त है, जो साहूकार सोया पड़ा है, उस साहूकार को जगा सकें, उन पर्यायों को व्यक्त कर सकें। और जो चोर जागा हुआ है, उसे सुला सकें, मुख्य को गौण कर सकें और गौण को मुख्य कर सकें। जो कुर्सी पर बैठा है उसे नीचे बिठा सकें और जो नीचे बैठा है उसे कुर्सी पर बिठा सकें।

आज यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षक वर्ग में ध्यान और जीवन-विज्ञान का समन्वय हो। इसी के आधार पर वे नया चिन्तन देने में सक्षम हो सकते हैं। अभी-अभी राजस्थान के एजुकेशन कमीश्नर ए० के० भटनागर बेंकोक जाकर आए हैं। वे बता रहे थे कि वहां की सरकार अपने कर्मचारियों के लिए ध्यान की व्यापक व्यवस्था पर चिन्तन कर रही है। सभी देशों में यही चिन्ता व्याप्त है कि आदमी के व्यवहारों को, आचरणों को कैसे बदला जाए। आज व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र में जो विभिन्न प्रकार की चिन्ताएं व्याप्त हैं उनसे मुक्त होने के लिए नए चिन्तन की जरूरत है, नए दर्शन की जरूरत है। वह नया चिन्तन और नया दर्शन ध्यान और कर्म--दोनों का समन्वय ही हो सकता है, जीवन विज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान--दोनों का समन्वय हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रदाय निरपेक्षता अनुप्रेक्षा

भगवान महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना को सामुदायिक रूप दिया, फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानते थे।

उन्होंने कहा–'एक व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड़ देता है पर धर्म को नहीं छोड़ता। एक व्यक्ति धर्म को छोड़ देता है, पर सम्प्रदाय को नहीं छोड़ता।'

सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने संघबद्धता को महत्त्व दिया किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत नहीं होने दिया। उन्होंने कहा–जो दार्शनिक लोग कहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं, वे भटके हुए हैं और वे भी भटके हुए हैं, जो अपने-अपने सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत होकर, सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, जीवन-यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है, किन्तु वह स्वयं धर्म नहीं है। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने वाले साधक के लिए सम्प्रदाय धर्म-प्रेरक होता है, धर्म साधक नहीं।

आज एक नई कठिनाई पैदा हो गई है। आज के लोग धर्म और सम्प्रदाय या मजहब को एक मान बैठे हैं। लोग कह देते हैं, धर्म के कारण कितनी लड़ाइयां लड़ी गईं ? कितना रक्त बहा ? कितने देश उजड़े ? धर्म के कारण ऐसा कभी नहीं हुआ और न होगा। यह सब होता है सम्प्रदाय के कारण। धर्म और सम्प्रदाय इतने घुलमिल गये कि जो सम्प्रदाय के नाम पर घटित हुआ, वह सारा धर्म पर आरोपित हो गया। इसलिए धर्म को बदनाम होना पड़ा। यदि कोई आदमी धर्म तक पहुंच जाए तो वहां न लड़ाई है, न द्वेष है और न झंझट है। धर्म का अर्थ है, राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीना। जब कोई भी आदमी राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीएगा तो लड़ाइयां कहां उभरेंगी ? लड़ाइयां धर्म के कारण नहीं, सम्प्रदाय के कारण हुई हैं, होती हैं। सम्प्रदाय के आवरण में बेचारा धर्म आवृत हो गया। इसीलिए आज धर्म की भाषा समझ में नहीं आ रही है। यह एक समस्या है।

इस समस्या को सुलझाने के लिए हमने एक प्रक्रिया प्रारम्भ की। उसमें धर्म शब्द का उपयोग नहीं किया। मैं मानता हूं कि धर्म शब्द बहुत ही मूल्यवान है। उसका अर्थ गम्भीर है। किन्तु परिस्थितिवश उसका अर्थ बदल गया। भाषाशास्त्र के अनुसार शब्दों के अर्थ का उत्क्रमण और अपक्रमण होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अर्थ का ह्रास और विकास होता है। आज एक दृष्टि से धर्म शब्द सम्प्रदाय का द्योतक बन गया। उसका अर्थ भी कुछ बदल गया। इसलिए नए शब्द के चुनाव की अपेक्षा हुई। हमने सोचा कि जीवन विकास के लिए कोई ऐसा शब्द चुना जाए जो धर्म की मूल भावनाओं का स्पर्श करने वाला हो। जीवन में धर्म का विकास, अध्यात्म का विकास और नैतिकता का विकास करने वाला शब्द हो। ये शब्द आज विवाद का विषय बन गए हैं, इसलिए नए शब्द को ढूंढना चाहिए जो आज के मानस का स्पर्श कर सके, पर कोई प्रतिक्रिया पैदा न करे। इन दृष्टियों से सोचने पर एक शब्द जंचा और वह है—जीवन-विज्ञान।' इसकी प्रक्रिया का किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध नहीं है। इसका सीधा सम्बन्ध है, जीवन से। प्रत्येक प्राणी को जीवन-विज्ञान का अनुभव होना चाहिए। जीवन के साथ विज्ञान शब्द इसलिए जुड़ता है कि जीवन के अपने नियम हैं। प्रत्येक वस्तु के साथ नियम जुड़े हुए हैं। कुछ हमें ज्ञात है, कुछ अज्ञात है। सारे नियम हम नहीं जानते। अनेक नियम अज्ञात ही रह जाते हैं। जैसे-जैसे विकास हो रहा है अज्ञात नियम ज्ञात होते जा रहे हैं। मनुष्य इन ज्ञात नियमों को उपयोग करता है। किन्तु जो ज्ञात हुआ है, वह एक बिन्दु मात्र है, अज्ञात का समुद्र अभी भी अछूता ही पड़ा है। ज्ञात अल्प है, अज्ञात अनन्त है। हमारे जीवन के भी अनन्त नियम हैं। जीवन विकास के अनगिनत नियम हैं। हम बहुत थोड़े नियमों को जानते हैं और जैसे-जैसे आगे बढते हैं, जानने की सीमा भी आगे बढ़ती जाती है। हम जीवन के नियमों को जान सकें, उनका उपयोग कर सकें और सफलता की दिशा में जीवन को आगे बढ़ा सकें—यह है जीवन-विज्ञान का उद्देश्य।

जीवन-विज्ञान का अर्थ है—जीवन के नियमों की खोज। उन नियमों की खोज जिनके द्वारा दृष्टिकोण का परिष्कार किया जा सकता है, व्यवहार और आचरण का रूपान्तरण किया जा सकता है।

जीवन के तीन मुख्य पक्ष हैं—ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष और क्रियात्मक पक्ष। हम जानते हैं, यह हमारा ज्ञानात्मक पक्ष है। हम भावना से जुड़े हुए हैं, यह हमारा भावनात्मक पक्ष है। हम आचरण करते हैं, यह हमारा क्रियात्मक पक्ष है।

दर्शन वही है जो जीया जा सके

जैन आचार्यों ने नयवाद का विकास किया। नयवाद के दो आधार बनते हैं—सापेक्षता और समन्वय। व्यक्ति और समाज हमारे सामने हैं। कुछ लोग एकांततः व्यक्तिवादी वृत्ति के होते हैं। वे सारा भार व्यक्ति पर डाल देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। कुछ लोग समाज का आग्रह रखते हैं। राजनीतिक प्रणालियों में, समाजवादी और साम्यवादी प्रणाली में केवल समाज पर सारा भार डाल दिया जाता है। इधर व्यक्ति का विकास सब-कुछ है तो उधर समाज का विकास ही सब-कुछ है। किन्तु व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का तब तक सम्यक् निर्धारण नहीं किया जा सकता जब तक कि हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष नहीं होता। व्यक्ति-निरपेक्ष समाज और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता। समाज-सापेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति-सापेक्ष समाज का ही मूल्य हो सकता है और तभी सम्यक् विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सत्यग्राही दृष्टिकोण का एक सूत्र है—सापेक्षता। यह सापेक्षता प्रातिभज्ञान और तार्किकज्ञान में भी विकसित होती है। केवल तार्किकज्ञान नहीं, केवल अन्तर्दृष्टि का ज्ञान नहीं, केवल अध्यात्म नहीं और कोरा व्यवहार नहीं। कोरा व्यवहार होता है तो स्थूलता आ जाती है। इतनी स्थूलता कि सत्य कहीं छूट जाता है। कोरा निश्चय होता है तो अध्यात्म में कोई शक्ति नहीं आती। दोनों जरूरी होते हैं। यानी सम्प्रदाय भी आवश्यक है और अध्यात्म भी आवश्यक है। अगर सम्प्रदाय-शून्य अध्यात्म होता है तो वह कुछ व्यक्तियों के लिए काम का होता है, जनता के लिए कोई काम का नहीं बनता। कुछ व्यक्ति कन्दराओं में बैठकर अध्यात्म की साधना कर लें, पर शेष लोग बिलकुल वंचित रह जाते हैं और उनके जीवन का कोई मार्ग निश्चित नहीं होता। जरूरी है समाज, जरूरी है संघ, जरूरी है संगठन और जरूरी है सम्प्रदाय। जो लोग संगठन का विरोध करते हैं, सम्प्रदाय का विरोध करते हैं, संघ का विरोध करते हैं, केवल अकेलेपन की बात करते हैं, वे भी सचाई को नहीं पकड़ पा रहे हैं। उनका भी आग्रह हो गया कि अकेला होना अच्छा है। एक-दो आदमी अच्छे हो गए। उससे क्या हुआ ? जिस दुनिया में जीना है, क्या वहां अकेला व्यक्ति भी रह सकेगा। पहले तो मान लिया जाता था कि हिमालय की कंदरा में जाकर बैठ गया, अब वह शांति का जीवन जी सकता है। किन्तु एक ओर तो अणुअस्त्रों की विभीषिका, सारा वातावरण प्रदूषण से व्याप्त, इस स्थिति में क्या हिमालय बचा रह पाएगा ? आज हिमालय भी प्रदूषण से वंचित नहीं है। दुनिया का कोई भी कोना प्रदूषण से वंचित नहीं है। कहां जाएगा ? कौन-सी गुफा है ? कौन-सी कंदरा है जहां जाकर व्यक्ति अकेलेपन का अनुभव कर सके ? यह संक्रमण की दुनिया है। एक विचार यहां बैठे व्यक्ति के मन में पैदा होता है, और उस विचार के परमाणु सारे संसार में फैल जाते हैं। न हिमालय बचता है और न कोई गुफा ही बचती है। इस संक्रमण की दुनिया में हमारे पास ऐसा कौन-सा कवच है कि हम अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपको सर्वथा बचा सकें। इस दिशा में वीतराग लोगों ने भी प्रयास किया कि दुनिया भी अच्छी बने, जनता भी अच्छी बने। अच्छे लोगों का संघ बने, समाज बने, समुदाय बने। यदि ऐसा नहीं बनता है तो विकट स्थिति पैदा हो जाती है। वीतराग को भी जीवन जीना होता है। मन पर प्रभाव चाहे न आए, किन्तु उसके शरीर पर तो प्रभाव पड़ेगा ही। वह मानसिक विचारों से बीमार नहीं पड़ेगा किन्तु दुनिया के वातावरण से तो बीमार बन सकता है। खान-पान से तो बीमार बन सकता है। जिस दुनिया के बीच में जीना है, जिस जनता के मध्य जीना है, उसको वीतरागता की दिशा में प्रेरित करना, यह वीतराग का भी धर्म और कर्त्तव्य होता है। इसीलिए संघ-सम्प्रदाय कोई बुरी बात नहीं है। यह बहुत आवश्यक है। किन्तु केवल संघ, संगठन और सम्प्रदाय में ही हमारी दृष्टि अटक जाए, तो यह बुरी बात है। हमें संघ और सम्प्रदाय में जो सचाई है, जो सत्य है, उसका अवतरण करना है, निश्चयदृष्टि का आलम्बन लेना है, अध्यात्म को विकसित करना है। सत्य बिना निश्चय और अध्यात्म के संगठन और संघ मात्र हड्डियों का ढांचा रह जाएगा। उसमें प्राण नहीं रहेगा। उसमें तेजस्विता नहीं रहेगी। उसमें चैतन्य नहीं रहेगा।

इन दोनों वृत्तियों की सापेक्षता हमारा मार्ग बन सकती है। न अकेला व्यक्ति मार्ग बन सकता है और न कोरा समाज मार्ग बन सकता है। दोनों का योग ही हमारे विकास की यात्रा का मार्ग बन सकता है। सत्यग्राही दृष्टिकोण का चरण और आगे बढ़ता है तो वहां ज्ञान और क्रिया का समन्वय होता है। किसने कहा कि दर्शन जीया नहीं जा सकता। मैं सोचता हूं कि जो दर्शन जीया नहीं जा सकता, वह हवाई उड़ान होता है, आकाशी कल्पना होती है, यथार्थ नहीं होता। वही दर्शन वास्तविक हो सकता है जो जीया जा सकता है। वह आदर्श किसी काम का नहीं, जो व्यवहार में न आ सके। और वह व्यवहार किसी काम का नहीं, जिससे आदर्श तक न पहुंचा जा सके। आदर्श और व्यवहार दोनों का योग होना चाहिए।

आचार्यश्री ने तेरापंथ की सीमा को बहुत विस्तार दिया है। उन्होंने धर्म को युग की वेदी पर खड़ा कर दिया, जिससे सारे सम्प्रदाय लाभान्वित हुए हैं। आचार्यश्री जब दक्षिण यात्रा पर थे तब लोगों ने कहा—हमारे यहां अनेक आचार्य आए हैं, पर मानवता की बात करने वाले पहले आचार्य आए हैं। सब धर्मगुरु अपने-अपने संप्रदाय की बात करते हैं, परन्तु सम्प्रदाय से दूर रहकर मानवता की बात करने वाले आचार्य आप हैं। वहां कोई भी जैन नहीं था फिर भी नहीं लगता था कि वे जैन नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म के क्षेत्र में आचार्यश्री ने क्रांति की है। उन्होंने अपने शिष्यों में निष्पक्षता व तटस्थता की बात जंचा दी, जिससे उनमें सम्प्रदाय की बू नहीं आ सकती।

दर्शन के क्षेत्र में भी नए मूल्यों को प्रस्तुत किया है। लाखों-लाखों लोगों से सम्पर्क बना है। इस दिशा में आचार्यश्री और उनके शिष्यों ने भागीरथ प्रयत्न किया है। परिणाम यह आया कि जो नजदीक थे वे दूर हो गये और जो दूर खड़े थे वे निकट आ गए। हम जानते हैं, महापुरुष कभी लकीर पर नहीं चलते। परम्परा का अनुगमन करने वाले सब होते हैं, परन्तु परम्परा में अपना योग देकर उसको विकसित करने वाले बिरले ही होते हैं। आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और आचार्य तुलसी उन महापुरुषों में हैं जिन्होंने अपने कर्तृत्व से परम्पराओं की नई लकीरें खींची हैं।

साम्प्रदायिक वैमनस्य

मनुष्य जन्मना मनुष्य का शत्रु नहीं है। एक ही पेड़ की दो शाखाएं परस्पर विरोधी कैसे हो सकती हैं ? फिर भी यह कहा जाता है कि धर्म-सम्प्रदाय मनुष्यों में मैत्री स्थापित करने के लिए प्रचलित हुए हैं। उनमें जन्मना शत्रुता नहीं है, फिर मैत्री स्थापित करने की क्या आवश्यकता हुई ? मैं फिर इस विश्वास को दोहराना चाहता हूं कि मनुष्य मनुष्य में स्वभावतः शत्रुता नहीं है। वह निहित स्वार्थ वाले लोगों द्वारा उत्पन्न की जाती है। उसे मिटाने का काम धर्म-सम्प्रदायों ने प्रारम्भ किया, किन्तु आगे चलकर वे स्वयं निहित स्वार्थ वाले लोगों से घिर गए, और मनुष्य को मनुष्य का शत्रु मानने के सिद्धांत की पुष्टि में लग गये। इस चिन्तन के आधार पर मुझे लगता है कि साम्प्रदायिक समस्या का मूल भी अहं और स्वार्थ को छोड़कर अन्यत्र नहीं खोजा जा सकता। इसलिए साम्प्रदायिक वैमनस्य की समस्या को सुलझाने के लिए भी अहं और स्वार्थ का विसर्जन बहुत आवश्यक है।

साम्प्रदायिक एकता

हिन्दुस्तान सम्प्रदाय-निरपेक्ष जनतन्त्री राष्ट्र है। यह दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र है। यहां हर व्यक्ति वाणी, लेखन, विचार-प्रकाश और धार्मिक उपासना करने में स्वतन्त्र है। यहां विविध भाषाएं, विविध जातियां और विविध धर्म-सम्प्रदाय हैं। किन्तु इन विविधताओं के होने पर भी सब एक हैं। वे एक इस अर्थ में हैं कि वे सब भारतीय हैं। वे भारत की पवित्र मिट्टी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मे हैं और उसी में उन्हें मरना है। साम्प्रदायिक विग्रह से वह पवित्र मिट्टी कलंकित होती है, राष्ट्र शक्तिहीन होता है और व्यक्ति का मन अपवित्र होता है, इसलिए साम्प्रदायिक एकता पर विशेष बल दिया जाए।

साधना और सम्प्रदाय

साधना और सम्प्रदाय का परस्पर क्या संबंध है, यह प्रश्न भी काफी जटिल है। सम्प्रदायों का जन्म तो इसलिए हुआ था कि साधना में वे साधकों का सहयोग करें। किंतु कालान्तर में सांप्रदायिक अभिनिवेश बढ़ता गया, उसमें साधना पक्ष गौण होता गया और एक-दूसरे से उत्कृष्ट दिखाने का मनोभाव मुख्य होता गया। साम्प्रदायिक कट्टरता ने कलह के बीज बोये और जन-जन में प्रेम की भावना भरने वाला धर्म फूट और संघर्ष का कारण बन गया। आज लोगों का मानस पुनः प्रबुद्ध हो रहा है। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि सम्प्रदाय अपने मुख्य प्रयोजन की ओर ध्यान दे। वे साधक की साधना में सहयोगी बनें, बाधक न हों। सम्प्रदाय को गौण स्थान देते हुए साधना को मुख्य स्थान दिया जाए। जैसे नौका मनुष्य को पार पहुंचाकर कृतकृत्य हो जाती है, वैसे ही सम्प्रदाय भी साधक को साधना की एक भूमिका तक पहुंचाकर कृतकृत्य हो जाए। साम्प्रदायिक आग्रह ने न साधना को तेजस्वी होने दिया और न साधक भी उसके अभाव में लक्ष्य तक पहुंच पाए हैं।

आचार्य भिक्षु की सत्य-शोध की वृत्ति बहुत प्रबल थी। वे सत्य के प्रति बहुत विनम्र थे। इसीलिए उनमें आग्रह नहीं पनपा। उन्होंने अपनी मर्यादाओं को अन्तिम नहीं माना। उन्हें भविष्य पर भरोसा था। इसीलिए उन्होंने मर्यादाओं के परिवर्तन और संशोधन की कुंजी भावी आचार्यों के हाथों में दे दी। उनकी तपःपूत चर्या, शुद्धनीति, आचार-निष्ठा, सद्भाव, संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता को मूल्य देने की प्रवृत्ति, अनुशासन-प्रवणता आदि गुणों ने एक ऐसा वातावरण तैयार किया कि हजारों-हजारों लोगों के लिए उनकी मर्यादाएं आप्त-वचन जैसे बन गयीं।

आचार्य भिक्षु ने सेवा और जीवन-निर्वाह का आश्वासन—इन दो तत्त्वों पर इतना बल दिया कि व्यक्ति मर्यादाओं के प्रति अपना सर्वस्व विसर्जित करके भी कठिनाई का अनुभव नहीं करता।

संघ की ओर से आश्वासन तथा संघ के सदस्य की ओर से समर्पण—ये दोनों दुर्लभ बातें आज भी तेरापंथ की विशेषता की प्रतीक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह हमारा सौभाग्य है कि हम प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक अभिनिवेश से बचे हैं। आज तक तेरापंथ कभी भी खंडनात्मक नीति के चक्र में नहीं फंसा है।

'आत्मशुद्धि का जहां प्रश्न है, सम्प्रदाय का मोह न हो'—यह घोष अंतःप्रेरणा का प्रतिफलन है। समन्वय का प्रयत्न और साम्प्रदायिक एकता के पांच सूत्र उसी प्रेरणा के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं। अणुव्रत आंदोलन उसी भावना का विराट् रूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवीय एकता अनुप्रेक्षा

आध्यात्मिक व्यक्ति तोड़ता नहीं, जोड़ता है। वहां तोड़ने वाला कोई तत्त्व नहीं होता। इसी सचाई को प्रकट करने के लिए यह घोषणा की गई थी–'एक्का मणुस्सजाई'–मनुष्य जाति एक है। भौतिक मंच से यह शब्द कभी उच्चरित नहीं हो सकता। जिस मंच से यह घोषणा हुई कि 'मनुष्य जाति एक है' वह आध्यात्मिक मंच था। वहां व्यक्ति में कोई भेद का अनुभव नहीं किया गया। सभी मनुष्यों को एक ही देखा गया और एक ही जाना गया। उसके सिवाय, मनुष्य जाति के सिवाय, कोई दूसरी जाति ही नहीं है जो आध्यात्मिक व्यक्तित्व जोड़ता है और भौतिक व्यक्तित्व तोड़ता है।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति खाएगा, पीएगा, कपड़े भी पहनेगा, मकान में भी रहेगा वह सब कुछ करेगा; पर तोड़ेगा नहीं। वह यह कभी नहीं कहेगा मेरा कपड़ा, मेरा मकान। वह कहेगा–इस मकान में मैं अभी रह रहा हूं, यह कपड़ा मेरे पहनने के काम आ रहा है। इस कथन के पीछे एक सिद्धान्त है, ममत्व नहीं है। सचाई यह है कि मकान किसका हो सकता है ? किसी का नहीं हो सकता। आज तक भी यह संपदा और भूमि किसी की नहीं बनी इसलिए कहा जाता है, यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं हैं, आज तक इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ, विवाह नहीं हुआ। सम्पत्ति शाश्वत कुंआरी रहती है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वह वैसी ही रहती है, वैसी ही रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व को जोड़ना–ये दोनों भिन्न बातें हैं, ये दोनों एक नहीं हैं। भौतिक व्यक्ति में पदार्थ का उपभोग अवश्य होता है, पर ममत्व नहीं जुड़ता। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा' अलग रहते हैं, जुड़ते नहीं।

महावीर ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष किया। 'जन्मना जाति की व्यवस्था ने मनुष्यों में ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना पैदा की, समत्व के सिद्धांत का विखंडन किया। इस स्थिति में मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष नहीं होता तो अहिंसा अर्थहीन हो जाती।' महावीर ने कहा–'मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र।' यह तात्त्विक नहीं है, केवल व्यवहार की उपयोगिता है। मनुष्य केवल मनुष्य है। वह विद्याजीवी होता है तब ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी जीवन में रक्षाजीवी होकर क्षत्रिय, व्यवसायजीवी होकर वैश्य और सेवाजीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य मनुष्य के बीच में ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवार खड़ी नहीं करती।'

महावीर ने सापेक्षवाद से विश्व की व्यवस्था की। उन्होंने कहा, एकता और अनेकता की धारा एक साथ प्रवाहित है। इस सह-अस्तित्व के प्रवाह में 'या तुम या मैं' के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम्हारे बिना मैं और मेरे बिना तुम नहीं हो सकते। तुम और मैं एक साथ ही हो सकते हैं।' संघर्ष वास्तविक नहीं है। घृणा वास्तविक नहीं है। वास्तविक है सहयोग, वास्तविक है समन्वय—अपने अस्तित्व के साथ दूसरों के अस्तित्व की स्वीकृति, अपने व्यक्तित्व के साथ दूसरों के व्यक्तित्व की स्वीकृति।

'मानवीय एकता' की स्वीकृति के साथ मानवीय अनेकता की स्वीकृति जुड़ी हुई है। सब 'मनुष्य एक है' यह सापेक्ष सिद्धांत है। सापेक्षता एकता-अनेकता के बिना नहीं हो सकती। मनुष्य मनुष्य के बीच प्रकृति और व्यवस्थाकृत अनेकताएं भी हैं। उनके आधार पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। यह मानवीय एकता और अनेकता की तथ्यात्मक स्वीकृति है।

महावीर ने उक्त सिद्धान्त का धर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा, 'मनुष्य जाति में एकता और अनेकता—दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं और दोनों वास्तविक हैं। इसलिए ये धर्म का आधार नहीं बन सकतीं। यदि एकता के आधार पर हम मनुष्य जाति से प्रेम करें तो अनेकता के आधार पर द्वेष कैसे नहीं करेंगे ? हम अनेकता को इसलिए द्वेष का आधार बनाते हैं कि एकता के आधार पर प्रेम करते हैं। इस द्वन्द्व के आधार पर होने वाला प्रेम धार्मिक का प्रेम नहीं होता। एकता और अनेकता के द्वन्द्व से जो द्वन्द्वातीत आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का अर्थ होगा—मनुष्य मनुष्य के बीच घृणा और संघर्ष की समाप्ति।

महावीर ने धर्म की दृष्टि से मानवीय एकता की व्याख्या की, उसमें सम्प्रदाय को स्थान नहीं दिया। उनके मतानुसार कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय में दीक्षित है, इसे मूल्य नहीं दिया जा सकता। मूल्य इसका होगा कि कौन व्यक्ति कितना ऋजु, कितना पवित्र और कितना कषायमुक्त है। जैन धर्म में दीक्षित होने वाला मुक्त नहीं भी हो सकता है और अन्य धर्म में दीक्षित होने वाला मुक्त हो सकता है—इसका प्रतिपादन कर महावीर ने धर्म क संप्रदायातीत और भेदातीत स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म आत्मा की आंतरिक पवित्रता है, इसलिए उसका किसी जाति, वर्ग और संप्रदाय से सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु धर्म का बाहरी रूप संप्रदाय में प्रकट होता है, इसलिए वह जाति और वर्ग से भी जुड़ जाता है। महावीर ने अपने धर्म-शासन का द्वार सब जातियों और सब वर्गों के लिए खुला रखा था। उन्होंने कल्पना ही नहीं की होगी की उनका धर्म शासन किसी एक जाति या वर्ग से जुड़कर दूसरों के लिए द्वार बन्द कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटना-चक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्म-शासन मानवीय अनेकता का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं। किंतु महावीर के आधुनिक धर्म-शासन को मानवीय एकता के पक्षधर के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते।

अपरिग्रह मानवीय एकता का महान् सिद्धांत है। इसे विश्व के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है, किंतु जैन समाज को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

अनेकान्त मानवीय एकता का महान् सिद्धांत है। इसे जागतिक समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक जैन शासन को सापेक्षता और समन्वय के महान् प्रयोग के घटक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

सिद्धांत और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध को देखकर प्रश्न होता है—क्या वे सिद्धांत केवल मनोग्राही और बुद्धिग्राही हैं या व्यावहारिक भी हैं ? यदि ये व्यावहारिक नहीं हैं तो इनको प्रस्तुत करने से क्या लाभ ? यदि ये व्यावहारिक हैं तो जैन-शासन इनके व्यवहार से वंचित क्यों ? कालचक्र की घटनाओं ने जैन-शासन को इतना प्रभावित किया कि महावीर के मौलिक सिद्धान्तों की प्रयोगभूमि नहीं रह सका। आज उस जैन शासन की अपेक्षा है जो महावीर के महान् सिद्धान्तों का प्रतिनिधि हो, जिसे महावीर के धर्मशासन का उत्तराधिकार प्राप्त हो। इसकी अर्हता विश्व का कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म और विज्ञान अनुप्रेक्षा

प्रयोगों में चेतना की भूमिका

धर्म और विज्ञान या अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद—यह मेरे विचार से वाद-विवाद का विषय बनता ही नहीं है। धर्म और विज्ञान दो नहीं, वस्तुतः एक ही विषय है। धर्म स्वयं विज्ञान है। एक वैज्ञानिक यहां हिन्दुस्तान में बैठा हुआ किसी प्रकार का प्रयोग या अन्वेषण करता है और जो निष्कर्ष उसके प्रयोग का निकलेगा, वही निष्कर्ष अमेरिका में बैठा हुआ एक वैज्ञानिक उसी तरह का प्रयोग करके प्राप्त करेगा। हजार वर्ष पहले किसी वैज्ञानिक ने प्रयोग करके जो परिणाम निकाला था, हजार वर्ष बाद भी वैसे प्रयोग से वही परिणाम प्राप्त होगा। अतः स्पष्ट है कि त्रिकालाबाधित सत्य ही विज्ञान है। देश या काल के कारण इसमें कोई अन्तर नहीं आ सकता। यही बात धर्म के लिए भी हम सकते है। अतः मानना पड़ेगा धर्म स्वयं विज्ञान है। किसी वस्तु को जानने का जो माध्यम है, वह है विज्ञान और उस माध्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह है धर्म। विज्ञान वस्तु को जानने की प्रक्रिया है और धर्म आत्मा को पाने की प्रक्रिया है, साधन है।

इसलिए हम जब तक मान्यताओं से ऊपर नहीं उठेंगे तब तक यथार्थ तक नहीं पहुंच पाएंगे।

आज लोग विज्ञान को केवल दो शताब्दी पुराना ही मान बैठे हैं। इस काल में जो अन्वेषण और प्राप्ति विज्ञान ने की है, सिर्फ वही विज्ञान है, ऐसी लोगों ने धारणा बना ली है। लेकिन जो उपलब्धियां सामने हैं वे विज्ञान नहीं हैं। वे तो उपलब्धियां मात्र हैं। यथार्थ भाव से देखना ही विज्ञान है। आत्मा से भिन्न कोई विज्ञान है ही नहीं।

अणुबम विज्ञान की देन है। लेकिन वह अपने आप कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि वह जड़ है। चेतना की शक्ति उसका उपयोग करके विनाश ढहाती है। शक्तियों का विकास कोई दोष नहीं है, लेकिन उसका उपयोग सही ढंग से हो। जो विज्ञान को बुरा कहते हैं, उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि धर्म भी बुरा है क्योंकि उनको अलग करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। धर्म और विज्ञान त्रिकालाबाधित सत्य है, यही निष्कर्ष है।

अध्यात्म की तरह विज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त प्राचीन है। विज्ञान के लिए हजारों ने अपने आपको खपाया है। भारत में हजारों वर्ष पहले भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञान के क्षेत्र में अध्यात्म की तरह अनेक अनुसंधान हुए हैं। आचार्यों ने अनेकों गूढ़ साधनाएं कीं, तभी अध्यात्म की अनुभूतियां प्राप्त हुईं। गुस्सा या आवेग जब आता है तो तत्काल दो क्षण के लिए श्वास रोक लें। गुस्सा स्वतः ठण्डा पड़ जाएगा। इसी तरह के अनेक प्रयोग किए गये हैं। योग शास्त्र को जानने वाले खोज करके देखें कि प्राचीन आचार्यों ने कितने प्रयोग किए हैं। प्राचीन समय में हजारों कोस दूर बैठा साधु किसी अन्य साधु को सिर्फ याद करके उसके आसन को डुला (हिला) सकता था और वह समझ जाता था कि उसे याद किया गया है। मैं जो बोल रहा हूं, मेरे ये शब्द आप साक्षात् नहीं सुन रहे हैं। मेरे ये शब्द ब्रह्माण्ड से टकराकर आपके पास पहुंचते हैं। क्या वह विज्ञान नहीं है ?

इस दृष्टि से धर्म और विज्ञान ये दो धाराएं या शाखाएं नहीं हैं, एक ही चेतना-प्रवाह की दो कड़ियां हैं। मूल एक है, टहनियां दो हैं।

जिस तरह विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग विनाशकारी कार्यों में किया गया है, जो सर्वविदित है, उसी प्रकार धर्म का उपयोग भी अनुचित ढंग से किया गया है और कहीं-कहीं तो उसका अत्यधिक दुरुपयोग भी किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि विज्ञान और धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूल एक है। यह विशाल नगरों के फ्लैट सिस्टम की तरह है, जहां एक ही मकान में कई होते हैं और उसमें रहने वाले वर्षों से वहां रहते हुए भी एक-दूसरे से अपरिचित से बने रहते हैं।

अतः आवश्यकता है कि विज्ञान के परिणामों पर अंकुश रखा जाए और वह अंकुश है धर्म और अध्यात्म।

धर्म की वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व वह होता है जो देश-काल से अबाधित हो, जिसका निष्कर्ष सब देश-काल में समान हो। अमेरिका में प्रयोग करने से सफलता मिलती है तो भारत में भी उसके प्रयोग से सफलता मिलेगी। सर्वत्र और सर्वदा जो प्रयोग में एकरूप में रहता है, वह वैज्ञानिक तत्त्व होता है। धर्म इसकी कसौटी में परम वैज्ञानिक तत्त्व है। धर्म की आराधना लन्दन में, भारत में या अमेरिका में कहीं पर भी करो, सबको आनन्द मिलेगा। आज, कल और परसों कभी उसकी आराधना करो, उसके परिणाम में कोई अन्तर नहीं आएगा। धर्म की आराधना करने वाले मुक्त हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, इसलिए धर्म प्रायोगिक है, त्रैकालिक है और देश-काल से अबाधित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य देशों में नए दार्शनिक यह मानने लगे हैं कि अध्यात्म के बिना शांति नहीं मिलती। जैन-आगमों में यह उल्लेख है कि शैक्ष साधु, साधुत्व में रमण करता हुआ, क्रमशः सुखों में बढ़ता है। एक वर्ष की साधना में वह भौतिक जगत् के उत्कृष्ट पौद्‌लिक सुखों को लांघ जाता है।

मस्तिष्कीय तरंगें : उनके कार्य

आनन्द सबसे बड़ी उपलब्धि है। मैं इस आनन्द की व्याख्या वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करना चाहता हूं। मेडिकल इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, मद्रास ने एक उपकरण का निर्माण किया, जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को देखा जा सकता है और उन्हें संप्रेषित भी किया जा सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरंगें होती हैं—अल्फा, बीटा, डेटा, थेटा आदि-आदि। जब 'अल्फा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी आनन्द से भर जाता है। उसके सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं। कठिनाई दूर हो जाती है। जब 'बीटा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी अवसाद से भर जाता है। उसमें उत्तेजनाएं उभरती हैं। इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत् तरंगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है।

अध्यात्म की भाषा में इसे दुःख का चक्र और विज्ञान की भाषा में इसे तरंगों का चक्र कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में बीटा, थेटा आदि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं, वह चाहे अरबपति हो या सारी सुख-सुविधाओं में पलता हो, वह दुःख ही दुःख भोगता चला जाता है। रॉक फैलर का जीवन इसका स्पष्ट उदाहरण है। वह विश्व का महान् धनपति था। उसे धन से कभी भी सुख का अनुभव नहीं हुआ। वह अपने विशाल आर्थिक साम्राज्य को छोड़ एक वर्ष भर के लिए छुट्टियां मनाने अन्यत्र चला गया। वहां उसे धनहीनता में भी जो सुख की अनुभूति हुई वह अनिर्वचनीय थी।

अध्यात्म का सूत्र है कि अल्फा तरंगों को पैदा किया जाये और आनन्द को बढ़ाया जाए। उस आनन्द की इतनी वृद्धि हो कि इन्द्रियों के संवेदनाओं से होने वाली क्षणिक आनन्दानुभूति उसके सामने फीकी पड़ जाए। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का बाह्य आकर्षण छूटने लगता है और आंतरिक आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आरम्भ हो जाता है। यही दूरी को मिटाने का आदि-बिन्दु है। जब तक व्यक्ति को यह लगता है कि इन्द्रियजन्य आनन्द को छोड़ना बहुत बड़े आनन्द से वंचित रहना है, तब तक व्यक्ति उसे छोड़ नहीं सकता। वह उसे तभी छोड़ सकता है जब वह आनन्द छोटा बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाए, अर्थहीन बन जाए। सब यह जानते हैं कि अब्रह्मचर्य से शक्ति क्षीण होती है, ऊर्जा क्षीण होती है, पर सभी ब्रह्मचारी कहां बन पाते हैं ? ब्रह्मचारी तब तक नहीं हुआ जा सकता जब तक उससे बड़ा आनन्द प्राप्त न हो जाये। अल्फा तरंगों का उत्पादन बड़े आनन्द को उपलब्ध करा सकता है। उस स्थिति में सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं। मन आनन्द, सुख और शक्ति से भर जाता है। तब ऐसा अनुभव होता है कि जो प्राप्तव्य था वह प्राप्त हो गया। अब खोज बेकार है, भटकाव व्यर्थ है। अब न सुन्दर रूप आकर्षण पैदा करता है और न मधुर संगीत ही मन को लुभा पाता है। संगीत सुनने की अपेक्षा महसूस नहीं होती। अपने भीतर इतना मधुर संगीत प्रारम्भ हो जाता है कि सुनते-सुनते जी नहीं अघाता। अपने भीतर रस का इतना बड़ा झरना बहने लग जाता है कि उसके सामने सब नीरस-सा लगता है। आनन्द की उपलब्धि किए बिना, सरसता की प्राप्ति के बिना, कथनी और करनी की दूरी मिट नहीं सकती। ध्यान का नशा चढ़े बिना आनन्द उपलब्ध नहीं होता। मदिरापान करने वाला भी मूर्ख नहीं है। वह आनन्द पाने के लिए मदिरा पीता है। यह मदिरा कथनी और करनी की दूरी को बनाए रखती है। यदि इससे छुटकारा पाना है तो ध्यान की मदिरा पीनी होगी।

आर० एन० ए० रसायन

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करें ? अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है ? अध्यात्म की भाषा में आनन्द की उपलब्धि का मार्ग यह है कि पहले उपाधियां मिटे। इसका तात्पर्य है कि कषाय के सारे आवेग समाप्त हों। उपाधियों के मिटने पर आधियां—मानसिक बीमारियां विनष्ट हो जाती हैं। आधियां न होने पर व्याधियां—शारीरिक रोग नहीं रह सकते। व्याधि के मिटने पर जीवन आनन्द से भर जाता है।

ध्यान रूपान्तरण की प्रक्रिया है। उससे आदतें बदलती हैं, स्वभाव बदलता है और पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। इस रूपान्तरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। आज विज्ञान भी इस बात को साबित करने लगा है कि आदमी का रूपान्तरण हो सकता है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क में आर० एन० ए० रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतों पर छाया रहता है। विज्ञान ने यह खोज निकाला है कि रसायन व्यक्ति के रूपांतरण का घटक है। इसे घटाया बढ़ाया जा सकता है। इसके आधार पर ही रूपांतरण घटित होता है। आदतें बदलती हैं। नई आदतें डाली जा सकती हैं। जीवशास्त्री जेम्स ओल्ड्स ने एक प्रयोग किया। उसने चूहों के मस्तिष्क में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक प्रकार की विद्युत् तरंगें प्रसारित कीं। कुछ ही समय बाद उनके मन का भय भाग गया। वे चूहे बिल्ली के सामने निःसंकोच आने-जाने लगे। उनका भय समाप्त हो गया।

लम्बी साधना क्यों करें ?

भय को समाप्त करने के लिए साधना की कुछ प्रक्रियाएं भी हैं। उनके द्वारा भी अभय बना जा सकता हे। वैज्ञानिक प्रयोगों से भी भय को मिटाया जा सकता है। इस प्रकार साधना से जो फलित होता है वही विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा भी फलित हो सकता है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विज्ञान जिसको कुछ ही समय में घटित कर दिखाता है, वह साधना के द्वारा लम्बे समय के बाद घटित होता है। तो फिर व्यक्ति साधना की लम्बी उपासना में अपनी शक्ति को क्यों खर्च करे ? वह आदतों या व्यक्तित्व को बदलने के लिए विज्ञान का ही सहारा क्यों न ले ? यह प्रश्न स्वाभाविक है।

तरंगातीत अवस्था : विज्ञान से परे

हमारे शरीर में तीन केन्द्र हैं। एक केन्द्र वह है जहां तरंगें पैदा होती हैं। दूसरा केन्द्र वह है जहां तरंगें गुजरती हैं। तीसरा केन्द्र वह है जहां तरंगें अभिव्यक्त होती हैं। हमारे शरीर में सारी व्यवस्था है। एक केन्द्र है जहां से क्रोध की तरंगें उठती हैं। वे स्नायुओं से गुजरती हैं और एक केन्द्र पर आकर प्रकट हो जाती हैं। एक व्यक्ति को क्रोध आता है तब यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वह अब क्रोध के वशीभूत है। उसकी आंखें लाल हो जाती हैं। उसकी भृकुटि तन जाती है। होठ फड़कने लग जाते हैं। अपने आप ज्ञात हो जाता है कि गुस्सा उतर रहा है, आ गया है। यह अभिव्यक्ति ज्ञात हो जाती है। किन्तु क्रोध की तरंगों के गुजरने का पथ ज्ञात नहीं होता। उसे हर व्यक्ति जान नहीं सकता। आज का विज्ञान इन सारी बातों को जानता है। प्रत्येक वृत्ति के केन्द्र को उसने खोज लिया है। इस वृत्ति की तरंगें किस पथ से गुजरती हैं, यह भी उसे ज्ञात है। अमुक वृत्ति के केन्द्र पर प्रहार कर उसे निष्क्रिय कर देने पर वह वृत्ति समाप्त हो जाती है। कर्मशास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि उस कर्म के विपाक को बंद कर दिया। विपाक का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण वृत्ति कभी नहीं उभरती। एक नाड़ी को काट देने पर क्रोध समाप्त हो जाता है। एक नाड़ी को काट देने पर उत्तेजनाएं समाप्त हो जाती हैं। उन वृत्तियों की अभिव्यक्ति का केन्द्र निष्क्रिय हो जाता है। जिसमें से वे तरंगें गुजरती थीं, वह रास्ता बन्द हो गया। यहां एक बात पर विशेष ध्यान देना है कि इस प्रक्रिया में तरंगों की अभिव्यक्ति समाप्त हुई किन्तु तरंगों की उत्पत्ति समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हुई है। उनके गुजरने का रास्ता बन्द हुआ है किन्तु उनकी उत्पत्ति का स्रोत नष्ट नहीं हुआ है। वह वैसा ही है। उसी प्रकार सजीव है, सक्रिय है। आदमी नहीं बदला, मुखौटा बदल गया। नींद में सोए आदमी को कितनी ही गालियां दें, वह गुस्सा नहीं करता। क्या हम मान लें कि उसका गुस्सा समाप्त हो गया ? नींद में वह अप्रामाणिक बर्ताव नहीं करता, उत्तेजना का शिकार नहीं होता तो क्या हम यह मान लें कि ये सब वृत्तियां समाप्त हो गयी ? नींद की अवस्था में, सुषुप्ति की अवस्था में अभिव्यक्ति नहीं होती। किंतु इससे यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपान्तरण घटित हो गया। हम यह मानते हैं कि आत्मा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्त्ता है, वह कर्म को बांधती है। कर्म अपना फल देते हैं। कर्मों को भोगना ही पड़ता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार है। किन्तु समस्या का स्थायी समाधान या अन्तिम समाधान नहीं है। उसका अन्तिम समाधान है कि व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में चला जाए। अध्यात्म का सिद्धांत है—सामायिक का सिद्धांत। अध्यात्म का सिद्धांत है—अपने आपको देखने का सिद्धांत। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में पहुंच जाता है तब न राग का तरंग रहता है, न द्वेष का तरंग रहता है। न प्रियता होती है, न अप्रियता होती है, उस स्थिति में क्रोध का तरंग जहां से उठता है उस पर ही प्रहार नहीं होता किन्तु उस तरंग को उठाने का उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियों का प्रभाव मस्तिष्क स्तरों पर स्नायु-संस्थान या नाड़ी—मंडल पर होता है, किंतु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर नहीं होता, किंतु वृत्तियों की तरंगों को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है, इसलिए स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एक मात्र प्रक्रिया है। इसका अवलम्बन लिए बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।

मूल पर प्रहार

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने आप पर आस्था केन्द्रित करना, अपने आपको जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए स्वयं को समर्पित करना, कष्ट सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनन्द में बदल देना यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की केमेस्ट्री ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं बदलती, बल्कि यह प्रक्रिया सूक्ष्म जगत् तक पहुंचकर हमारे सूक्ष्म शरीर—तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को भी प्रभावित करती है। वहां पहुंचकर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उस पर प्रहार होता है।

ध्यान की प्रक्रिया : महानतम खोज

ध्यान प्रक्रिया की खोज विश्व की महानतम खोज है। जो व्यक्ति तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने की दिशा में एक चरण भी आगे रखते हैं, जो सत्य की दिशा में एक चरण भी आगे बढ़ाते हैं, वे वास्तव में सत्य-साक्षात्कार की दिशा में प्रस्थित हैं। उनकी संख्या चाहे दो-चार ही हो या अधिक हो, संख्या गौण है। मूल है उस दिशा में प्रस्थान।

मैंने अनुभव किया है कि जब तक धर्म के साथ विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण बातें—प्रयोग और परीक्षण नहीं जुड़ेंगे, तब तक धर्म का भला नहीं होगा। हम प्रयोग करें, परीक्षण करें। देखें तो सही। आज पचास वर्ष हो गए धर्म करते-करते, क्या परिवर्तन आया जीवन में ? क्या गुस्सा कम हुआ ? आदत बदली ? संस्कार बदला ? नशे की आदत में कोई परिवर्तन आया ? काम-वासना में कोई परिवर्तन आया ? कुछ कम हुआ तो बहुत अच्छी बात है। अगर नहीं तो फिर क्या हुआ ? प्रभु का नाम लेते हैं, भजन-चिन्तन करते हैं, आराधना करते हैं, उपासना करते हैं। जो भी क्रिया-काण्ड करते हैं, क्या मन उस पर टिकता है ? एक विषय पर पांच मिनट तो टिकता होगा। उत्तर मिलता है—पांच मिनट तो क्या पांच सैकण्ड भी नहीं टिकता। दुकान पर बैठते हैं तो मन फिर भी टिक जाता है, पर माला फेरने बैठते हैं तो मन इतना चंचल हो जाता है कि जो बातें कभी याद नहीं आती वे याद आती हैं।

मेरा दूसरा प्रश्न होता है कि तो फिर कैसे हुआ ? जब मन ही नहीं टिकता, चेतना ही नहीं टिकती तो फिर धर्म कौन करता है, शरीर या चेतना? ये अंगुलियां धर्म करती हैं या चित्त ? धर्म करने वाला है हमारा चित्त, हमारी चेतना। वे जब टिकते नहीं तो धर्म कौन करता है ?

जब धार्मिक ने पहला पाठ ही नहीं पढ़ा कि मन की चंचलता कैसे कम करूं तो धर्म क्या हुआ ? हम लोग आगे की बात करते हैं—आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, अद्वैत, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, मोक्ष। किन्तु जिन चर्चाओं को समझने के लिए चित्त की स्थिरता चाहिए, वह हमें प्राप्त नहीं होती। कुंजी तो हमें प्राप्त ही नहीं है, तो इतने बड़े-बड़े तालों को कैसे खोलेंगे ?

आज धर्म के साथ प्रयोग की आवश्यकता है। यदि धर्म के साथ प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जुड़ा तो धर्म निर्जीव हो जाएगा। आज धर्म का गुरु अपने शिष्य को कहता है—गुस्सा मत करो, नशा मत करो, शराब छोड़ो, मांस छोड़ो। पर अगर प्रश्न आए कि कैसे छोड़ूं तो बहुत बड़ी समस्या हो जाती है।

तर्कशास्त्र का एक नियम है कि कारण है तो कार्य होगा। धर्म एक कारण है बुराइयों को छुड़ाने का, आदतों को बदलने का। जब धर्म है तो आदतें निश्चित बदलेंगी। अगर बुराइयां नहीं छूटतीं, आदत नहीं बदलती तो यह समझ लेना चाहिए कि हम धर्म के नाम पर कुछ और ही कर रहे हैं।

मैंने धर्म को विज्ञान के संदर्भ में इसलिए समझने का प्रयत्न किया है कि आज धर्म की जितनी अच्छी व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि में प्राप्त हो सकती है उतनी केवल मान्यताओं के आधार पर नहीं हो सकती। हमारे शरीर में जितनी बुराइयों की व्यवस्थाएं हैं, उतनी ही बुराइयों को टिकाने की व्यवस्थाएं हैं। इतने अपार रहस्य हैं शरीर के। मुझे आज १०-१५ वर्ष हो गए पढ़ते-पढ़ते। अभी तक मैं नहीं कह सकता कि मैंने शरीर के पूरे रहस्यों को जान लिया है। मैं शुरू से ही दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं। दर्शनों को खूब पढ़ा है। सारे भारत के दर्शनों को पढ़ा। किन्तु जब मैंने अपने दर्शन को पढ़ा मुझे बिलकुल नया आयाम मिला, नई दिशा का उद्घाटन हुआ।

मैं यह मानता हूं, आज प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है, अतीन्द्रिय ज्ञान भी हो सकता है। अपनी बहुत सारी सुप्त शक्तियों को भी हम जगा सकते हैं। हम दीन नहीं हैं, दरिद्र नहीं हैं, जो मांगते ही चलें। हम कर सकते हैं। पर संभावनाओं के द्वारों को पहले खोलने की आवश्यकता है। यह मानकर न बैठ जाएं कि आज कुछ नहीं हो सकता। अगर इतना आत्म-विश्वास जाग जाए तो कुछ भी असंभव नहीं है।

मुझे धर्म बहुत प्रिय है किन्तु साथ में विज्ञान भी उतना ही प्रिय है। मैं धर्म को एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हूं। विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं—प्रयोग और परीक्षण। धर्म एक विज्ञान है। धर्म सत्य है। व्यक्ति जब तक अपने शरीर के रहस्यों को नहीं जानता, वह धर्म की ग्रन्थियों को नहीं सुलझा सकता। एक डॉक्टर के लिए शरीर को समझना जितना जरूरी है एक धार्मिक के लिए भी उतना ही जरूरी है। आज एनाटॉमी, साइकोलॉजी एवं फिजियोलॉजी, जो शरीर विज्ञान की तीन शाखाएं हैं, उन्हें जब तक धार्मिक नहीं समझेगा वह सच्चा धार्मिक नहीं बन पाएगा।

आज धार्मिक के सामने बड़ी चुनौती है, बड़ा प्रश्न है कि धर्म से समाज को क्या मिला ? क्या बदला ? व्यक्ति में क्या परिवर्तन आया। सचमुच ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हम उत्तर नहीं दे सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म के तीन रूप हैं—१. उपासना और भक्ति, २. नैतिकता एवं व्रत-संकल्पशक्ति, ३. अध्यात्म चेतना का जागरण। धर्म का पहला रूप है नैतिकता, ईमानदारी एवं व्रत-संकल्पशक्ति। व्यक्ति अगर उपासना करता है, प्रामाणिक है, नाम जपता है तो बात समझ में आती है। किन्तु नैतिकता को बिलकुल तिलांजलि दे दें, अध्यात्म चेतना को छोड़ दें और कोरी उपासना का मार्ग पकड़ लें तो मुझे लगता है धर्म की हत्या हो रही है। आज धर्म तो बुराइयों को ढकने का साधन बन गया है। झूठ को पालने का साधन धर्म बन गया है। कब तक चलेगा ऐसा धर्म ? बहुत खतरा है। इसीलिए हम धर्म को वैज्ञानिक दृष्टि से देखें और देखने की दृष्टि यह हो सकती है कि किस प्रकार शरीरशास्त्रीय एवं मानसशास्त्रीय दृष्टि से हम परिवर्तन ला सकते हैं।

संख्या की परम कोटि—शीर्षप्रहेलिका

जैन आगमों की गणना की परम कोटि का उल्लेख है। उसकी संज्ञा है—शीर्ष प्रहेलिका। उसके समक्ष आज की संख्या बहुत छोटी होती है। एक अंक पर दो सौ चालीस शून्य लगाने से वह संख्या बनती है। वह उत्कृष्ट संख्या है। जब विज्ञान ने सूक्ष्म गणित की बातें प्रस्तुत कीं, तब शीर्षप्रहेलिका की सत्यता स्वयं प्रस्थापित हो गई और उसे बहुत महत्त्वपूर्ण खोज माना गया।

ध्वनि-विज्ञान की महान् उपलब्धि

जैन साहित्य में उल्लेख है कि एक घण्टा है अवस्थित। वह एक स्थान पर बजता है। उसकी ध्वनि से प्रकंपित होकर दूर-दूर हजारों-लाखों घण्टे बज उठते हैं। असंख्य योजन तक यह घटना घटित होती है। लोगों ने इस उल्लेख को कपोल-कल्पित बताया। किन्तु जब विज्ञान ने ध्वनि-तरंगों की द्रुतगामिता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, तब यह सत्य भी प्रमाणित हो गया। आज यह ध्वनि-विज्ञान की महानतम उपलब्धि माना जाता है।

जब तक व्यक्ति सूक्ष्म पर्यायों की ओर प्रस्थान नहीं करता तब तक सचाई को नहीं पा सकता। जब तक अनेकांत की दृष्टि का विकास नहीं होता, तब तक उस दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक उपलब्धि

मनुष्य सारी जीवन-यात्रा स्थूल शरीर की परिक्रमा करते हुए करता है। जीवन इसी स्थूल शरीर के आस-पास चलता है। इस सीमा को पार कर आगे जाने वाले कुछ ही लोग होते हैं। हमारे पास जानने के जितने भी साधन हैं, वे सब स्थूल हैं। वे सब स्थूल को पकड़ सकते हैं। सूक्ष्म को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानने का कोई भी साधन नहीं है।

इस वैज्ञानिक युग ने मनुष्य जाति का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितना सम्यग् दृष्टिकोण है वह ५०-१०० वर्ष पूर्व नहीं हो सकता था। आज सूक्ष्म के प्रति जितनी गहरी जिज्ञासा है, उतनी पहले नहीं थी। कुछ समय पूर्व जब कभी सूक्ष्म सत्य की बात प्रस्तुत होती तो मनुष्य उसे पौराणिक या मन-गढंत मानकर टाल देता था। उसे अन्धविश्वास कहता था। एक ऐसा शब्द है अन्धविश्वास कि उसकी ओट में सब कुछ छिपाया जा सकता है, किन्तु विज्ञान ने जैसे-जैसे सूक्ष्म सत्य की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की, वैसे-वैसे अन्धविश्वास कहने का साहस टूटता गया। अब यदि कोई व्यक्ति किसी बात को अन्धविश्वास कह कर टालता है तो वह साहस ही करता है। आज विज्ञान जिन सूक्ष्म सत्यों का स्पर्श कर चुका है, दो शताब्दी पूर्व उनका कल्पना करना भी असंभव था। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुंच रहा है। प्राचीन काल में साधना द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास और सूक्ष्म सत्यों का साक्षात्कार किया जाता था। आज के आदमी ने अतीन्द्रिय अभ्यास भी खो दिया, पद्धति भी विस्मृत हो गई। अब सिवाय विज्ञान के कोई साधन नहीं है। वैज्ञानिकों ने कोई साधना नहीं की, अध्यात्म का गहरा अभ्यास नहीं किया, अतीन्द्रिय चेतना को जगाने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु इतने सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया, जिनके माध्यम से अतीन्द्रिय सत्य खोजे जा सकते हैं, देखे जा सकते हैं। वे सारे सत्य इन सूक्ष्म उपकरणों से ज्ञात हो जाते हैं। इसका फलित यह हुआ कि आज का विज्ञान अतीन्द्रिय तथ्यों को जानने-देखने और प्रतिपादन करने में सक्षम है।

एस्ट्रलप्रोजेक्शन और समुद्घात

एक हब्शी महिला है। उसका नाम है—लिलियन। वह अतीन्द्रिय प्रयोगों में दक्ष है। उससे पूछा—तुम अतीन्द्रिय घटनाएं कैसे बतलाती हो ? उसने कहा, 'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओं को जान लेती हूं। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राण शरीर से बाहर निकल कर, जहां घटना घटित होती है, वहां जाती हूं और सारी बातें जानकर दूसरों को बता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रलप्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परम्परा की समुद्घात प्रक्रिया है। समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जब विशिष्ट घटना घटित होती है तब व्यक्ति स्थूल शरीर को, प्राणशरीर को बाहर निकाल कर घटने वाली घटना तक पहुंचाता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणशरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएं हैं।

समुद्घात सात हैं—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। जब व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तब उसका प्राण शरीर बाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है। जब आदमी के मन में अति लालच आता है तब भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भयंकर बीमारी में, मरने की अवस्था में भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। आज के विज्ञान के सामने ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं।

एक रोगी ऑपरेशन थियेटर में टेबल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर ऑपरेशन होना है। डाक्टर ऑपरेशन कर रहा है। उस समय उस व्यक्ति में वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राण शरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर की छत के आस-पास स्थिर हो सारा ऑपरेशन देख रहा है। ऑपरेशन करते-करते एक बिन्दु पर डाक्टर ने गलती की। तत्काल ऊपर से रोगी ने कहा, डॉक्टर ! यह भूल कर रहे हो। डॉक्टर को पता नहीं चला—कौन बोल रहा है। उसने भूल सुधारी। वेदना कम होते ही रोगी का प्राण शरीर पुनः स्थूल शरीर में आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, छत पर लटकते हुए मैंने पूरा ऑपरेशन देखा है।

शरीर प्रक्षेपण की अनेक प्रक्रियाएं हैं। इन प्रक्रियाओं में प्राण शरीर बाहर चला जाता है।

उस हब्शी महिला लिलियन ने कहा—'एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा यथार्थ बात जान लेती हूं। मैं लोगों के आभामंडल में प्रविष्ट होकर उनके चरित्र का वर्णन कर सकती हूं। किन्तु शराबी आदमी के चरित्र को मैं नहीं जान सकती, क्योंकि शराबी आदमी का आभामंडल अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह इतना धुंधला हो जाता है कि उसके रंगों का पता ही नहीं चलता।'

हमारी भावनाएं, हमारे आचरण आभामंडल के निर्माता हैं। जब अच्छी भावनाएं और पवित्र आचरण होता है तब आभामंडल बहुत सशक्त और निर्मल होता है। जब भावधारा मलिन होती है और चरित्र भी मलिन होता है। तब आभामंडल धूमिल, विकृत और दूषित हो जाता है।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रॉनिक विशेषज्ञ सेमयोन किर्लियान तथा उनकी वैज्ञानिक पत्नी बेलेन्टिना ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। उस विधि द्वारा प्राणियों और पौधों के आस-पास होने वाले सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का छायांकन किया जा सकता है। जब एक पौधे से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्काल तोड़ी गयी पत्ती की सूक्ष्म गतिविधियों की फिल्म खींची गयी तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आये। पहले चित्र में पत्ती के चारों ओर स्फुलिंगों, झिलमिलाहटों और स्पंदी ज्योतियों के मंडल दिखाई दिये। दस घण्टे बाद लिए गए छाया-चित्रों में ये आलोक मंडल क्षीण होते दिखाई दिये। अगले दस घंटों के छाया-चित्रों में आलोक मण्डल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे। इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान दम्पत्ति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खींची। उसमें आलोक मंडल प्रारंभ से ही कम था। वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। किर्लियान दम्पति ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यन्त निकट से मानव शरीर के छाया-चित्र खींचे। उन छाया-चित्रों में गर्दन, हृदय, उदर आदि अवयवों पर विभिन्नों रंगों के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये। वे उन अवयवों से विसर्जित होने वाली विद्युत् ऊर्जाओं के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवों में भी होती है। पशु-पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है। इसलिए आभामंडल भी प्राणीमात्र में होता है।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बना लेता, एलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड नहीं बना लेता, तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रों और चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास—इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

आज के पेरासाइकोलॉजिस्ट टैलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टैलीपैथी का अर्थ है—विचार-संप्रेषण। एक आदमी कोसों की दूरी पर है। उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है ? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारों कोसों पर रहने वाले अपने व्यक्तियों से बात कर लेता है। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, तो वे दूर स्थित व्यक्तियों से बात कैसे करते ? टैलीपैथी शब्द भी नहीं था, यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय विचारों को हजारों कोस दूर भेजना विचार-संप्रेषण की प्रक्रिया से होता था। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे ? आधुनिक साधन तो थे नहीं उस समय। किन्तु उस समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार-संप्रेषण की साधना की जाती थी जिससे विचारों का आदान-प्रदान हो जाता था।

प्रेक्षाध्यान पद्धति

प्रेक्षाध्यान की पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति इस अर्थ में है कि केवल अंधेरी कोठरी में ढेला फेंकने की बात इसमें नहीं है। पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणाम—दोनों का स्थान इसमें है। इस आदत का कारण क्या है और इसका परिणाम क्या है ? इसके बदलने का हेतु क्या है ? इसकी प्रक्रिया क्या है ? यह सब बहुत स्पष्ट है गणित की भांति। किसी को संदेह करने की जरूरत नहीं। शरीर-विज्ञान के साथ-साथ अध्यात्म-विज्ञान को जानने वाला, इस सचाई को बहुत जल्दी पकड़ लेता है। उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केन्द्र हैं चेतना के, उनका फंक्शन कैसे बदलता है और उसका परिणाम क्या होता है। यह केवल शरीर-विज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों—शरीर-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान जुड़ जाएं तो सामाजिक जीवन की पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा जुड़े और सामाजिक जीवन प्रणाली के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुड़े। दोनों का योग हो जाए। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपान्तरण हो सकता है। हमारा मुख्य लक्ष्य है—चेतना का रूपान्तरण। शरीर का रूपान्तरण साध्य नहीं है। इसका चिकित्सात्मक पहलू भी है किन्तु वह मुख्य लक्ष्य नहीं है। मुख्य लक्ष्य है—चेतना का रूपान्तरण, चेतना की चिकित्सा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक संतुलन अनुप्रेक्षा

साधना का अर्थ है—संतुलन का अभ्यास। प्रतिकूलता में पारा गर्म होना, आपे से बाहर होना, अनुकूलता में फूलकर कुप्पा बनना, दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। मनुष्य को हर स्थिति में संतुलित रहना चाहिए। अभ्यास के बिना संतुलित रहना कठिन होता है। किन्तु साधना का लक्ष्य होने के बाद कठिन भी सरल हो जाता है।

मन क्यों टूटता है ? मन में बेचैनी क्यों होती है ? मन में डिप्रेसन क्यों होता है ? मन क्यों सताता है ? उसमें कमजोरियां क्यों आती हैं ? उसमें भय क्यों उत्पन्न होता है ? अकारण ही भय क्यों सताता है ? ये प्रश्न हैं। मैं समझता हूं, यह इसलिए होता है कि गधे पर हाथी का भार लाद दिया गया है। इतना भार आने पर गधा टूटेगा ही, दबेगा ही।

इन सब समस्याओं से मुक्त होने के लिए हम वर्तमान को समझें, वर्तमान में जीएं, पर अतीत से कट कर नहीं, अतीत का पूरा मूल्यांकन करते हुए। क्योंकि हम अतीत से बहुत प्रभावित होते हैं। इसलिए अतीत को समझना बहुत आवश्यक है। अतीत का परिष्कार करते चलें, पर वर्तमान में गधे पर इतना बोझ न लादें कि वह टूट जाए। बोझ को धीरे-धीरे कम करते जाएं। इन सारी समस्याओं से निपटने के लिए हमें मन और मन पर होने वाले प्रभावों को समझना जरूरी है।

जब तक हम मन पर होने वाले प्रभावों के घटक तत्त्वों को नहीं समझेंगे, मन पर क्षेत्र का क्या प्रभाव होता है, काल का क्या प्रभाव होता है, इसको नहीं जानेंगे तब तक मानसिक शांति का प्रश्न समाहित नहीं होगा। वह प्रश्न ही बना रहेगा। इस संक्रमण और प्रदूषण के वातावरण में जीने वाला आदमी जब तक शोधन नहीं करेगा तब तक साधना की बात पर्याप्त नहीं होगी। चूल्हा है। आग जल रही है। ऊपर पानी से भरा बर्तन रखा हुआ है। आदमी सोचता है कि पानी गर्म न हो। नीचे आग जल रही है, बर्तन को आंच लग रही है तो पानी गर्म कैसे नहीं होगा ? जब तक आग है तब तक पानी गर्म होता रहेगा, उबलता रहेगा। नीचे तो हमारे भावों की आग जल रही है। अशुद्ध भावों की तेज अग्नि भभक रही है। प्रतिशोध का भाव है। वासना का भाव है। भय और घृणा का भाव है। राग और द्वेष का भाव है। यह अग्नि जल रही है तो ऊपर रखा हुआ मन गर्म क्यों नहीं होगा? वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उबलेगा क्यों नहीं? अशांत क्यों नहीं होगा ? मन पानी है। पानी गर्म नहीं होता। उसका स्वभाव है ठंडापन। पानी ठंडा होता है। जब आग आती है, तब उसे गर्म होना पड़ता है। बेचारा मन अशान्त नहीं है, ठंडा है, किन्तु नीचे अशुद्ध भावों की भट्टी जल रही है, तब बेचारा मन गर्म क्यों नहीं होगा? उसमें उबाल क्यों नहीं जाएगा ?

यदि मन की अशांति को मिटाना है तो हमें ध्यान देना होगा भावों पर। भाव की शान्ति, मन की शान्ति। भाव की अशान्ति, मन की अशांति। यह समीकरण प्राप्त होगा।

मानसिक स्वास्थ्य की कसौटियां

मनोविज्ञान ने 'परसनेलिटि पैरामीटर' की पद्धति से व्यक्तित्व को अंकित करने और मानसिक स्वास्थ्य को जांचने के छह सूत्र दिए हैं। ये छह पैरामीटर हैं।

पहला पैरामीटर है—वेश-भूषा। व्यक्ति कैसे कपड़े पहनता है ? वह अपने प्रति कितना सजग है ? वह कपड़ों को किस चतुराई से धारण करता है। कपड़े पहनने की विधि से मन की प्रसन्नता नापी जा सकती है।

दूसरा पैरामीटर है—व्यवहार। व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है। कभी संतुलित व्यवहार और कभी असंतुलित व्यवहार करने वाले का मन स्वस्थ नहीं होता। जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो उसके प्रति सामने वाला कितना ही दुर्व्यवहार क्यों न करे, वह अपना संतुलन नहीं खोएगा। वह अच्छा ही करेगा। वह अपने अच्छे व्यवहार के द्वारा सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार को बदलेगा या उसे यह सोचने के लिए बाध्य करेगा कि यह व्यक्ति सचमुच ही विनम्र और सद्-व्यवहार करने वाला है।

मानसिक स्वास्थ्य का तीसरा पैरामीटर है—विचार। मानसिक अशांति का बहुत बड़ा कारण यह है कि व्यक्ति विचार करना नहीं जानता। आदमी सोचने कुछ बैठता है और सोच कुछ और लेता है। आदमी जानता ही नहीं कि कैसे सोचना चाहिए ? कैसे चिंतन करना चाहिए ? मनुष्य का सारा जीवन विचार के द्वारा संचालित होता है। उसके जीवन का सारा कार्यकलाप विचार के द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु वह नहीं जानता कि कैसे सोचना चाहिए? कैसे चिंतन करना चाहिए ? सोचते समय मनुष्य के सामने अनेक तर्क प्रस्तुत होते हैं और वह अपने सोचने के मार्ग से भटक जाता है। विचार के द्वारा व्यक्ति को परखा जा सकता है। व्यक्ति के विचारों का विश्लेषण करो और तुम यह जान जाओगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि वह कैसा है। विचार के द्वारा ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को जाना जा सकता है। जब मन स्वस्थ होता है तब व्यक्ति की उपज भी स्वस्थ होती है। वह सही बात को सही ढंग से सोचता है।

मानसिक स्वास्थ्य का चौथा पैरामीटर है–प्रतिक्रिया। विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। कोई व्यक्ति कटु बात कहता है तो उसका उत्तर कटु बात से ही दिया जाए, यह जरूरी नहीं है। किन्तु जब ये प्रतिक्रियाएं प्रगट होती हैं तब यह जान लिया जाता है कि व्यक्ति मन से कितना रुग्ण है। पिता यदि मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो पुत्र के क्रोधित होने पर भी वह विचलित नहीं होता। वह कहेगा–बेटा ! कोई बात नहीं है। धैर्य रखो। शांत होकर इस बात को सोचो।' लोग सोचते हैं–बेटा गुस्से में है और बाप यदि उससे दुगुना गुस्सा न करे तो वह कैसा बाप ! ऐसा सोचना मानसिक अस्वास्थ्य का लक्षण है।

मानसिक स्वास्थ्य को मापने का पांचवा पैरामीटर है–स्वभाव। आदमी का स्वभाव कैसा है ? आदमी आलसी है या कर्मठ ? आशावादी है या निराशावादी ? कुछ लोग ऐसे होते हैं जो आशा में भी निराशा ढूंढ निकालते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निराशा में भी आशा ढूंढ निकालते हैं। आशावादी व्यक्ति नीरस वातावरण में भी आशा और उत्साह भर देता है। यह न मानें कि जो व्यक्ति हमेशा आशा और उत्साह की बात करते हैं, वे अयथार्थ हैं। वह जीवन का यथार्थ है, जीवन का पलायन नहीं है। वे इस सचाई में एक तथ्य यह जोड़ देना चाहते हैं जिससे कि यह सचाई वास्तविक सचाई या क्रियान्विति की सचाई बन जाए। निराशा में आशा देखने वाले व्यक्ति ऐसे होते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को मापने का छठा पैरामीटर है–निर्णय की शक्ति। व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नहीं लेता ? व्यक्ति तत्काल निर्णय लेता है या नहीं लेता ? चिन्तन तो चलता है और निर्णय कुछ भी नहीं लिया जाता। इन सबके आधार पर मन के स्वास्थ्य का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण के ये छह पैरामीटर, छह बिन्दु सुझाए हैं। हमने आध्यात्मिक दृष्टि से समता के बिन्दुओं पर विचार किया और मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक स्वास्थ के बिन्दुओं पर विचार किया। इसका निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति संतुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, सहिष्णुता का जीवन जीता है, मन को आवेगों और दुश्चिंताओं की भट्टी में नहीं झोंकता, वह व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। समता का बहुत बड़ा परिणाम है मानसिक स्वास्थ। जिस व्यक्ति ने समता का मूल्यांकन नहीं किया, उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी भी संजोकर रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो व्यक्ति समता का अनुभव करता है, संतुलन का अनुभव करता है, वह व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को एक बहुत बड़ी धरोहर मानकर उसकी सुरक्षा करता है। समता का होना मानसिक स्वास्थ्य का होना है और मानसिक स्वास्थ्य का होना समता का होना है।

मन का प्रशिक्षण

दर्शन का एक आयाम है—मन का प्रशिक्षण। हम मन को प्रशिक्षित कर, मन को सूक्ष्म बनाकर जितना देख सकते हैं उतना स्थूल मन के द्वारा नहीं देख पाते। मन को प्रशिक्षित करने के अनेक सूत्र हैं। उनमें पहला सूत्र है--भावक्रिया। भावक्रिया का अर्थ है—कर्म और मन का सामंजस्य। कर्म और मन—दोनों साथ-साथ चलें। मन कहीं भटक रहा है और क्रिया कुछ हो रही है, यह विसंवाद है। मन को प्रशिक्षण देने का एक मात्र उपाय है ध्यान। ध्यान सधता है तो मन सध जाता है। खाए तो मन खाने की स्मृति में रहे, चले तो मन चलने की स्मृति में रहे, बोले तो मन बोलने की स्मृति में रहे, सोचें तो मन मस्तिष्क की प्रक्रिया में जुटा रहे, यह है कर्म और मन का सामंजस्य। भावक्रिया दर्शन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। जब भावक्रिया सध जाती है तब ध्यान की पद्धति केवल एक घंटा बैठकर करने की पद्धति नहीं रहती, वह समग्र जीवन दर्शन बन जाता है। फिर प्रत्येक क्रिया में ध्यान बना रहेगा। फिर चाहे व्यक्ति झाड़ू लगाएगा, तब भी ध्यान होगा। हाथ झाड़ू लगाएगा तो मन भी साथ-साथ झाड़ू लगाने की दिशा में संलग्न हो जाएगा। यह नहीं होगा कि हाथ तो झाड़ू लगाए और मन कहीं सिंहासन पर जाकर बैठ जाए। यह व्यक्तित्व का विभाजन नहीं होगा। यह खंडित व्यक्तित्व नहीं होगा। जिस काम में शरीर व्यापृत है, उसी काम में मन व्यापृत हो जाएगा। ऐसा नहीं होगा कि मन आदेश देकर कहीं चला जाए और शरीर बेचारा काम करता रहे। यह स्वामी और सेवक का संबंध भावक्रिया में नहीं रहेगा। वहां दो साथियों का संबंध होता है मन और शरीर में। दोनों साथ-साथ काम करेंगे। दोनों साथ-साथ विश्राम करेंगे। मन काम करेगा तो शरीर भी काम करेगा। मन विश्राम करेगा तो शरीर भी विश्राम करेगा। दोनों का पूरा सामंजस्य होगा।

भावक्रिया मन को प्रशिक्षित करने का पहला सूत्र है। इससे मन पटु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, सूक्ष्म होता है, जिससे कि वह सूक्ष्म को भी पकड़ सके।

मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है—कल्पनाशक्ति का विकास, संकल्प या इच्छाशक्ति का विकास। मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह स्पष्ट चित्र बना सके। कल्पनाशक्ति के द्वारा चित्र का निर्माण और संकल्पशक्ति के द्वारा उस चित्र की उपलब्धि। हमारी जो भावना होती है उसको हम अपने सुझावों के द्वारा इच्छाशक्ति के रूप में बदल देते हैं और फिर इच्छाशक्ति के द्वारा जहां पहुंचना चाहते हैं वहां पहुंच जाते हैं। जो होना चाहते हैं वह हो जाते हैं। जिस दिशा में हम चलना चाहते हैं, उस दिशा में स्वयं प्रस्थित हो जाते हैं।

मन को प्रशिक्षित करने का तीसरा सूत्र है—एकाग्रता। मन का सहज स्वभाव है—चंचलता। वह कहीं एक स्थान पर नहीं टिकता। कहीं न टिकना, चंचल बना रहना, यह मन की अपनी सहज प्रकृति है। यदि वह स्थिर हो जाता है तो मानना चाहिए वह अपनी प्रकृति से ऊपर उठ गया है। मन की तुलना पारे से की जा सकती है। पारा सहज चंचल होता है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता। हजारों वर्षों से यह प्रश्न चर्चित होता रहा है कि मन को कैसे पकड़ा जाए। मनुष्य उद्यमशील है। उसने अनेक गूढ़ सत्य खोज निकाले हैं। पारा चंचल है, पर आदमी ने उसकी गोलियां बांध दी। अब उसे पकड़ा जा सकता है। पारे की गोली हो सकती है तो मन क्यों नहीं बांधा जा सकता ? वह भी बंध सकता है। विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा पारा बंध सकता है। वैसे ही ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा मन बांधा जा सकता है।

मन को बांधने की एक प्रक्रिया है एकाग्रता। मन को ऐसा अभ्यस्त करना चाहिए कि वह एक स्थान पर टिक सके। एक ध्येय पर टिक सके। जब मन एक विषय पर तीन घंटा टिक जाता है तब मन की असंख्य शक्तियां जागृत हो जाती हैं। तीन घंटा टिका पाना सहज नहीं है। बहुत अभ्यास और धृति की अपेक्षा होती है। यदि मन एक घंटा भी टिक जाता है तो साधक स्वयं अनुभव कर सकता है कि भीतर कितना विस्फोट हो रहा है, कितनी शक्तियां जाग रही हैं। एक घंटा स्थिर रहना बहुत दूर की बात है, यदि कोई व्यक्ति ५-१० मिनट एक विषय पर स्थिर रह सकता है तो वह अनुभव कर सकता है कि शरीर में शक्ति का विस्फोट हो रहा है।

मन को प्रशिक्षित करने का चौथा सूत्र है—प्रेक्षा का अभ्यास। प्रेक्षा का अभ्यास है—देखना। मन को देखने का अभ्यास करना चाहिए। मन सोचना तो बहुत जानता है। उसे यही सिखाया गया है। मन भी पक्का हो गया। वह निरन्तर सोचने में लगा रहता है। हमें उसे दिशा में प्रशिक्षित करना है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह देख सके। मन में देखने की शक्ति भी है। सोचना और विचारना यह मन की सतही अवस्था है। देखने में बहुत गहराई होती है। जब मन देखने लग जाता है तब सोचने की बात नीचे रह जाती है। कोई भी बात आती है तो देखने की बात मुख्य होगी, सोचने की बात परिपार्श्विक बन जाएगी। हम सोचते हैं, विचारते हैं, उसका हम स्वयं अनुभव नहीं करते और वही बात जब हमारे सामने आती है तब हम विश्वस्त हो जाते हैं कि यह बिल्कुल ठीक है। क्योंकि जब हम केवल सोचते हैं, देखते नहीं, तब वह बात हमारे प्रत्यक्ष नहीं होती। किंतु जब हम आंखों से देख लेते हैं तब कोई संदेह नहीं होता।

दीर्घ-श्वास का प्रयोग निर्विचारता का प्रयोग है। यह चिन्तन को सीमित करने का प्रयोग है। यदि अच्छा अभ्यास हो जाता है तो जब चाहें चिंतन कर सकते हैं और जब चाहें चिंतन को रोक सकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें भाषण देना होता है तो पहले पूरी तैयारी करते हैं। बोलते हैं तो चिंतन के साथ बोलते हैं। और भाषण देने के बाद भी चिन्तन चलता रहता है। अगर यह कहता तो और अच्छा रहता। यह कहता तो और भी अच्छा होता। तीन भाषण हो जाते हैं। एक जनता के सामने आता है, दो अपने मस्तिष्क में रहते हैं। तीन भाषण देने वाले लोग ही मिलेंगे। ऐसे व्यक्ति विरल हैं जो भाषण से पहले भी चिंतन नहीं करते, भाषणकाल में चिंतन किया और समाप्त, निःशेषम्। मैंने एक सूत्र बनाया था निश्चित होने के लिए, वह था निःशेषम्। हम कोई भी काम करें, गंभीर अध्ययन, गंभीर शोध या गंभीर प्रवृत्ति करें, पूरी तन्मयता के साथ करें, उसमें डूब जाएं। जैसे ही उठें, एक बात का संकल्प ले लें—निःशेषम्। बस, काम मेरा पूरा हो गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा। अब कल नया अध्याय शुरू करूंगा। नया जीवन शुरू करूंगा। नया काम शुरू करूंगा। हम यदि यह भार लेकर उठते हैं कि इतना काम बाकी रह गया तो काम होगा या नहीं होगा, पर दिमाग की शक्ति अवश्य ही खर्च हो जाएगी, तनाव बढ़ जाएगा और वह चिंतन चिंता में बदल जाएगा, कार्य अधूरा रह जाएगा। रावण जैसे शक्तिशाली व्यक्ति ने मरते समय कहा था कि मेरी इतनी बातें अधूरी रह गईं। कौन व्यक्ति है जो यह नहीं कहता है ? एक साधना करने वाला आध्यात्मिक व्यक्ति कह सकता है मेरा कोई काम अधूरा नहीं है, सब पूरा हो गया है। उसका चिन्तन चिन्ता नहीं बन पाएगा। यदि हम चिन्तन और चिंता के भेद को समझ लें तो कोई उलझन नहीं होगी। एक बार आचार्यश्री तुलसी के सामने एक व्यक्ति ने आकर कहा—भीड़ आ रही है, न जाने क्या होगा ? बहुत भय दिखाया, बहुत डरावनेपन की बातें कीं। आचार्यश्री ने एक ही उत्तर दिया—बहुत सुन्दर चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दों का उत्तर—चिंता नहीं, चिंतन करें। व्यथा नहीं, व्यवस्था करें।

व्यथा करना अलग बात है और व्यवस्था करना अलग बात है। चिन्ता करना अलग बात है और चिन्तन करना अलग बात है। चिन्ता नहीं, व्यथा नहीं। चिन्तन हो और व्यवस्था हो। पर चिन्तन भी इतना न हो कि वह चिंतन भी चिंता बन जाए। हर बात की दुनिया में सीमा होती है। उस सीमा को समझना और उस सीमा का उपयोग करना बहुत जरूरी है। मानसिक संतुलन के लिए चिन्तन को भी सीमित करना आवश्यक है और यह एक प्रयोग है—श्वास का, जिसमें चिंतन के चक्के को भी हम रोक सकते हैं। जिस समय श्वास लेते हैं, श्वास में ध्यान केन्द्रित होता है, विकल्प समाप्त होता है, विचार समाप्त होता है, चिंतन समाप्त होता है। श्वास का अभ्यास करते-करते भी ऐसा लगे कि विचार बीच में ज्यादा आ रहे हैं तो एक अभ्यास करें कि श्वास को बीच-बीच में रोक दें। जैसे ही श्वास का संयम हुआ, श्वास को रोका और एकदम विचार शांत हो जाएंगे। विचारों का शांत करने का बहुत अच्छा उपाय है कुम्भक।

दूसरा उपाय एक और भी किया जा सकता है। जब यह लगे कि विकल्प ज्यादा उठ रहे हैं तो जीभ को स्थिर कर लें जीभ को दांतों के साथ गहरा दबा दें। जीभ स्थिर होती है तो विचार और चिन्तन अपने आप स्थिर हो जाता है। जीभ का और विचारों का गहरा सम्बन्ध है।

तीसरा उपाय यह भी कर सकते हैं कि जीभ को उल्टा लें तालू की ओर। तालू की ओर जीभ को उलटते ही विचारों का प्रवाह एकदम रुक जाएगा।

ये छोटे-छोटे अभ्यास हैं, छोटे-छोटे प्रयोग हैं। ये हमारे चिन्तन को चिंता में बदलने से रोकते हैं। और जब चिंता नहीं होगी तो मानसिक संतुलन बना रहेगा।

मानसिक असंतुलन के कारण

मानसिक असंतुलन का एक कारण है—आवेश, उत्तेजना। आवेशात्मक प्रवृत्तियों पर हमारा नियंत्रण नहीं है। हर बात में उत्तेजना आ जाती है। ध्यान का अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम अपने आप पर नियंत्रण करने की स्थिति में आ जाते हैं। ध्यान से सारे आवेग समाप्त हो जायेंगे, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता। यह तो बहुत आगे की बात हो सकती है। पर यह भी कम बात नहीं है कि हम जब चाहें तब दरवाजे को बन्द कर सकते हैं, और जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहें तब उस पर ताला लगा सकते हैं। इसीलिए दरवाजे का, ताले का, कुंजी का विकास हुआ कि आदमी सुरक्षित रह सके। यह अपनी सुरक्षा का एक बहुत बड़ा माध्यम बनता है।

हमारी एक ऐसी चेतना जाग जाए कि आवेश आने की स्थिति में हम तत्काल दरवाजा बन्द कर दें और शांत रह सकें। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है और केवल मनुष्य ही ऐसा कर सकता है, पशु नहीं कर सकता। पशु के सामने उत्तेजना की स्थिति आएगी, वह उत्तेजना में चला जाएगा। चाहे भैंस हो, भैंसा हो, सूअर हो, रीछ हो, कोई भी पशु हो, वे ऐसे आवेश में आएंगे, फुफकारने लग जाएंगे और तमतमा उठेंगे। मनुष्य में यह क्षमता है कि आवेश की स्थिति होने पर भी वह अनाविष्ट रह सकता है और आवेश पर नियंत्रण कर सकता है। इस चेतना का विकास मनुष्य ने किया इसीलिए वह संतुलन का जीवन जी सकता है।

मानसिक असंतुलन का दूसरा कारण है—आग्रह। आग्रह बहुत असंतुलन पैदा करता है। आप सूक्ष्मता से ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि पारिवारिक कठिनाइयों में जिद्द की प्रकृति सबसे ज्यादा तकलीफ देती है। एक बात पकड़ ली, बस अब नहीं छोड़ेंगे। समूचे परिवार में कलह का वातावरण बन जाता है। एक घर में दीवारें खिंच जाती हैं, कई चूल्हें जल जाते हैं। चूल्हें जल जाएं, दीवारें खिंच जाएं, कोई बड़ी बात नहीं, किंतु कटुता के कारण बाप और बेटा दस-दस वर्ष तक मिलते नहीं। बाप दूसरे व्यक्ति के आने पर हंस-हंस कर बात करता है, किंतु लड़का सामने आने पर आंखें घुमा लेता है, चेहरा घुमा लेता है और अकस्मात् ही सामने आ जाए तो आंखों में गर्मी उतर जाती है। बड़ी अजीब स्थिति होती है। इसमें आग्रह का बहुत बड़ा योग होता है।

मानसिक असंतुलन का तीसरा कारण है—पक्षपात। यह अपना संतुलन भी बिगाड़ता है और सामने वाले का संतुलन भी बिगड़ता है। ये शिकायतें भी बहुत आती हैं कि मैं पिता का विनीत था और अभी हूं किंतु पिता ने ऐसा पक्षपात किया कि एक बड़े भाई को तो सारा धन दे दिया और मुझे अंगूठा दिखा दिया। बड़े भाई के प्रति छोटे भाई का, मां के प्रति लड़के का और सौतेली मां हो तो फिर कहना ही क्या ! यह पक्षपात का भी एक बड़ा प्रश्न है। मालिक का भी अपने कर्मचारी के प्रति इस पक्षपात के कारण मानसिक संतुलन गड़बड़ा जाता है।

मानसिक असंतुलन का चौथा कारण है—असंतुलित आहार। असंतुलित आहार के कारण भी संतुलन बिगड़ जाता है। यह विषय पर कम ध्यान दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, किन्तु आज की वैज्ञानिक खोजों ने इस बात पर बहुत प्रकाश डाला है। पागलपन जो होता है वह केवल मानसिक उलझनों के कारण नहीं होता। असंतुलित भोजन के कारण भी आदमी पागल बन जाता है। यह जो पोषक तत्त्वों के निर्देशन का विषय है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कोरा अन्न ही अन्न खाया, कार्बोहाइड्रेट खाया, श्वेतसार खाया, पेट तो भर जाएगा पर मस्तिष्कीय संतुलन बिगड़ जाएगा। प्रोटीन भी चाहिए, वसा भी चाहिए, लवण भी चाहिए, सब चाहिए। जब भोजन पूरा संतुलित होता है तो मस्तिष्क भी ठीक काम करता है। किन्तु जिस व्यक्ति को बहुत गुस्सा आता है, जो बहुत चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है, बार-बार लड़ाई-झगड़ा करता है, दिनभर परिवार को सताता है तो उसको यह भी सोचना चाहिए कि कोई-न-कोई आहार का दोष इसके साथ जुड़ा हुआ है।

मानसिक असंतुलन का पांचवां कारण है—नाड़ी की दुर्बलता। नाड़ी संस्थान के दो मुख्य अंग है—एक मस्तिष्क और दूसरा सुषुम्ना का सारा हिस्सा। सुषुम्ना-शीर्ष और सुषुम्ना स्पाईनल कॉर्ड। ये नाड़ी-संस्थान के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जिसका स्पाईनल कॉर्ड या पृष्ठरज्जु दूषित होता है, उसका संतुलन बिगड़ जाता है। आप लोगों को कठिनाई होती है सीधे बैठने में।

नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता, पृष्ठरज्जु की दुर्बलता और मस्तिष्क की दुर्बलता—ये सब असंतुलन के कारण बनते हैं।

आजकल एक चिकित्सा पद्धति चली है—ओष्टियोपैथी। इस चिकित्सा में और कुछ नहीं किया जाता केवल स्पाईनल कॉर्ड पर कुछ प्रेशर दिया जाता है। इससे सारे रोगों की चिकित्सा की जाती है। यहां रोगों की जड़ है, यहीं से सारे शरीर में नर्वस जाते हैं, फैलते हैं। यहां तंतुओं का, स्नायुओं का और धमनियों का जाल बिछा हुआ है, सब यहीं से होकर गया है। मूल यहीं है। यहीं से सारे अलग-अलग होते हैं। यह हमारा केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान है। और इसके दोनों ओर अनुकम्पी और परानुकम्पी नाड़ी संस्थान है। यहीं से सारा-का-सारा हो रहा है। जब नाड़ी-संस्थान ही दुर्बल हो जाता है तो फिर संतुलन की बात कही नहीं जा सकती। चाहे हजार बार ध्यान भी करें, संतुलन नहीं आएगा। ध्यान होगा ही नहीं, करेंगे भी क्या। ध्यान तो तभी हो सकता है जब नाड़ी-संस्थान मजबूत होता है। कोई आदमी भारी-भरकम है, लगेगा कि बड़ा हट्टा-कट्टा है। यदि शरीर में मांस कम है तो लगेगा कि यह तो थका, पतला-दुबला आदमी है। हम उसको कमजोर मान लेंगे और भारी-भरकम को शक्तिशाली मान लेंगे। यह मानना सही नहीं होगा।

'तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः' जिसमें तेज है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह बलवान् होता है, स्थूल में कोई विश्वास नहीं होता। मांस का काम तो बहुत छोटा काम है। हमारे शरीर में मूल है—नाड़ी-संस्थान। जीवन का अर्थ है—नाड़ी-संस्थान की सक्रियता। दो ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं—एक है नाड़ी-संस्थान और दूसरा है ग्रन्थि-संस्थान। ये ही सारा प्रकाश फैला रहे हैं। सब कुछ करा रहे हैं। मांस कोई बड़ी बात नहीं है। दूसरी धातुओं में भी उतनी ताकत नहीं है।

मानसिक असंतुलन के ये पांच कारण हमारे सामने हैं। हम चाहते हैं, मानसिक संतुलन बना रहे। हम जानते हैं कि मन स्वस्थ रहे, मन शांति में रहे। एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—शरीर-प्रेक्षा, शरीर को देखना। इससे नाड़ी-संस्थान दृढ़ होता है और कुछ रसायनों की पूर्ति भी करता है। यह ज्ञात होना चाहिए कि कुछ विटामिनों को हमारा शरीर पैदा करता है। सब बाहर से ही हम नहीं लेते हैं। हम भीतर से भी लेते हैं। सूर्य का ताप लगता है और विटामिन 'डी' अपने आप आ जाता है। इसका सबसे अच्छा स्रोत है—सूर्य का ताप। और भी बहुत सारे रसायन, प्रोटीन हमारा शरीर पैदा करता है, पर करेगा तब जब हम अनावेग की स्थिति में रहेंगे। यह ध्यान का प्रयोग, मानसिक संतुलन का प्रयोग, केवल मोक्ष पाने के लिए ही नहीं है, वर्तमान जीवन को सुख से जीने के लिए भी है।

इसी मानसिक असंतुलन के सन्दर्भ में हम प्रेक्षा-ध्यान प्रणाली पर विचार करें। जो कार्य औषधियों और विद्युत् से सम्पन्न होता है, क्या वह कार्य प्रेक्षा-ध्यान से सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया जा सकता है। प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत हम जो छोटे-छोटे प्रयोग करते हैं, वे इस संदर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। जो काम औषधियां नहीं कर पातीं वह काम ध्यान के ये छोटे-छोटे अभ्यास कर देते हैं। प्रश्न है मस्तिष्क को विश्राम देना। प्रश्न है विचारों की उधेड़बुन को समाप्त करना। कायोत्सर्ग से जितना विश्राम मस्तिष्क को मिलता है, स्नायु-संस्थान को जितना आराम मिलता है उतना विश्राम किसी दूसरी प्रणाली से नहीं मिलता। न औषधियां और न विद्युत् ही इतना आराम दे पाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धैर्य अनुप्रेक्षा

पौराणिक अनुश्रुति है कि इन्द्र ने अपनी परिषद् में कहा—महावीर जैसा कष्टसहिष्णु मनुष्य इस पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं है। उन्हें कोई देव भी अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। परिषद् के सदस्य देवों ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया, किन्तु संगम नाम का देव इन्द्र की बात से सहमत नहीं हुआ। उसने कहा—'कोई भी मनुष्य इतना कष्टसहिष्णु नहीं हो सकता जिसे देवता अपनी शक्ति से विचलित न कर सके। यदि आप मेरे कार्य में बाधक न बनें तो मैं उन्हें विचलित कर सकता हूं।' इन्द्र को वचनबद्ध कर संगम मनुष्यलोक में आया। उसने महावीर को कष्ट देना शुरू किया। केवल एक रात्रि में बीस बार मारक कष्ट दिया। उसने हाथी बनकर महावीर को आकाश में उछाला, वृश्चिक बनकर काटा, वज्र चींटियों का रूप धारण कर उनके शरीर को लहूलुहान किया, फिर भी महावीर के मन में कोई प्रकम्पन नहीं हुआ। विचलन तब होता है जब हम हिंसा से प्रताड़ित होते हैं। हिंसा की प्रताड़ना तब होती है जब हम संवेदन के साथ ध्यान को जोड़ते हैं और यह मानने लग जाते हैं कि कोई दूसरा मुझे सता रहा है। अहिंसा का सूत्र है कि ध्यान को संवेदन के साथ न जोड़ें और किसी दूसरे को कष्टदाता न मानें। महावीर अपने कर्म-संस्कारों के सिवाय किसी दूसरे को दुःख देने वाला नहीं मानते थे और अपने ध्यान को चैतन्य से विलग नहीं करते थे। इसलिए संगम भयंकर कष्टों का वातावरण पैदा करके भी अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सका।

संगम ने महावीर को विचलित करने का दूसरा रास्ता अपनाया। उसने रूपसियों की कतार खड़ी की और महावीर को अपने प्रेम-जाल में फंसाने का प्रयत्न शुरू किया। अहिंसक को प्रतिकूल और अनुकूल—दोनों परिस्थितियों पर समान रूप से विजय प्राप्त करनी होती है। अनुकूल वातावरण में अविचलित रहना, प्रतिकूल वातावरण की विजय से अधिक कठिन है। पर चैतन्य की महाज्वाला के प्रदीप्त होने पर प्रतिकूल और अनुकूल—दोनों ईंधन उसमें भस्म हो जाते हैं, उसे भस्म नहीं कर पाते।

संगम का धैर्य विचलित हो गया। उसने महावीर के पास आकर कहा—भंते ! अब आप सुख से रहें। मैं जा रहा हूं। आपकी अहिंसा विजयी हुई है, मेरी हिंसा पराजित। मैं आपको कष्ट दे रहा था और आप मुझ पर करुणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सुधा-सिंचन कर रहे थे। मैं आपको वेदना के सागर में निमज्जित कर रहा था और आप यह सोच रहे थे कि संगम मुझे निमित्त बनाकर हिंसा के सागर में डूबने का प्रयत्न कर रहा है। आपके मन में एक क्षण के लिए भी मुझ पर क्रोध नहीं आया ? मुझे इसका दुःख है कि समत्व की अनुपम प्रतिमा को मैंने अपनी आंखों से देखा।

धृति वह तत्त्व है जो व्यक्ति के मन में सदाचार के प्रति आस्था को दृढ़ करती है। सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नहीं मिलता है तो वह दुराचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति में धैर्य होता है वह परिणाम के प्रति अनातुर रहता हुआ सत्क्रिया करता रहता है।

साधना का सूत्र : प्रतीक्षा

आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है कि आदमी प्रतीक्षा करना नहीं चाहता—वह तत्काल फल चाहता है। आज ही बीज बोया और आज ही उसका फल मिल जाए—यह उसका प्रयत्न रहता है। यह अधैर्य, प्रतीक्षा न करने की वृत्ति साधना का विघ्न है।

साधना के मार्ग में जल्दबाजी खतरनाक होती है। धीमे-धीमे अभ्यास को बढ़ाना चाहिए, अन्यथा शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। उसे संभाल पाना कठिन हो जाता है। धैर्य के साथ चलें। अधैर्य की स्थिति उत्पन्न न होने दें। अनेक की भूमिका प्राप्त करने के लिए उतावले न हों। मन की भूमिका जब समुचित ढंग से चलती रहेगी, आलम्बन शुद्ध और मन की एक दिशागामिता बनी रहेगी तो एक दिन वह लक्ष्य तक पहुंच जाएगा। अमन हो जाएगा। हम सत्य की खोज के लिए निकल पड़े हैं। हमें सत्य को खोजते जाना है। बहुत सारे सत्यों को खोजना है।

विधायक चिन्तन

भक्त ने कहा—भगवन् ! दूसरे लोग उपकार करने वाले का ध्यान नहीं रखते जितना कि आप अपने अपकार करने वाले का रखते हैं। उपकारी का ध्यान रखना स्वाभाविक है। आप अपकारी पर जितना ध्यान देते हैं, उतना लोग उपकारी पर भी नहीं रखते। यह आपकी अलौकिकता है।

संगम ने भगवान को बहुत कष्ट दिया। साधारण आदमी तो कष्ट देने पर सोचता है, कितना नीच है, तुच्छ है, मुझे कष्ट दे रहा है। भगवान् ने सोचा—मेरे निमित्त से संसार का उद्धार हो रहा है, पर यह मेरे निमित्त से डूब रहा है। उसकी चिन्ता की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्यवाद के सिद्धांत का पहले पहल मार्क्स ने प्रतिपादन किया था। वह समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री था। अपने सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए वह भटकता रहा। उसे लोग देश से निकाल देते थे, मकान से निकाल देते थे। ऐसा होता है। जिन्होंने संसार को नया तत्त्व दिया है, उनको उनके ही भक्तों द्वारा अपमान सहना पड़ा है, कभी जहर भी पीना पड़ा है।

सुकरात महान् साधु व तत्त्ववेत्ता था। आज भी पश्चिमी देशों में वह प्रथम कोटि का तत्त्वज्ञ माना जाता है। उसने वर्तमान रूढ़िगत धारणा के विरुद्ध सत्य की घोषणा की थी, इसीलिए उसको जहर का प्याला पीना पड़ा। ईशु को फांसी पर चढ़ना पड़ा, क्योंकि उन्होंने तत्कालीन धर्म के विरुद्ध बातें कहीं थीं। भिक्षु स्वामी को भी बहुत सहना पड़ा था।

धीर-पुरुष के सोचने का क्रम है—कभी कोई गाली देता है तो सोचता है, गाली ही दी, पीटा तो नहीं। कभी पीटने की नौबत बन जाती है तब सोचता है प्राण तो नहीं लूटे, केवल पीटा ही।

हमने देवास में देखा। व्याख्यान का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। जोर से हल्ला उठा। हल्ला करने वाले ५-१० ही भाई थे, पर हल्ले से सबका ध्यान खिंच गया। आचार्यश्री को प्रार्थना की कि आप ऊपर पधार जाएं, क्योंकि पथराव होने की संभावना है। पत्थर आने लगे। निशाना लगाया था आचार्यश्री के सिर पर, परन्तु पत्थर पीठ पर लगा। उस समय आचार्यश्री ने कहा—कोई बात नहीं है, इतने से ही काम चल गया। एक भी रोम में प्रतिक्रिया नहीं हुई। हो सकता है कोई पत्थर की जगह गोली मार दे।

प्राण लूटने पर धार्मिक या साधक सोचेगा, प्राण ही लूटा, पर धर्म तो नहीं लूटा। जो धीर पुरुष होता है, वह खैर मना लेता है। यह जो विधायक चिंतन की मनोवृत्ति है, वह साधनाशील या तत्त्ववेत्ताओं में प्राप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाणिकता अनुप्रेक्षा

नैतिकता का एक अर्थ है—प्रामाणिकता। प्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता। वचन की प्रामाणिकता भारतीय संस्कृति का एक बहुत उज्जवल पक्ष रहा है। जो बात मुंह से कह दी वह लोहे की लकीर बन गई। लिखने की जरूरत नहीं, किसी की साक्षी की जरूरत नहीं। बस, मुंह से जो वचन कह दिया, प्राण चले जाएं पर वचन को नहीं तोड़ना। हमारा इतिहास इस वचन की प्रामाणिकता से भरा पड़ा है। गुजरात के एक श्रेष्ठी की घटना का उल्लेख करना चाहता हूं। एक व्यापारी और बहुत प्रसिद्ध व्यापारी। नाम था भैंसाशाह। घटना गुजरात की है। रहने वाले थे राजस्थान के। गुजरात में गये थे। आवश्यकता हो गई व्यापार में एक लाख मुद्रा चाहिए। कहां से मिले। अपरिचित थे, नया क्षेत्र और चाहिए लाख रुपया। आज तो लाख रुपयों का बहुत मूल्य नहीं है, पर कल्पना करें आज से पांच सौ वर्ष पूर्व लाख रुपये का कितना मूल्य था। बड़ी विचित्र स्थितियां थीं। भैंसाशाह एक बड़े सेठ के पास गया। जाकर कहा—लाख रुपया चाहिए। पूछा—आपका नाम ? भैंसाशाह। नाम प्रसिद्ध था। सेठ ने कहा कि आप ले लें, लेकिन फिर भी मैं चाहता हूं कि आप कुछ अनुबंध कर लें तो अच्छा होगा। उसने कहा—कोई जरूरत नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। अगर आपको विश्वास न हो तो यह मूंछ का एक बाल, भैंसाशाह की मूंछ का एक बाल रख लें और लाख रुपय दे दें। तत्काल लाख रुपये निकालकर दे दिये। काम हो गया। लाख रुपये पुनः लौटा दिए। आज लगता है कि मूंछ के बाल की बात दूर है, पूरी मूंछ भी रख दें तो शायद लाख रुपया वापस न आये। बड़ा कठिन काम है।

प्रामाणिकता का पहला और प्रधान विषय है—वाचिक प्रामाणिकता।

प्रामाणिकता का दूसरा विषय है—आर्थिक प्रामाणिकता। अर्थ के सम्बन्ध में प्रामाणिकता का विकास हुआ था। बहुत जबरदस्त विकास हुआ था। परिभाषा की गई कि पवित्र कौन होता है ? अर्थशुचिः शुचिः—जो आर्थिक मामले में पवित्र होता है, वास्तव में वह व्यक्ति पवित्र होता है। आर्थिक पवित्रता की पुरानी घटनाएं भी हैं। नई घटना भी आज हमारे सामने है। नयी घटना है आचार्य नरेन्द्रदेव की। बहुत बड़े विद्वान् और बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हुए हैं आचार्य नरेन्द्रदेव। वाइस चांसलर थे। तांगे में जा रहे थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों ने पूछा–यह कैसे, महाराज ! आपके पास तो कार है, फिर तांगे में कैसे ? उन्होंने कहा–मैं अपने काम से जा रहा हूं, कार विश्वविद्यालय की है। मैं अभी विश्वविद्यालय के काम से नहीं जा रहा हूं, मैं अपने काम से जा रहा हूं। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

जोधपुर राज्य का दीवान था। दो दीए जलाया करता था अपने घर में। कोई देखने नहीं आता था, फिर भी उसके घर में दो दीये जलते थे। जब राज्य का काम करता तो राज्य का दीया जलता और जब घर का काम करता तो उस दीये को बुझा देता, अपना दूसरा दीया जला लेता। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

प्रामाणिकता का तीसरा विषय है–व्यवहार की प्रामाणिकता। एक प्रकार का व्यवहार विश्वास पैदा करता है। और दूसरे प्रकार का व्यवहार अविश्वास पैदा करता है। समाज में बहुत अपेक्षा होती है कि अच्छा व्यवहार मिले। सब लोग अपेक्षा रखते हैं कि माता-पिता से यह व्यवहार मिले। पुत्र से पिता अपेक्षा रखता है कि यह व्यवहार मिले। पड़ोसी पड़ोसी से ऐसे व्यवहार की अपेक्षा रखता है। जहां व्यवहार की प्रामाणिकता होती है, समाज स्वस्थ रहता है और जहां व्यवहार में अप्रामाणिकता आ जाती है, बड़ी कठिनायां पैदा होती हैं समाज में। एक व्यक्ति ने बताया–मेरा पड़ोसी मेरे साथ विचित्र व्यवहार करता है। अपने घर से सारा कूड़ा-करकट निकालता है और उसे मेरे मकान के सामने डाल देता है। मैंने उसे बहुत समझाया–भाई, ऐसा मत करो। काफी समझाने पर भी नहीं माना तो सोचा, अब क्या किया जाना चाहिए। बड़ी समस्या है। तो फिर मेरे नौकर ने भी ऐसा ही शुरू किया। सारा कूड़ा-करकट वह निकालता और उसे साथ मिलाकर दोनों को उसके घर के आगे डाल देता।

व्यवहार का यह जो एक संघर्ष होता है, व्यवहार की यह जो अप्रामाणिकता होती है, वह व्यक्ति को बड़े संकट में डाल देती है।

जिस समाज में प्रामाणिकता का विकास होता है वह समाज आगे बढ़ता है, उन्नति करता है। जिस समाज में प्रामाणिकता नहीं होती उस समाज का भाग्य हमेशा खतरे में झूलता रहता है। समाज में सबसे पहला आश्वासन का सूत्र होता है–प्रामाणिकता। उसको भी जब खंडित कर दिया जाता है तो समाज कैसे सुख की सांस ले सकता है और कैसे भरोसे के साथ जीवन-यापन कर सकता है ? यह बात कुछ समझ में नहीं आती। पर पता नहीं, आज के इस बौद्धिक युग में, वैज्ञानिक युग में और प्रगतिशील विचारणा के युग में इतनी अप्रामाणिकता की बात क्यों चलती ही जा रही है ? आश्चर्य तो होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सोचने में जरा संकट भी पैदा होता है कि यह विरोधाभास क्यों चल रहा है। एक ओर वैचारिक धरातल पर, तार्किक धरातल पर, बौद्धिक धरातल पर बहुत प्रगति की है मनुष्य ने और जहां आन्तरिक पक्ष का, भावना पक्ष का प्रश्न था उस पक्ष में काफी प्रतिगति हुई है। उल्टा चला है। हम इस बात पर निश्चित विश्वास करें कि प्रामाणिकता के बिना कोई भी समाज प्रगति-पथ पर नहीं बढ़ सकता।

प्रामाणिकता का अर्थ

प्रामाणिकता एक ऐसा तत्त्व है जो अर्थनीति, राजनीति और धर्मनीति–तीनों को मान्य है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में महामात्य चाणक्य ने कहा है–'राज्य कर्मचारी को रिश्वत नहीं लेनी चाहिए।' यद्यपि उन्होंने इस प्रवृत्ति को दु:संभव बताते हुए यह लिखा है कि जिस प्रकार मछली जल में बहती हुई जल पीती है तब पता नहीं चलता है कि वह पानी कैसे पीती है, इसी प्रकार राज्य-कर्मचारी के रिश्वत लेने की प्रक्रिया गम्य नहीं होती। इसी तथ्य पर और अधिक बल देते हुए उन्होंने आगे लिखा है–'पानी में रहने वाली मछली तथा गगन विहारी पक्षी की गतिविधि को समझा जा सकता है। किन्तु राज्य-कर्मचारी रिश्वत लेता है, उसे गम्य करना तो बहुत कठिन है।'

प्रामाणिकता का अर्थ है–किसी को धोखा नहीं देना। अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता का उद्देश्य है–व्यवसाय का विकास। एक व्यापारी अपने ग्राहकों के प्रति प्रामाणिक रहता है तो उसका विश्वास बढ़ता है, ग्राहक उसके पास प्रसन्नता से आते हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में उसकी इज्जत बढ़ती है और व्यवसाय सम्बन्धी अनेक कठिनाइयां स्वयं निरस्त होती जाती हैं।

राजनीति की प्रामाणिकता जनता और अधिकारियों के बीच पनपने वाली विश्वासघात की प्रवृत्ति को नियंत्रित करती है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध मधुर रहते हैं। प्रजा सुखी रहती है और सरकार निश्चिंत।

धर्मशास्त्रीय प्रामाणिकता आत्म-पतन की दिशाओं को बन्द करती है। इससे अशुद्ध विचारों का शोधन होता है। मन और व्यवहार के धरातल पर पवित्रता का अनुभव होता है तथा उससे सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है, जो अप्रामाणिकता से कभी प्राप्त नहीं है।

अप्रामाणिकता का उत्स

जिस दिन मनुष्य में अनधिकृत वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई, उसी दिन उसमें अप्रामाणिकता का बीज अंकुरित हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाणिकता का अर्थ है—अधिकृत का ग्रहण और अनधिकृत का प्रत्याख्यान। आकांक्षाशील मनुष्य इस मर्यादा को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह अप्रामाणिक हो जाता है।

अप्रामाणिकता अपने आप में चोरी है। वह वाणी की भी होती है, चिन्तन और कर्म की भी होती है। संस्कृत साहित्य में अप्रामाणिक व्यक्ति को दुरात्मा माना गया है। एक कवि ने लिखा है—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में एकता होती है, सामंजस्य होता है वह महान् आत्मा है। जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में विसंगति या विसंवाद होता है, वह दुरात्मा है।

मन, वाणी और कर्म की संगति ही प्रामाणिकता है और उनकी विसंगति ही अप्रामाणिकता है। प्रामाणिकता अचौर्य है और अप्रामाणिकता चोरी है। हमारे तत्त्व-चिंतकों ने कभी-कभी प्रामाणिकता की बहुत बड़ी कसौटी प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—

यावद भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योभिमन्येत, स स्तेनो दंडमर्हति।।

जितने से पेट भरे उतना ही मनुष्य के लिए अधिकृत है। उतना ही उसका स्वत्व है। शेष उसका नहीं है, दूसरों का है। जो व्यक्ति उससे अधिक अपने अधिकार में लेना चाहता है वह चोर है और दंड पाने का अधिकारी है।

प्रामाणिकता या अचौर्य की यह परिभाषा बहुत ही अंतिम कोटि की परिभाषा है। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधिक संग्रह की दिशा में गतिशील मनुष्य प्रामाणिक नहीं रह सकता। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रामाणिक व्यक्ति अधिक संग्रह नहीं कर सकता।

प्रामाणिक व्यवहार

दूसरों के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है किन्तु यह भाषा कभी भी मुझे आकृष्ट नहीं कर सकी। प्रामाणिकता की जो परिभाषा मुझे आकृष्ट कर सकी, वह है अपने प्रति सच्चा रहना। जो दूसरों का बुरा करने में अपना बुरा देखता है, वह बुराई से बच सकता है, पर-निरपेक्ष दृष्टि से प्रामाणिक रह सकता है। जिसकी सचाई का आधार व्यवहार की पृष्ठभूमि होता है, वह सच्चा रहता है तब, जब कोई दूसरा देखता है। वह सच्चा रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तब, जब प्रकाश में होता है। अकेले में और अंधेरे में जो सचाई प्राप्त होती है, वह अपने पर ही आधारित हो सकती है।

कई आदमी राष्ट्र की भलाई के लिए सच्चे होते हैं और कई अपनी भलाई के लिए। सचाई का बीज हर मनुष्य में होता है, वह निमित्त पाकर अंकुरित हो उठता है। जो अपनी आंतरिक प्रेरणा से अंकुरित होता है, वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। बाहरी प्रेरणा से अंकुरित होने वाले के लिए यह निश्चित भाषा नहीं बनाई जा सकती है कि वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। पर प्रामाणिकता लोकतंत्र का सौन्दर्य तो है ही, फिर चाहे वह किसी भी निमित्त से प्रस्फुटित होता हो।

चेतना का विकास ऐसा हो कि वह पछाड़ने वाली चेतना न हो, उठाने वाली चेतना हो। उठाने वाली चेतना का पहला सूत्र है—प्रामाणिक व्यवहार। नैतिक चेतना के जाग जाने पर जो व्यवहार होगा वह प्रामाणिक ही होगा। नैतिकता का संबंध दो से होता है और आध्यात्मिकता का संबंध एक से होता है। नैतिकता द्विष्ट है—दो पर आधृत है। अकेले आदमी के समक्ष नैतिकता-अनैतिकता का कोई प्रश्न नहीं होता। जब दो होते हैं तब प्रश्न होता है कि कैसा व्यवहार किया जाए। नैतिक व्यक्ति बेईमानीपूर्वक व्यवहार नहीं करेगा। वह पूरा प्रामाणिक व्यवहार करेगा।

प्रामाणिकता का मूल्य

तिष्ठेद् वायुः द्रवेदद्रिः, ज्वलेत् जलमपि क्वचित्।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यैर्नाप्तो, भवितुमर्हति।।

वायु हमेशा चलती है, कभी वह भी ठहर जाए। पहाड़ कठोर होता है, कभी वह भी तरल हो जाए। पानी ठंडा होता है, कभी वह भी जलने लग जाए। यह सब हो सकता है, पर राग-द्वेष से ग्रस्त व्यक्ति कभी आप्त नहीं हो सकता।

आप्त वह है जो राग-द्वेष से ग्रस्त नहीं है। आप्त वह है जो प्रामाणिक है। दुनिया में सबसे बड़ी चीज होती है प्रामाणिकता। जिसमें प्रामाणिकता नहीं है, वह धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म का मूल है—प्रामाणिकता, सच्चाई। भगवान् महावीर ने कहा—'सच्चं भयवं' सत्य ही भगवान् है। जैसा कहना वैसा ही आचरण करना, सत्य है। तराजू कभी पक्षपात नहीं करता। मीटर से कपड़े का नाप ठीक मिलता है। घड़ी से अप्रामाणिकता न चाहने वाला यदि अपने जीवन में अप्रामाणिकता बरतता है, तो वह कितना बड़ा धोखा है। जिसने धर्म को थोड़ा-बहुत समझा है, वह अपने जीवन में प्रामाणिकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाएगा। भगवान् महावीर ने प्रामाणिकता को स्थान देते हुए नियम बनाये। साधु गृहस्थ के घर से नख काटने के लिए कतरनी मांग कर लाता है, तो वह उससे कपड़ा नहीं काट सकता, क्योंकि उसको नख काटने के लिए कहकर लाया है। बीमार के नाम से मांग कर लाई गई वस्तु वही खा सकता है, दूसरा नहीं। गृहस्थ कहे कि चाय ले जाओ, अमुक साधु को पिला देना। इस वचन से लाई गई चाय वही पी सकता है। वह यदि न पीए तो दूसरा उसको नहीं पी सकता। उसको परठणा (विसर्जित करना) ही पड़ता है। ऐसे अनेक नियम हैं जो प्रामाणिकता के आधार पर हैं।

प्रामाणिकता के बिना विश्वास नहीं बढ़ता। हम लोग बृहदकल्प का स्वाध्याय कर रहे थे। उसमें एक कथा आई—एक व्यक्ति शिकार खेलने गया, उसके साथ एक शिकारी कुत्ता था। शिकारी ने छि-छि किया और वह कुत्ता दौड़ा, मृग को मार डाला। दूसरी बार शिकारी ने छि-छि किया कुत्ता फिर दौड़ा पर कोई शिकार नहीं मिला, निराश होकर कुत्ता वापस आ गया। तीसरी बार भी शिकारी ने परीक्षा के लिए छि-छि किया तो कुत्ता नहीं दौड़ा। उसके मन में संदेह हो गया, विश्वास मिट गया। जहां धोखा मिलता है वहां प्रामाणिकता नहीं रहती। धोखा खाने वाला एक-दो बार ही खाता है, फिर वह नहीं खाता। आज हर क्षेत्र में अप्रामाणिकता स्थापित हो रही है, सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर ने कहा है—'मा अप्पेण लुंपहा बहु'—थोड़े के लिए ज्यादा मत गंवाओ।

प्रामाणिकता का आचरण

स्वामी विवेकानन्द अमरीका गए। उनसे किसी अमरीकन ने पूछा—'महात्मा गांधी की विशेषता क्या है ? क्या वे धनपति हैं या सत्ताधीश हैं ?' विवेकानन्द ने मुस्कराकर कहा—'वे धन और सत्ता दोनों से अकिंचन हैं।' 'तो फिर उनकी क्या विशेषता है ?' उस व्यक्ति ने पूछा। विवेकानन्द ने कहा—'महात्मा गांधी में तीन विशेषताएं हैं। वे विशेषताएं उन्हें भारतीय धर्म से प्राप्त हुई हैं। वे ये हैं—

१. प्रामाणिकता।

२ सत्याग्रह।

३. सादगी।

इन तीनों में पहली विशेषता प्रामाणिकता है। हर व्यक्ति, समाज या देश के चरित्र की ऊंचाई का मानदण्ड प्रामाणिकता से होता है। हिन्दुस्तान अपने अतीत में इस मानदण्ड से बहुत उन्नत रहा। लगभग पचीस सौ वर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले की घटना है--एक साहूकार मकान बनवा रहा था। उसकी नींव खुद रही थी। मजदूरों ने आश्चर्य के साथ देखा कि नींव की खुदाई में कोई चीज चमक रही है। उन्होंने थोड़ी खुदाई और की तथा साफ-साफ देखा कि एक बड़े पात्र में स्वर्ण-मुद्राएं भरी पड़ी हैं। वे तत्काल दौड़े और मुख्य चेजारे (गृह-शिल्पी) के पास पहुंचे। स्वर्ण-मुद्रा के पात्र की बात उसे बतलाई। उसने गृहस्वामी से कहा और गृहस्वामी ने राजा से। मजदूर चाहते तो उस पात्र को हड़प लेते और चेजारा चाहता तो दोनों मिलकर हड़प लेते। सेठ चाहता तो तीनों मिलकर बांट लेते। राजा तक बात पहुंचती ही नहीं। राजा चाहता तो अकेला ही उस पर अधिकार कर लेता और किसी को कुछ नहीं देता। किन्तु मजदूरों ने कहा--'इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। इस पर गृह-शिल्पी का अधिकार हो सकता है।' गृह-शिल्पी ने कहा--'इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह भूमि मकान मालिक की है। इस पर उसी का अधिकार हो सकता है।' गृह-स्वामी ने कहा--'भूमि से निकली हुई चीज पर राजा का अधिकार हो सकता है।' राजा ने भी उस पर अपना अधिकार नहीं स्वीकार किया, क्योंकि उसकी खुदाई बहुत गहरी नहीं थी और वह व्यक्तिगत भूमि थी। फलतः कोई भी उसे लेने को तैयार नहीं हुआ।

प्रामाणिकता के आचरण का यह कितना बड़ा उदाहरण है। 'जिस पर मेरा अधिकार नहीं, उसे मैं नहीं ले सकता', यह कहकर स्वर्ण-मुद्राओं को ठुकराने वाले मजदूर, गृह-शिल्पी, साहूकार और राजा इसी भारत की मिट्टी में उत्पन्न हुए थे। आज इसी नैतिक चेतना की प्रतिष्ठा हो, यह अपेक्षित है। इस अपेक्षा की पूर्ति करके ही भारत की नैतिक चेतना विश्व के लिए आदर्श बन सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋजुता अनुप्रेक्षा

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष भावना का सुन्दर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है तो उपशम के संस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है--उपशम। उपशम का संस्कार जितना पुष्ट होगा क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जाएगा। मान के आवेग को नष्ट करना है तो मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के संस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री में कोई अन्तर नहीं है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफल है। जब ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नहीं सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। बिना कुटिलता के शत्रुता नहीं होती। जब छिपाने की बात, ठगने की बात आएगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहां छिपाने जैसा कुछ भी नहीं है, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहां शत्रुता हो ही नहीं सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो संतोष को विकसित करो, उसे पुष्ट करो। लोभ का प्रतिपक्ष है संतोष।

आवेगों को मिटाने के लिए प्रतिपक्ष के संस्कारों को पुष्ट करना है। जब तक प्रतिपक्ष का संस्कार पुष्ट नहीं होता, आवेगों का अनुभव नहीं किया जा सकता, उन्हें पतला नहीं किया जा सकता, क्षीण नहीं किया जा सकता जब तक आवेग क्षीण नहीं होते, उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। उन्हें इतना क्षीण कर देना होता है कि एक ही झटके में वे टूट जाएं।

ऋजुता : शुद्धि की साधना

भगवान् महावीर ने कहा–'सोही उज्जुयभूयस्स'–शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। यह है–आलोचना। बच्चों की तरह सरल होकर बिना कुछ छिपाए, गुरु को सब कुछ कह देना ही आलोचना है। फिर गुरु जाने। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। कुछ भी छिपाओगे तो शल्य रह जाएगा। शुद्धि नहीं होगी। जो अपने ज्ञात को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छिपाता है, दुर्बलता और कमजोरी को छिपाता है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। जिसकी शुद्धि नहीं हो सकती उस आत्मा में धर्म नहीं टिक सकता। ऋजु आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

गौतम ने पूछा–'भन्ते ! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है ?'

भगवान् महावीर ने कहा–'गौतम ? आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावों की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और संवादी-प्रवृत्ति–कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुंज है जिसे हम चारों ओर देख सकते हैं। सरलता वह प्रकाश-पुंज है, जिसमें हम चारों ओर से देख सकते हैं। भगवान् महावीर ने कहा, 'निर्मलता उसे प्राप्त होती है, जो ऋजु होता है।' कपटी मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं होता। बच्चे का मन सरल होता है, इसलिए उसके प्रति सबका स्नेह होता है। हम जैसे-जैसे बड़े बनते हैं, समझदार बनते हैं, वैसे-वैसे हमारे मन पर आवरण आते रहते हैं। आवरण अज्ञान का होता है। आवरण सन्देह का होता है। आवरण माया का होता है। हम दूसरे व्यक्ति को जानने का यत्न नहीं करते, इसलिए हमारा मन उसके प्रति सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास नहीं करते, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। यदि इस दुनिया में अज्ञान, सन्देह और कपट नहीं होता तो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की धारा बहती। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दूरी नहीं होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से विभक्त नहीं होता। एक संस्कृत कवि ने कहा–'सन्धत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी'–सूई सरल होती है, इसलिए जोड़ती है, दो को एक करती है और कैंची टेढ़ी होती है, इसलिए वह काटती है, एक को दो करती है।

सरलता मनों को सांधती है। माया कैंची का काम करती है, मनों के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है।

नीतिशास्त्रियों ने कहा–मनुष्य को बहुत सरल नहीं होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष बहुत सरल-सीधे होते हैं, वे काट दिए जाते हैं और जो टेढ़े होते हैं, वे नहीं काटे जाते।' इस नीति-वाक्य ने मानवीय हृदय में प्रचलित सहज दीप को बुझाने का काम किया है। मैं आपसे पूछना चाहता हूं, क्या आप टेढ़े शरीर वाले मनुष्य को पसन्द करते हैं। क्या आप टेढ़ी बात कहने वाले का विश्वास करते हैं ? क्या अपने साथ कुटिल व्यवहार करने वाले को आप पसन्द करते हैं। क्या मन में कुटिलता रखने वाले को आप पसन्द करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इन सब प्रश्नों का उत्तर नकार की भाषा में होगा अर्थात् आप उन्हें पसन्द नहीं करते। तब यह कैसे माना जाए कि हमें बहुत सरल नहीं होना चाहिए ? यदि हर आदमी का मन खुली पोथी जैसा होता तो मनुष्य मनुष्य से डरता ही नहीं। आज एक आदमी दूसरे आदमी से इसीलिए डरता है कि उसके मन में छिपाव है, घुमाव है, अस्पष्टता है और अन्धकार है।

हम भोले न हों—सामने की स्थिति का प्रतिबिम्ब लेने की स्वच्छता से वंचित न हों। हम मायावी भी न हों—अपने मन की कलुषता से सामने वाले के मन को कलुषित करने की दक्षता से सम्पन्न न हों। हम सरल हों—वातावरण के प्रति सजग हों, किन्तु दूसरों के प्रति मन में मलिन भाव न हो। जिसका मन सरल होता है, वह दूसरों से ठगा नहीं जाता। ठगा वही जाता है, जिसके अपने मन में मैल होता है।

एक बुढ़िया जा रही थी। सिर पर गठरी थी। उसी रास्ते से एक युवक जा रहा था। उसके मन में करुणा का भाव आया। उसने बुढ़िया से कहा, 'दादी ! कुछ देर के लिए गठरी मुझे दे दो। तुम्हें थोड़ा-सा विश्राम मिल जाएगा।' बुढ़िया ने उसका भाव देखा और गठरी उसे दे दी। थोड़ी देर बाद बुढ़िया ने गठरी फिर ले ली। युवक का मन बदल गया। उसने सोचा—गठरी मेरे पास थी। उसे लेकर मैं भाग जाता तो बुढ़िया मेरा क्या करती ? युवक ने फिर गठरी मांगी। बुढ़िया ने वह नहीं दी। उसने फिर आग्रह किया तो बुढ़िया ने कहा, 'अब नहीं दूंगी।' उसने पूछा, 'दादी ! अब क्यों नहीं दोगी?' बुढ़िया बोली—'बेटा ! जो तुझे कह गया, वह मुझे भी कह गया।'

सरलता मन का वह प्रकाश है, जिसमें कोई भी वस्तु अस्पष्ट नहीं रहती है। माया मन का अन्धकार है, जिसमें आदमी भटकता है, भटकता है और भटकता ही रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सह-अस्तित्व अनुप्रेक्षा

सामंजस्य के द्वारा विचार-भेद रहते हुए भी विचार-भेद से उत्पन्न होने वाले संघर्ष को मिटाया जा सकता है, विचार-भेद से उठने वाले स्फुलिंगों को शांत किया जा सकता है। अनेक व्यक्ति रहें, अनेक विचार रहें। और उनके रहते हुए भी विचारों की टकराहट न हो, स्फुलिंग न उछलें, संघर्ष न हो—यह सम्भव हो सकता है। इस दर्शन के आधार पर महावीर ने एक सूत्र दिया—सह-अस्तित्व का। इसका तात्पर्य है कि विरोधी व्यक्तियों, विरोधी विचारों और विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व हो सकता है। वे एक साथ रह सकते हैं। सामान्य धारणा यह है कि दो विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। भगवान् महावीर ने कहा, 'दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं।' दार्शनिक भाषा में नित्य-अनित्य सामान्य-विशेष—ये एक साथ रहते हैं। नित्य-अनित्य का और अनित्य नित्य का विरोधी है, सामान्य विशेष का और विशेष सामान्य का विरोधी है, पर एक साथ रहते हैं। अस्ति और नास्ति, होना और न होना—दोनों साथ-साथ रहते हैं। दोनों विरोधी हैं, पर उनका सह-अस्तित्व है। जहां अस्ति और नास्ति, नित्य और अनित्य, सामान्य और विशेष—इनका सह-अस्तित्व प्रतिपादित किया गया, वहां समझाया गया कि जिन्हें हम विरोधी मानते हैं, वे वस्तुतः विरोधी नहीं हैं। इस जगत् में एक भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसे हम कह सकें कि यह इसका सर्वथा विरोधी है या सर्वथा अविरोधी है। जिसे हम विरोधी मानते हैं, वह अविरोधी भी है। जिसे हम अविरोधी मानते हैं, वह विरोधी भी है। दोनों धर्म एक साथ चलते हैं। दोनों का सह-अस्तित्व है।

व्यवहार के धरातल पर उन्होंने सह-अस्तित्व का प्रतिपादन किया और कहा, 'एक साथ रहा जा सकता है।' हम जानते हैं कि जहां सर्दी है, वहां गर्मी नहीं है और जहां गर्मी है वहां सर्दी नहीं है, किन्तु यह सचाई नहीं है। सर्दी और गर्मी में मात्र डिग्री का अंतर है, मात्रा का भेद है। जब शरीर का तापमान ९८ डिग्री होता है, तब हम कह देते हैं कि तापमान सामान्य है, ज्वर नहीं है। जब वह बढ़कर सौ डिग्री हो जाता है, तब हम कह देते हैं कि ज्वर हो गया। गरम-ठंडा, अच्छा-बुरा—ये सब हमारी अपेक्षाएं हैं और इसका निर्णय सापेक्षता के आधार पर ही होता है। यदि हम सापेक्षता को न देखें और निरपेक्ष विचार करें तो किसी को गरम या ठंडा, अच्छा या बुरा नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कह सकते। सब एक अपेक्षा से जुड़े हुए हैं। और उस अपेक्षा के आधार पर हम ये सारे विश्लेषण करते हैं और कहते हैं—यह गरम है, यह ठण्डा है। यह बुरा है, यह अच्छा है।

अग्नि को ठण्डा भी कहा जा सकता है और बर्फ को गरम भी कहा जा सकता है। ये जितने सापेक्ष धर्म हैं, उन्हें हम किसी एक दृष्टिकोण से नहीं देख सकते। महावीर ने कहा, 'सापेक्षता के बिना हम सत्य का प्रतिपादन नहीं कर सकते। जहां सापेक्षता से हम सत्य का प्रतिपादन करते हैं, उसका फलित होगा सह-अस्तित्व।'

सह-अस्तित्व और समन्वय

वर्तमान में राजनीति के मंच से सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंच से सह-अस्तित्व की चर्चा सुनाई देती है। किन्तु यदि हम यह जानना चाहें कि इस सिद्धांत का प्रतिपादन सबसे पहले किसने किया तो भगवान् महावीर का नाम सबसे पहले स्मृति-पटल पर उभरेगा। सह-अस्तित्व का विस्तार के साथ यदि कहीं प्रतिपादन मिलता है तो वह स्याद्वाद में, अनेकांतवाद में, सापेक्षवाद में।

सबसे अच्छा मार्ग है—सहन करना, समन्वय करना और सह-अस्तित्व की चेतना को विकसित करना।

आदमी भिन्नता से कब तक लड़ेगा ? कब तक संघर्ष करता रहेगा ? लड़ाई का कभी कहीं अंत नहीं होता। अंत तब होता है जब मनुष्य जाति ही समाप्त हो जाती है। लड़ते-लड़ते सब समाप्त हो जायेंगे तब लड़ाई स्वतः बन्द हो जायेगी। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। यदि मनुष्य जाति को जीना है, जीवित रहना है तो उसे कोई विकल्प ढूंढना पड़ेगा, मार्ग निकालना होगा। वह विकल्प और मार्ग है—सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना का विकास। इसके विकास के द्वारा ही असहिष्णुता की भावना को मिटाया जा सकता है।

पंडित नेहरू ने एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच सह-अस्तित्व की बात पर बल दिया था। आज हम उस बात की चर्चा न करें। पर क्या पारिवारिक जीवन में सह-अस्तित्व आवश्यक नहीं है ? परिवार में सह-अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है। तभी शांत-सहवास रह सकता है, अन्यथा नहीं। शांत-सहवास जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। साथ में रहना और प्रेमपूर्वक रहना बहुत बड़ी बात है। बहुत अधिक प्रेम हो और वे यदि कुछ काल तक साथ में रह जाएं तो प्रेम टूटते देरी नहीं लगती। दो को साथ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखकर देख लो कि उनका घनिष्ठ प्रेम कैसे खंड-खंड होकर बिखर जाता है। जब तक साथ नहीं रह लें तब तक घनिष्ठता बनी रहती है। साथ रहे कि घनिष्ठता टूटी। साथ रहकर घनिष्ठ प्रेम बनाए रखना, लम्बे समय तक बनाए रखना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। क्योंकि आदमी पग-पग पर टकरा जाता है। यह टकराव स्वार्थ के कारण, मान्यताओं के कारण, धारणाओं के कारण होता है। उस स्थिति में सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना से ही वह तनाव या टकराव समाप्त हो सकता है।

जीवन जीने का कला है खिंचाव और ढील का समन्वय। सह-अस्तित्व के लिए दोनों जरूरी हैं। खिंचाव के साथ ढील देने की कला भी हम जानें। एक तथ्य बहुत स्पष्ट है कि जहां भेद होता है, तनाव होता है वहां विरोध की स्थिति पैदा हो जाती है। यह क्यों होता है ? निकट की रिश्तेदारी में भी यह अपवाद नहीं है। जहां भेद रेखा आयी कि चेतना बदल गई। चेतना का परिवर्तन क्यों होता है ?

जब आदमी समन्वय की चेतना से समाधान खोजता है। तो कठिन कार्य भी सरल बन जाता है। प्रत्येक समस्या का समाधान हो सकता है। समस्या है तो समाधान भी है। ऐसी एक भी समस्या नहीं है जिसका समाधान न हो। जहां समन्वय की चेतना का विकास होता है, जहां सापेक्षता की चेतना जागृत होती है, वहां कुछ भी असम्भव नहीं होता। एक अंगुली को दूसरी अंगुली की अपेक्षा रहती है। विरोध कहां नहीं है। हम हाथ को देखें। चार अंगुलियां और अंगूठा विरोधी हैं। दोनों भिन्न दिशाओं में हैं। पूरी मानव-जाति का विकास इस विरोध के आधार पर हुआ है। यदि अंगूठा अंगूलियों की समरेखा में होता तो मनुष्य-जाति का विकास कभी नहीं होता, संस्कृति और सभ्यता का विकास कभी नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति का विकास इसी विरोध के कारण हुआ है। अंगूठा अंगुलियों की विरोधी दिशा में है, इसलिए लिपि का, चित्रकारिता का और शिल्प का विकास हुआ है। दोनों की भिन्न दिशागामिता ने विकास में योग दिया है। इनमें भिन्नता है, पर हम समन्वय करना जानते हैं, इसलिए कोई टकराव नहीं होता। अंगूठा भी नहीं लड़ता और अंगुलियां भी नहीं लड़तीं। आवश्यकतावश दोनों सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। लिखना है तो अंगुली मिल जाती है अंगूठे से। कोई कार्य करना है तो दोनों परस्पर मिल जाते हैं।

प्रश्न होता है कि समन्वय की चेतना का विकास कैसे होता है ?

जो व्यक्ति अपने स्वार्थ, मान्यता और असहिष्णुता—इन तीनों वृत्तियों पर शासन करता है, उसमें समन्वय का विकास होता है। जिस व्यक्ति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वार्थ की प्रबलता है, जिसमें मान्यता का आग्रह है और जो असहिष्णु है, वह समन्वय की चेतना को जागृत नहीं कर सकता। स्वार्थ का भी समीकरण करना होता है।

पुराने समय में साम्प्रदायिक संघर्ष और जातीय संघर्ष—ये दो संघर्ष थे। आज तीसरा संघर्ष और सामने आया है। वह है—वर्ग संघर्ष—इसका जन्म आज की राजनीति से हुआ है। यह वर्ग-संघर्ष भी तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ का समीकरण नहीं होता। आज एक वर्ग के स्वार्थ दूसरे वर्ग के स्वार्थों से टकराते हैं। मिल-मालिकों का स्वार्थ मजदूरों से टकराता है। संपन्न व्यक्ति के स्वार्थ गरीब आदमी से टकराते हैं। यह टकराव इसलिए है कि स्वार्थ का समीकरण नहीं होता।

एक घटना है। कुम्हार के दो लड़कियां थीं। एक किसान के यहां ब्याही थी और दूसरी का विवाह एक कुम्हार के यहां हुआ था। एक दिन पिता पुत्रियों से मिलने गया। किसान के यहां विवाहित बेटी ने कहा—पिताजी! बड़ी मुसीबत है। खेत बो दिए हैं। बरसात नहीं आ रही है। आकाश में बादल हैं ही नहीं। सारा श्रम नष्ट हो जाएगा। आप प्रार्थना करें कि बरसात आ जाए। पिता दूसरी बेटी के यहां गया। उसने कहा—पिताजी ! सारे भांड आवे में पक रहे हैं। कहीं बरसात न आ जाए। पिता की समस्या थी कि वह किसके कल्याण की कामना करे।

पिता किसान के यहां ब्याही पुत्री के पास जाकर बोला—'एक काम करना। वर्षा आ जाए, खेती अच्छी हो तो आधा हिस्सा अपनी बहिन को दे देना।' उसने स्वीकार कर लिया। फिर पिता कुम्हार के यहां ब्याही पुत्री के पास जाकर बोला—वर्षा न आए, खेती न हो, आंवा ठीक पके तो आधा हिस्सा अपनी बहिन को दे देना। उसने स्वीकार कर दिया। यह समीकरण होने पर दोनों प्रसन्न हो गईं।

महाराज जयसिंह और सिद्धराज्य—ये दो गुजरात के प्रसिद्ध शासक हुए हैं। ये समन्वयवादी थे। आचार्य हेमचन्द्र उनके गुरुतुल्य थे। एक बार महाराज सिद्धराज शिवमंदिर में गए। आचार्य हेमचन्द्र साथ थे। वहां किसी व्यक्ति ने कहा कि आचार्य हेमचन्द्र आपके साथ तो हैं पर ये शिव की स्तुति नहीं करते। महाराज ने पूछा—आचार्यवर ! क्या आप शिव की स्तुति कर सकते हैं ? उन्होंने कहा—क्यों नहीं कर सकता ? कर सकता हूं। उन्होंने तत्काल महादेव पर चवालीस श्लोक कहे। प्रथम श्लोक में उन्होंने कहा—

'भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे नाम से कोई मोह नहीं है। मुझे आकार से कोई मोह नहीं है। जिस आत्मा के भव-बीज के उत्पादक राग-द्वेष समाप्त हो चुके हैं, क्षीण हो चुके हैं, फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो, उन सबको मेरा नमस्कार।

बात सारी समन्वय में बदल गई। यह हमारी समन्वय की चेतना जागे। हम भेद में से अभेद खोज सकें, विरोध में अविरोध को खोज सकें और समन्वय के द्वारा टकराव की स्थिति को टाल सकें, सह-अस्तित्व और समन्वय का विकास कर सकें तो समाज सुन्दर होगा, स्वस्थ्य होगा और हमारा सामाजिक स्वास्थ्य विकसित होगा। इसके बिना सामाजिक स्वास्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जो लोग प्रशासन में जाने वाले हैं, प्रशासन के क्षेत्र में जिन्हें काम करना है उनके लिए बहुत आवश्यक है कि वे सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना को जागृत करने का अभ्यास करें।

पक्ष और प्रतिपक्ष

प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी पदार्थ से जुड़ा हुआ है। वैज्ञानिकों ने प्रतिकण को खोजने के लिए सूक्ष्म उपकरणों का प्रयोग किया। ऐसा सूक्ष्म यंत्र बनाया गया जो एक सेकण्ड के पन्द्रहवें अरब हिस्से में होने वाले परिवर्तन को पकड़ ले। तब उन्हें प्रतिकण का पता चला। आज यह सिद्धांत प्रतिष्ठापित हो चुका है कि प्रतिकण के बिना कण का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य है। अनेकांत का मूल आधार है—विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। इस स्वीकृति से ही अनेकांत का विकास होता है। अनेकांत कहता है—सत्य को एक दृष्टि से मत देखो। सत्य को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो साथ-साथ उसे नास्तिक की दृष्टि से भी देखो। स्वीकृति के साथ अस्वीकृति—दोनों साथ-साथ चलनी चाहिए। एक से काम नहीं चलता।

सह-अस्तित्व की खोज

यह संसार ही ऐसा है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह जैसा बोलता है, सब वैसे ही बोलें। वह जैसा चलता है, सब वैसे ही चलें। वह जैसे कपड़े पहनता है, सब वैसे ही कपड़े पहनें। वह जैसा आचरण या व्यवहार करता है, सब वैसा ही आचरण या व्यवहार करें। यह चाह सबकी होती है। पर ऐसा होता नहीं। विरोधी रुचियां हैं। विरोधी प्रकृतियां और विरोधी विचार हैं। विरोधी स्वभाव और विरोधी आदतें हैं। इन्हीं का परिणाम है—टक्कर, संघर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और लड़ाइयां। पहले ये बीज के रूप में पैदा होते हैं। बढ़ते-बढ़ते महायुद्ध का रूप धारण कर लेते हैं। एक-दो व्यक्तियों का झगड़ा विश्वयुद्ध बन जाता है। महायुद्ध कोई बड़ी बात के लिए नहीं होता। उसका मूल छोटा होता है। कारण बहुत ही सूक्ष्म होता है। महायुद्ध का कोई बड़ा कारण नहीं मिलेगा। छोटे-छोटे कारणों के लिए ही महायुद्ध लड़े गए हैं। थोड़ी-सी भूमि के लिए महायुद्ध हुए हैं। पत्नी को छुड़ाने के लिए महायुद्ध हुए हैं। हलके से तिरस्कार के लिए महायुद्ध हुए हैं। क्या यह संसार लड़ने के लिए ही है ? क्या मनुष्य सदा लड़ता ही रहेगा। क्या वह अपनी रुचि और विचारों को दूसरों पर थोपता ही रहेगा ? क्या इसके अतिरिक्त कोई तीसरा रास्ता भी है? क्या ऐसा मार्ग भी है कि हम विरोधों के बीच में रहते हुए भी अविरोध का जीवन जी सकें? अनेक भेदों के बीच रहते हुए भी अभेद का जीवन जी सकें? यह प्रश्न उभरता है। अनेकान्त ने इस प्रश्न को समाहित करने के लिए मार्ग की खोज की। वह मार्ग है सह-अस्तित्व।

सह-अस्तित्व : प्रकृति का नियम

आज राजनीति क्षेत्र में सह-अस्तित्व पर बहुत बल दिया जाता है। को-एग्जिस्टेन्स का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन की विभिन्न प्रणालियों में सह-अस्तित्व जरूरी है। एक समाजवादी विचारधारा है। दूसरी पूंजीवादी विचारधारा है। एक लोकतंत्र की प्रणाली है तो दूसरी एक-तंत्र की प्रणाली है। दोनों प्रकार की विचारधाराएं, दोनों प्रकार का प्रणालियां आज संसार में प्रचलित हैं। दोनों विरोधी हैं। ऐसी स्थिति में होना तो यह चाहिए कि या तो समाजवाद रहे या पूंजीवाद, या तो लोकतंत्र रहे या एकतंत्र। दोनों नहीं रह सकते, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। या तुम रहोगे या मैं रहूंगा। दोनों साथ नहीं रह सकते।

यदि इस भाषा में सोचा जाए कि या समाजवाद रहेगा या पूंजीवाद रहेगा, या तो लोकतंत्र रहेगा या एकतंत्र रहेगा, तब युद्ध के सिवाय दुनिया में कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा। जब यह अनुभव किया गया कि युद्ध सबसे बड़ा शत्रु है और यह मनुष्य जाति को अपार संकट में डालने वाला है, तब उसको टालने की बात उठी। यदि विरोधी को समाप्त करने की नीति पर चलें तब युद्ध को टालने की बात आती ही नहीं। तो फिर एक विकल्प निकालना पड़ा। राजनीति के मंच पर यह घोषणा की गई कि सबका सह-अस्तित्व होना चाहिए। दोनों रह सकते हैं, दोनों जी सकते हैं। दोनों को जीने का अधिकार प्राप्त है। इस सह-अस्तित्व की नीति के आधार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राष्ट्र-संघ जैसे संगठनों में जहां समाजवादी संगठन का प्रतिनिधित्व होता है तो वहां पूंजीवादी संगठन का भी प्रतिनिधित्व होता है। जहां लोकतंत्र प्रणाली का प्रतिनिधित्व है तो वहां एकतंत्र का भी प्रतिनिधित्व है। सह-अस्तित्व की घोषणा राजनीति के क्षेत्र में नई है, किंतु प्राकृतिक नियमों के आधार पर यह बहुत प्राचीन है। यह कोई नयी बात नहीं है। बनना और बिगड़ना, बनना और बिगड़ना—यह पुराना क्रम है।

हमारे शरीर में खरबों कोशिकाएं हैं। प्रति सेकण्ड पांच करोड़ कोशिकायें नष्ट होती हैं और पांच करोड़ कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। यह सह-अस्तित्व बना रहता है। जनमना और मरना। पैदा होना और नष्ट होना। कोशिकायें नष्ट न हों तो शरीर मुर्दा बन जाता है। कोशिकायें पैदा न हों तो शरीर टूट जाता है। दोनों चालू रहते हैं तब शरीर टिकता है।

जीना और मरना—ये दोनों विरोधी हैं, किंतु दोनों साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ चलते हैं। जिस क्षण में आदमी जीता है, उसी क्षण में आदमी मरता है और जिस क्षण में आदमी मरता है, उसी क्षण में आदमी जीता है। जीवन और मरण की ये विरोधी घटनायें साथ-साथ चलती हैं। कोई उसमें कालक्रम नहीं है कि अमुक क्षण में आदमी जीता है और अमुक क्षण में आदमी मरता है। जीना और मरना साथ-साथ चलता है। जो जीने का क्षण है, वही मरने का क्षण है और जो मरने का क्षण है वही जीने का क्षण है। दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

यदि हम इस सहावस्थान के नियम को समझ लेते हैं तो फिर संघर्ष के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। तात्पर्य सूत्र का एक महत्त्पूर्ण सूत्र है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—परस्पर में एक-दूसरे का सहारा—यह प्रकृति का नियम है, यह जीव सृष्टि का अटल नियम है। एक दूसरे का सहारा मिलता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए पनपा कि सह-अस्तित्व के नियम को भुला दिया गया। विरोधी युगल साथ रह सकते हैं—यह नियम जब आंखों से ओझल हो जाता है, तब विरोध पनपता है। व्यक्ति एक ही कोण से देख पाता है।

समाजशास्त्रियों ने यह घोषणा की कि जीवन के लिए संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि उन्होंने विरोधी युगलों के सहावस्थान तथा प्रतिपक्ष के सिद्धांत को नहीं समझा। जिन्होंने सह-अस्तित्व और विरोधी युगलों के सिद्धांत को समझा उन्हें अनेकांत की दृष्टि का हार्द प्राप्त हुआ। उन्होंने शाश्वत घोषणा की कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक प्राणी दूसरे के लिए आलम्बन बनता है, सहारा है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए आलम्बन बनता है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं है। वह आरोपण है।

महावीर ने कैवल्य प्राप्त कर जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसकी आत्मा है—समता। उनके धर्म की उत्पत्ति समता से होती है और उसकी निष्पत्ति भी समता से होती है। अहिंसा, अपरिग्रह, सह-अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता और अनेकांत—ये सब उसी समता के अंग हैं। महावीर की अहिंसा में विषमता के लिए कोई स्थान नहीं है। ढाई हजार वर्ष पहले कुछ लोग धन के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे। कुछ लोग जातीयता के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे। कुछ लोग शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे। किन्तु महावीर ने इन मान्यताओं को अवास्तविक बतलाया और उन्होंने कहा—'मनुष्य में मौलिक एकता है, समता है। उसे इन काल्पनिक मूल्यों द्वारा विखंडित नहीं करना चाहिए। बड़ा वह नहीं है, जो धनी है। बड़ा वह है जिसमें त्यागने की क्षमता है। बड़ा वह नहीं है, जो तथाकथित उच्चकुल में जन्मा है। बड़ा वह है जो सच्चरित्र है। बड़ा वह नहीं है जो शास्त्रों का पंडित है। बड़ा वह है जो संयमी है। बड़प्पन और छुटपन, ये सापेक्ष मूल्य हैं। सचाई यह है कि सही अर्थ में बड़ा वह है जिसमें त्याग की शक्ति, सच्चरित्रता और संयम है।'

महावीर के समता के सिद्धांत ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया। ढाई हजार वर्ष के बाद वह प्रभाव बढ़ा है, उसमें कोई कमी नहीं आयी है। आज का मनुष्य समता के सिद्धांत को जितना मूल्य देता है, उतना ढाई हजार वर्ष पहले का मनुष्य नहीं देता था। यह सिद्धांत शाश्वत सिद्धांत है। जो शाश्वते होता है उसमें युगीन होने की क्षमता होती है। महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे सिद्धांत वर्तमान युग के लिए भी बहुत मौलिक और उपयोगी हैं।

महावीर की अहिंसा का मुख्य आधार है—सह-अस्तित्व। इनके अनुसार परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्व साथ रह सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनासक्ति अनुप्रेक्षा

भगवान् महावीर ने कहा है—इन्द्रियों के विषय क्षणमात्र सुख देते हैं। उसका परिणाम दुःखकर और लम्बा होता है। एक घटना तत्काल घट जाती है, पर उसका परिणाम दीर्घकाल तक भोगना पड़ता है। किसी व्यक्ति ने कोई वस्तु खाई। उसका स्वाद जीभ पर आधा या एक मिनट तक रहता है। किसी का स्वाद ४-५ मिनट भी टिक जाता है, परन्तु उसी वस्तु का परिणाम वर्षों तक भोगना पड़ सकता है। परिणाम को जानते हैं, फिर ऐसा क्यों करते हैं? जानते हुए भी मोहवश ऐसा कर लेते हैं। महाभारत में कहा है—धर्म को जानते हैं फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। अधर्म को जानते हैं लेकिन वह छोड़ा नहीं जाता।

अधिक खाने के दुष्परिणाम को भोगता हुआ भी व्यक्ति मोहवश मनोज्ञ पदार्थ नहीं छोड़ सकता। लोग विषय-भोग के परिणामों को जानते हुए भी अपनी शक्ति और वीर्य की सुरक्षा नहीं कर पाते। यूनानी दार्शनिक सुकरात से किसी ने पूछा—पुरुष को अपने जीवन में सम्भोग कितनी बार करना चाहिए? सुकरात ने उत्तर दिया—जीवन में एक बार। इतना सम्भव न हो तो वर्ष में एक बार। यह भी संभव न हो तो महीने में एक बार। यह भी सम्भव न हो तो दिन में एक बार। यह भी संभव न हो तो सिर पर कफन रख लो फिर चाहे जितनी बार करो। आवश्यकता पूर्ति की बात सदा रहती है, पर यथार्थ के प्रति गाढ़ आसक्ति नहीं होती। आवश्यकता पूर्ति एक बात है और आसक्ति दूसरी बात है। अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकता को पूरी करना यह तो अनिवार्यता है, किन्तु पदार्थों के प्रति आसक्त हो जाना अनिवार्यता नहीं है। यह तो स्वयं का ही व्यामोह है।

जो शांति और संवेग का अनुभव कर चुका है वह कहीं आसक्त नहीं होगा। वह मार्ग में कभी आसक्त नहीं होगा। वह मंजिल तक पहुंचेगा किंतु पथ में कहीं आसक्त नहीं होगा। वह मानेगा कि मार्ग मात्र चलने के लिए है। उसमें आसक्त होने जैसी बात नहीं है। स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—

'विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ताताम्बुपर्णाशनाः,
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्टैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वामित्र, पराशर आदि ऋषि हवा, पत्ते और पानी खाते थे। वे भी स्त्री के सुललित मुख को देखकर भ्रष्ट हो गए। जो आदमी घी सहित आहार करे, दूध-दही खाए और इन्द्रियों का निग्रह भी रखे, कितना बड़ा आश्चर्य है। यदि ऐसा होता है तो मान लेना चाहिए कि विन्ध्य पर्वत सागर में तैर रहा है। पत्ते-पानी खाने वाले विश्वामित्र और पराशर मोह में फंस गए और वेश्या के घर रहने वाले ब्रह्मचारी रहे, यह बात समझ में नहीं आती।

एक बार सन्नाटा सा छा गया। आचार्य हेमचन्द्र ने स्थिति को पढ़ा तो लगा वातावरण हाथ से जा रहा है। तब वे बोले—

'सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी,
संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।
पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि
कामी भवत्यनुदिनं वद कोत्र हेतुः।

सिंह मांस खाता है, फिर भी वह वर्ष में एक बार भोग करता है। कबूतर दाने चुगता है और कंकर चुगता है फिर भी प्रतिदिन भोग करता रहता है। इसका हेतु क्या है ? भोजन ही इसका हेतु हो नहीं सकता।

आचार्य के यह कहते ही सारा वातावरण बदल गया। सब कहने लगे—आचार्य ने ठीक कहा है।

मूल स्रोत मन की आसक्ति है। आसक्ति और अनासक्ति के आधार पर ही परिणति होती है।

अनासक्तियोग

दुःख की घटनाएं घटती हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। भूकंप आता है, तूफान आता है, समुद्री बवंडर आता है—इन्हें कोई रोक नहीं सकता। उल्कापात होता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। बीमारियां और प्राकृतिक प्रकोप की घटनाएं घटित होती हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। किन्तु मनुष्य एक काम कर सकता है। वह इन अवश्यम्भावी प्रकोपों से होने वाले दुःखद संवेदनों से अपने आपको बचा सकता है। ये घटनाएं मन और मस्तिष्क को बोझिल बना देती हैं और जीते-जी मरने की स्थिति में ला देती हैं। इनसे बचा जा सकता है। घटना घटित होगी, परन्तु व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। वह जुड़ेगा तो इतना ही कि घटना घटी है और उसका ज्ञान है। इससे अधिक घटना के साथ कोई सम्पर्क नहीं होगा। घटना चेतन मन तक पहुंचेगी। वह अवचेतन मन को स्पर्श भी नहीं कर पाएगी। चेतन मन पर घटना का प्रतिबिम्ब पड़ेगा, अवचेतन मन पर नहीं। वहां उसकी प्रतिक्रिया भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगी। समाधि का सूत्र है—'मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं।' यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे दुःख के संवेदन समाप्त हो जाते हैं। सम्बन्धों, सम्पर्कों और पदार्थों से होने वाले सारे दुःख अपने आप मिट जाते हैं। यही है अनासक्ति योग। अनासक्ति का अर्थ है—पदार्थ के साथ जुड़ी हुई चेतना का छूट जाना, उसके घनत्व का तनूकरण हो जाना, पदार्थ के साथ चेतना का सम्पर्क कम हो जाना। जब यह होता है तब समूचे जीवन में चेतना व्याप्त हो जाती है और आसक्ति की छाया दूर हो जाती है।

कैसे देखें ?

कैसे देखें ?—यह बहुत ही महत्त्व का प्रश्न है। देखना जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है—कैसे देखें ? इसका सीधा उत्तर होगा कि आंखों से देखें। यह तो ठीक है। आंखों से देखना है, किन्तु केवल आंखों से देखना ही पर्याप्त नहीं होगा। आंखों से देखने से पहले, जो कुछ अनिवार्य शर्तें हैं देखने की, उन्हें समझना होगा। पहली शर्त है कि अनासक्त भाव से देखें, तटस्थ भाव से देखें, राग-द्वेष रहित चेतना से देखें। यदि आसक्ति है तो ठीक दिखाई नहीं देगा। आंख देखेगी पर यथार्थ नहीं दिखेगा, कुछ और ही नजर आएगा।

एक रसिक आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह चांद-सा प्रतीत हुआ। भूखे आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह रोटी-सा प्रतीत हुआ। एक के साथ कामासक्ति जुड़ी है, एक के साथ पदार्थासक्ति जुड़ी हुई है। अब स्त्री का मुंह चांद कैसे हो सकता है ? वह रोटी कैसे हो सकता है ?

इन आंखों से देखते हैं, पर जो है वह दिखाई नहीं देता। उसके साथ जो हमारी आसक्ति जुड़ी होती है, वह दिखाई देने लग जाती है। बहुत बार असुन्दर भी सुन्दर दिखाई देता है और सुन्दर भी असुन्दर दिखाई देता है। जिसके साथ आसक्ति जुड़ी होती है वह असुन्दर भी सुन्दर प्रतीत होता है। जिसके साथ घृणा जुड़ी हुई है, तिरस्कार का भाव जुड़ा हुआ है, वह सुन्दर भी असुन्दर दिखाई देगा। आंखें बेचारी यथार्थ को कहां देख पाती हैं। आंखों पर आवरण पड़ा है। आसक्ति का, राग-द्वेष का, प्रियता-अप्रियता का। जब तक यह आवरण दूर नहीं होता, आसक्ति नहीं मिटती, राग-द्वेष नहीं मिटता, प्रियता और अप्रियता का भाव नष्ट नहीं होता, तब तक आंखें यथार्थ को नहीं देख पातीं। जो है उसे उसी रूप में देख नहीं पातीं। आदमी अच्छा है। वह हमें बुरा दिखाई देता है, हम उसे बुरा मान लेते हैं। क्योंकि अच्छा मानने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और बुरा मानने के साथ दूसरी भावना काम कर रही है। इसलिए अनासक्त भाव से देखें, तटस्थ भाव से देखें, केवल यथार्थ दिखेगा। जो घटित हो रहा है, उसे ही देखें। किसी चिंतन या भावना या संवेदना को साथ न जोड़ें। अनासक्त भाव से देखना, राग-द्वेष रहित चेतना से देखना, तटस्थ भाव से देखना, जो जैसा है उसे वैसा ही देखना, यह है हमारा देखने का प्रकार।

अनासक्ति एक महान् प्रयोग है। गीता का नवनीत है—अनासक्ति योग। क्या उसका स्वाध्याय या विवेचन करने वाला कर्म के क्षेत्र में अनासक्त बन जाता है ? प्रतिदिन पारायण करने वाले में भी अनासक्ति का अवतरण दिखाई नहीं देता। इसका हेतु है प्रयोग का अभाव।

योगीराज कृष्ण ने कहा—मैं उदासीन की भांति आसीन हूं। कर्मों में अनासक्त हूं। इसलिए वे कर्म मुझे बांध नहीं पाते।

'न च मां तानि कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय !
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।'

प्रयोग के बिना कोई मनुष्य उदासीन नहीं हो सकता। सामान्यतः हर मनुष्य प्रिय और अप्रिय संवेदना में जीता है। इनसे ऊपर उठना साधना के बिना संभव नहीं। गीता में उदासीन या तटस्थ का अर्थ है आत्मवान्। आत्मवान् ही अनासक्त हो सकता है। उसे कर्म नहीं बांध पाते।

'योगसंन्यस्तकर्माणि, ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ! ।।'

आत्मवान् होने का प्रयोग है—वैभाविक क्रिया के अकर्तृत्व का अनुभव। देखना, सुनना, छूना, सूंघना, श्वास लेना—ये सब इंद्रियों के कार्य हैं। इन्द्रियां अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो रही हैं। संवेदन मेरा मौलिक स्वभाव नहीं। इस प्रकार अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप की अनुभूति करने वाला आत्मवान् हो जाता है। यह सब अभ्यास पर निर्भर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहिष्णुता अनुप्रेक्षा

कष्ट-सहिष्णुता के बिना जीवन में उदात्त कर्म की साधना नहीं की जा सकती। सारी उदात्तताएं, विशिष्टताएं, कष्ट-सहिष्णुताएं एक साथ जुड़ी हुई हैं। इसलिए कहा गया—'परीसहे जिणंतस्स'.....! जो परिषहों को सहन करता है, कष्ट-सहिष्णु होता है, वह उन्नति के शिखर को छू लेता है।

दो प्रकार के जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। एक है कष्ट-सहिष्णु जीवन की व्याख्या और दूसरी है आरामतलबी जीवन की व्याख्या। जिस व्यक्ति को जीवन में सफल होना है, जो कुछ होना चाहता है, वह कभी आरामतलबी की दिशा में नहीं जाना चाहता।

साधक को कष्ट-सहिष्णु बनना ही चाहिए। ध्यान की साधना करने वालों को, अभ्यास करने वालों को कष्ट से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट सहने का भी प्रशिक्षण होना चाहिए। जहां दो-सौ व्यक्ति हों, वहां यदा-कदा अनेक प्रकार की कठिनाइयां आ सकती हैं। यदि व्यवस्थापक वर्ग कठिनाइयां नहीं आने देते तो यह उनकी व्यवस्था-निपुणता है। किन्तु कष्ट सहने का अवसर भी आना चाहिए। तभी साधकों की कसौटी हो सकती है। जैन व्यवस्थापकों की कसौटी है कि व्यवस्था को कितनी निपुणता से बनाये रखते हैं, वैसे ही साधकों की यह कसौटी है कि व्यवस्था में कहीं न्यूनता होने पर भी वे कैसे उसको सहन करते हैं। प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते समय यह संकल्प किया जाता है कि मैं 'प्रतिक्रिया विरति' का अभ्यास करूंगा। क्या कष्टों को सहन करने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया नहीं करेगा ? जो सहन करना नहीं जानता, वह प्रतिक्रिया से बच ही नहीं सकता। उसके मन में पग-पग पर प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया से वही व्यक्ति बच सकता है जो कष्ट-सहिष्णु है, जिसमें सहिष्णुता का विकास हुआ है।

हमारी चेतना की बड़ी शक्ति है—सहिष्णुता। यह वह प्रज्वलित अग्नि है, लौ है, जिसके द्वारा जीवन आलोकित होता है। जिसमें कष्टों को सहन करने की चेतना नहीं जागती, उसके जीवन में प्रकाश नहीं हो सकता। आग के जले बिना प्रकाश सम्भव नहीं होता। सारा अन्धकारमय बना रहता है। जिसे प्रकाशी होना है, अपने जीवन को प्रकाश से भरना है, उसे कष्ट-सहिष्णु बनना ही होगा। कष्ट-सहिष्णुता के साथ-साथ मनोबल का भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास करना होता है। स्वत: होता है। यह युक्तिकृत मनोबल है, युक्ति के द्वारा, सहिष्णुता के द्वारा मनोबल को बढ़ाना है। एक साथ अधिक कष्टों को सहन करना कठिन होता है, किंतु धीरे-धीरे आदमी को कष्ट-सहिष्णु बनने का अभ्यास करना ही चाहिए।

परिवर्तन की प्रक्रिया–सहिष्णुता

परिवर्तन की प्रक्रिया का सूत्र है–सहिष्णुता, सहन करना। परिवर्तन के लिए बहुत जरूरी है सहन करना। जो सहन करना नहीं जानता वह बदल नहीं सकता। पहले ही घबराता है कि मैं यह काम करता हूं, लोग क्या कहेंगे। गति वहीं समाप्त हो जाती है। व्यक्ति ने सोचा, लोग क्या कहेंगे ? पड़ोसी क्या कहेंगे ? साथी क्या कहेंगे ? वहीं गति समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति बदलना चाहते हैं वे इस बात को सर्वथा समाप्त कर दें कि कौन क्या कहेगा। कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मुझे क्या करना है ? केवल यही सम्बन्ध रखता है।

आचार्यवर बहुत बार कहते हैं कि यदि हम यह देखते रहते कि लोग क्या कहेंगे तो कुछ भी नहीं कर पाते। जहां थे, वहीं रह जाते। सारा जो विकास हुआ है, इस आधार पर हुआ है कि लोग क्या कहेंगे, इस बात का मन में डर नहीं है, केवल चिंतन है कि क्या होना चाहिए। जो जो होना चाहिए वह किया गया, इसलिए आज हमारी यह स्थिति बन गई। डरते ही रहते तो यह स्थिति नहीं बनती।

हमारी सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। सहिष्णुता का अर्थ है–सर्दी को सहना, गर्मी को सहना। सर्दी मौसम की भी आती है और सर्दी भावना की भी आती है। गर्मी मौसम की भी आती है और गर्मी भावना की भी आती है। अनुकूल कष्ट का नाम है सर्दी और प्रतिकूल कष्ट का नाम है गर्मी। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर से सर्दी और गर्मी को नहीं सहा, वह कच्चा आदमी रह गया। जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक जगत् में अनुकूलता को नहीं सहा, प्रतिकूलता को नहीं सहा, वह साधना के क्षेत्र में कच्चा आदमी रह गया। जब चाहो तब उसे दु:खी बना सकते हो। कच्चे आदमी को दु:ख दिया जा सकता है। जो पक जाता है उसे दु:ख देना बड़ा कठिन होता है। जब तक मिट्टी का घड़ा कच्चा है, पक नहीं जाता तब तक काम का नहीं होता। न पानी रखा जा सकता है और न और कुछ रखा जा सकता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कच्चे पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। भरोसा पैदा होता है पक जाने पर। मनष्य भी जब तक कच्चा होता है तब तक उस पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरोसा नहीं किया जा सकता। साधना की आंच में अनुकूलता और प्रतिकूलता को झेलते-झेलते जो पक जाता है वह विश्वास करने योग्य बनता है, अन्यथा सत्तर वर्ष का आदमी भी अविश्वसनीय ही रहता है। बड़ी उम्र हो जाने से कोई विश्वासपात्र नहीं बन जाता है। यदि नहीं पकता है तो जीवन में बड़े खतरे रहते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया है—पक जाना। पकने के लिए दो आंचों से गुजरना पड़ता है। एक अनुकूलता की आंच और दूसरी प्रतिकूलता की आंच। प्रतिकूलता की आंच को सहना कठिन काम है तो अनुकूलता की आंच को सहना कठिनतम काम है। जितना खतरा अनुकूलता से होता है, उतना खतरा प्रतिकूलता से नहीं होता।

ध्यान के द्वारा इन दोनों स्थितियों का पार पाया जा सकता है, अनुशासन स्थापित किया जा सकता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने चंद्र स्वर का प्रयोग करता है। वह पकता है। श्वास के साथ बहुत सारे रासायनिक तत्त्व होते हैं। वे वाहन का काम कर सकते हैं। माध्यम बन सकते हैं। किसी विचार को पहुंचाना है, किसी को सहना है तो श्वास-संयम के बिना वह सहज-सरल नहीं होगा। यदि हमने श्वास को साध लिया, दीर्घ-श्वास का और समताल-श्वास का प्रयोग करना सीख लिया तो अनुकूल स्थिति और प्रतिकूल स्थिति को भी झेल सकते हैं। प्रतिकूल स्थिति को झेलना पड़ता है। सामने प्रतिकूल स्थिति आती है और मस्तिष्क में गर्मी छा जाती है। उत्तेजना आती है, तब पीनियल और पिच्यूटरी में भयंकर गर्मी पैदा हो जाती है। ये सारे स्थान बहुत सक्रिय हो जाते हैं। उत्तेजना की अवस्था में तो वह झेलना पड़ता है। यदि उस समय हमारे श्वास का अभ्यास अच्छा होता है, तो लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कोई भी प्रतिकूलता मन में आ रही है, मन में पारा गर्म हो रहा है, उत्तेजना भभक रही है, तत्काल समताल-श्वास का प्रयोग शुरू करें, ऐसा लगेगा कि आग और पानी दो हैं और बीच में कोई बर्तन आ गया। आग जल रही है, पानी डालो, आग बुझेगी, पानी फालतू चला जाएगा। आग जल रही है, बर्तन रखकर उसमें पानी डालो, पानी गर्म हो जाएगा, काम का बन जाएगा। पानी काम का भी बन सकता है, आंच को सहकर, और आग में गिरकर पानी फालतू भी हो सकता है। श्वास की क्रिया एक ऐसा बर्तन है। अगर इसका उपयोग किया जाए तो आंच भी लगेगी और जो कुछ आएगा वह फालतू नहीं लगेगा, उसका भी उपयोग हो जाएगा। जो शक्ति क्रोध के द्वारा खर्च होती थी वह शक्ति बच जाएगी और काम की शक्ति बन जाएगी। जितनी आवेग, आवेश और वासनाएं हैं, वे सारे-के-सारे प्राण की शक्ति को खर्च करते चले जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग भी उपयोगी है और पानी भी उपयोगी है। आग में पानी डालो, आग बुझ जाएगी और पानी फालतू चला जाएगा। अगर हम आग और पानी के बीच में समताल-श्वास का बर्तन रखना सीख जायें तो पानी भी खराब नहीं होगा, काम का बन जाएगा। आग भी नहीं बुझेगी और हम उसे बहुत से काम में ले पाएंगे।

सहिष्णुता का प्रयोग, सहन करने का प्रयोग, श्वास के बिना सम्भव नहीं होता।

मनोबल की शिक्षा—सहिष्णुता

एक बहुत बड़ी शक्ति है—सहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइयां झेलते हैं, वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

यह सब जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। यह विद्याशाखीय शिक्षा के द्वारा कभी नहीं हो सकता। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबको पढ़ लो, किन्तु सहिष्णुता की शक्ति नहीं जाग पाएगी, समता का विकास नहीं हो पाएगा। विद्या की एक शाखा—'जीवन-विज्ञान' ही ऐसा माध्यम बन सकती है जो आदमी की आन्तरिक शक्तियों को जगाकर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग सुन्दर बना सकती है।

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह संयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनाएं घटित होती है। दुर्घटनाएं होती हैं। अनेक व्यक्ति मर जाते हैं। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितियां पैदा होती हैं। आदमी में उन्हें झेलने की शक्ति नहीं रहती। इस स्थिति में क्या सम्भव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे ? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोड़नी होगी, और वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढ़ाने की शिक्षा।

सहिष्णुता का अभाव

आज का मनुष्य इतना असहिष्णु है कि वह कुछ भी सहन नहीं कर सकता। आज के युग की यह भयंकर बीमारी है। वह किसी भी घटना को सहन नहीं कर पाता। हीटर और कूलर क्यों चले ? जब मनुष्य ऋतु के प्रभाव को सहन करने में असमर्थ हो गया तब इनका आविष्कार हुआ। ऋतु के प्रभाव को सहने की क्षमता आदमी में कम हो गई है। आज जब कुछ समय के लिए बिजली चली जाती है तब आदमी परेशान हो जाता है। गर्मी है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंखा चाहिए। सर्दी है, हीटर चाहिए। पुराने जमाने के मकान देखें। उनके दरवाजे भी छोटे होते और खिड़कियां विशेष होतीं ही नहीं और यदि कोई होतीं तो वे भी छोटी ही होतीं। आज तो शायद पशु भी उन स्थानों में नहीं रखे जा सकते। कुछ असर पशुओं में भी आया है आदमियों का। वे भी खुला स्थान पसन्द करते हैं। उन्हें भी मुक्त स्थान चाहिए। किन्तु आश्चर्य होता है कि लोग उन मकानों में कैसे रहते थे ?

आचार्य भिक्षु ने सिरियारी गांव में पक्की हाट में चातुर्मास-काल बिताया। अभी भी वह हाट प्रायः मूल की स्थिति में मौजूद है। उस हाट में आज कोई भी साधु चातुर्मास तो क्या एक दिन भी रहना नहीं चाहेगा। वह पूरा दिन नए स्थान की खोजबीन में बिता देगा, पर हाट में नहीं रह सकेगा। इसका क्या कारण है ? कारण बहुत स्पष्ट है कि उस जमाने के लोग बहुत शक्तिशाली और सहनशील थे। वे हर घटना को सह लेते थे। जैसे-जैसे सुविधाओं का विकास हुआ है, मनुष्य की सहनशक्ति कम हुई है। आज सुविधाओं के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। प्रतिदिन साधनों की नई-नई खोजें हो रही हैं। इसे हम विकास की संज्ञा देते हैं। मैं भी अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य ने इस क्षेत्र में विकास नहीं किया है। उसने विकास किया है और आज भी नए-नए आयाम खोज रहा है। किन्तु यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि पदार्थ जगत् में मनुष्य ने जो विकास था, उसे खोया है। आज कितना अधैर्य है। असहिष्णुता अधीरता को जन्म देती है। आज मानो कि मनुष्य में धृति है ही नहीं, ऐसा लगता है। यदि मालिक नौकर को दो कड़े शब्द कह देता है तो नौकर तत्काल कहता है—यह लो तुम्हारी नौकरी। मैं तो चला। मालिक सोचता है नौकर चला गया तो क्या होगा ? वह स्वयं नौकर से कहता है—'चलो, आगे से कुछ नहीं कहूंगा।' सारा चक्का उलटा घूम गया। प्राचीन काल में मालिक नौकर को कितना अनुशासन में रखता था और नौकर स्वामी का कितना विनय करता था। नौकर कितना सहिष्णु होता था। आज पिता पुत्र को कुछ भी कहने से पूर्व दस बार सोचता है कि इस बात का पुत्र पर क्या असर होगा ? कहीं वह कुपित होकर घर से चला न जाए। आत्म-हत्या न कर ले। कभी-कभी वह पूरी बात कह भी नहीं पाता, अधूरी बात कहकर ही विराम कर लेता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति अधीर है। अधीरता सीमा को लांघ चुकी है। मनुष्य ने प्रकृति की सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता को ही नहीं गंवाया है, उसने सार्वभौम सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता भी खोयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज असहिष्णुता चरम सीमा तक पहुंच चुकी है। दो भाई हैं। दो मित्र हैं। तब तक भाईचारा और मित्रता निभती है जब तक आपस में कुछ कहा सुना नहीं जाता। मन के प्रतिकूल कहते ही भाईचारा टूट जाता है। मित्रता समाप्त हो जाती है। शिष्य गुरु के प्रति विनीत होता है, समर्पित होता है। विनय और समर्पण तब तक अखण्ड रहता है जब तक गुरु शिष्य को कुछ कठोर शब्द नहीं कहते और शिष्य का स्वार्थ सम्पादित होता रहता है। कुछ कहा, कुछ ताप दिया कि शिष्य मोम की तरह पिघलकर बिखर जाएगा, टूट जाएगा।

अनुशासन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक सहिष्णुता का विकास नहीं होता। हम अनुशासन लाने का बहुत प्रयत्न करते हैं। हम चाहते हैं कि अनुशासन का विकास हो, विद्यार्थी और पुलिसकर्मी में अनुशासन आए, मजदूर और कर्मचारी में अनुशासन आए। हर क्षेत्र में अनुशासन बढ़े। सब चाहते हैं, किन्तु वे इस आधारभूत तत्त्व को भूल जाते हैं कि सहिष्णुता की शक्ति का विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। इसलिए हमारा सारा प्रयत्न सहिष्णुता की शक्ति को विकसित करने के लिए होना चाहिए। तब अनुशासन स्वयं फलित होगा।

सहिष्णुता का विकास शक्ति का विकास है। इस शक्ति के सहारे दूसरों की कमियों को भी सहा जा सकता है और दूसरों की विशेषताओं को भी सहा जा सकता है। आज अनुशासन की समस्या बहुत जटिल हो गई है, क्योंकि मनुष्य असहिष्णु बन गया है। सहिष्णुता के बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। अनुशासन एक परिणाम है और सहिष्णुता की शक्ति है उसका कारण।

सहिष्णुता के प्रयोग

सहिष्णुता की शक्ति का विकास करने के लिए अग्र-मस्तिष्क (फ्रन्टल लॉब या एमोशनल एरिया) पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रेक्षाध्यान की दृष्टि से इसे शान्ति केन्द्र, ज्योति-केन्द्र का स्थान कहा जाता है। असहिष्णुता की आंच यहां है। यहां चूल्हा जल रहा है। तापमान का नियंत्रण हाइपोथेलेमस द्वारा होता है। मस्तिष्क का एमोशनल एरिया ही सारी उत्तेजनाओं, आवेगों और असहिष्णुता का जनक है। इसको बदले बिना या इस पर नियंत्रण किए बिना सहिष्णुता की शक्ति का विकास नहीं हो सकता। इसको बदलने का कारगर उपाय है—ज्योति-केन्द्र और शान्ति-केन्द्र पर ध्यान करना। यह एक बात है। दूसरी बात है कि इन दो केन्द्रों पर सफेद रंग का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान करना। ये दो प्रयोग हैं, दो अभ्यास-क्रम हैं। ये दोनों प्रयोग मस्तिष्क के एमोशनल एरिया पर नियन्त्रण करते हैं, उसे शान्त करते हैं। इस पर नियन्त्रण जैसे-जैसे होता जाएगा, वैसे-वैसे उत्तेजनाएं और आवेग कम होते जाएंगे और सहिष्णुता की शक्ति का विकास होता जाएगा। जब सहिष्णुता का विकास होगा तब अनुशासन की शक्ति अपने आप जागेगी। इस स्थिति में आदमी किसी बात को सुनकर तत्काल उत्तेजित नहीं होगा, असहिष्णु नहीं होगा। वह सोचेगा—'कहने वाला जो बात कह रहा है, उसका तात्पर्य क्या है, प्रयोजन क्या है।' यह सोचकर वह उस बात में से सारतत्त्व को ग्रहण कर, शेष को छोड़ देगा।

एक अंग्रेज ने महात्मा गांधी को पत्र लिखा। उसमें गालियों के अतिरिक्त कुछ था नहीं। गांधीजी ने पत्र पढ़ा और उसे रद्दी की टोकरी में डाल दिया। उसमें जो 'आलपिन' लगा हुआ था उसे निकालकर सुरक्षित रख लिया। वह अंग्रेज गांधीजी से प्रत्यक्ष मिलने के लिए आया। आते ही उसने पूछा—'महात्माजी ! आपने मेरा पत्र पढ़ा या नहीं ?' महात्माजी बोले—'बड़े ही ध्यान से पढ़ा है।' उसने फिर पूछा—'क्या सार निकाला आपने ?' गांधीजी ने कहा—'एक आलपिन निकाला है। बस, उस पत्र में इतना ही सार था। जो सार था, उसे ले लिया। जो असार था, उसे फेंक दिया।'

जब सहिष्णुता का विकास होता है तब आदमी संतुलित हो जाता है। वह न प्रियता में फूलता है और न अप्रियता में कुम्हलाता है। कभी-कभी प्रियता भी धोखे में डाल देती है। कभी-कभी प्रियता भी खतरनाक हो जाती है। मित्रता के बहाने जितना धोखा दिया जा सकता है, उतना धोखा शत्रुता के बहाने नहीं दिया जा सकता। मित्र जितना खतरनाक हो सकता है उतना शत्रु खतरनाक नहीं हो सकता। प्रियता के बहाने आदमी जितना धोखा खाता है, उतना धोखा अप्रियता से नहीं दिया जा सकता। जब सहिष्णुता का विकास होता है तब प्रियता में भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है और अप्रियता में भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है।

सहिष्णुता के विकास का सूत्र है—शांति-केन्द्र और ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करना, तद्विषयक चिन्तन और विचार करना।

उपवास सहिष्णुता का बड़ा प्रयोग है। प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन की मांग हो जाती है। जो उपवास करते हैं, उसमें सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है और संकल्प-शक्ति का विकास होता है। भगवान् महावीर ने बहुत लम्बी-लम्बी तपस्यायें की थीं और वे कोरी शरीर को सताने वाली तपस्यायें नहीं थीं। यह तो भ्रांति से लोगों ने मान लिया कि शरीर को बड़ा कष्ट दिया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सताया। उनके तो वे सारे प्रयोग थे। अब जब प्रयोग की बात भूल गए, तब लगा कि वे शरीर को बहुत सताते हैं। सताने की कोई बात नहीं है। ये सारी प्रयोग की बातें हैं। जो शरीर को सताने के लिए तपस्या की जाए तो ऐसी तपस्या गलत है और ऐसी तपस्या होनी ही नहीं चाहिए। केवल प्रयोग होना चाहिए। आयुर्वेद का विकास है कि सप्ताह में एक उपवास अवश्य होना चाहिए। आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गए किन्तु पश्चिम के लोगों ने उपवास-चिकित्सा का प्रयोग कर रखा है, न जाने कितने वर्षों से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा की पश्चिम में जितनी अच्छी पुस्तकें निकली हैं शायद भारत में नहीं निकली। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाए।

सहिष्णुता के विकास के लिए कोई साधक सूर्य के आतप का प्रयोग करे तो कब, कितना और किस आसन में करना चाहिए ? यह एक प्रश्न है। प्रारम्भ करने वाले के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर एक घण्टे तक यह प्रयोग किया जा सकता है। कायोत्सर्ग की मुद्रा (लेटे-लेटे) या पद्मासन की मुद्रा लाभप्रद होती है। प्रारम्भ में आतप का सेवन दस-पन्द्रह मिनट तक किया जाए और फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाकर एक घण्टा तक खींचा जा सकता है।

धार्मिक की कसौटी

धार्मिक की पहली कसौटी है सहिष्णुता, परिस्थिति को सहने की क्षमता। वह कभी नहीं कहता कि मेरे पर दुःख न आए। जो यह मांग करता है, वह कर्त्तव्य की हत्या करता है। क्या प्रकृति का नियम बदल जाए ? क्या कर्म का नियम बदल जाए ? धार्मिक कभी सत्य को उलटना नहीं चाहता।

दुनिया का नाम है द्वन्द्व। संस्कृत में द्वन्द्व शब्द के दो अर्थ होते हैं—'दो' और 'लड़ाई'। दो का होना ही लड़ाई है। इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि में जन्म ले और सोचे—दुःख, प्रतिकूल परिस्थिति और कठिनाई न आए, यह कैसे हो सकता है ? ऐसा सोचना निरी मूर्खता है।

धार्मिक में भी कठिनाई आए तो धर्म करने का लाभ क्या है ? यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर बहुत साफ है। धर्म से दुःख को सहने की शक्ति आती है। धार्मिक कष्ट में रोता, विलपता नहीं, अपितु आनन्द से उसे झेल लेता है। रोग, बुढ़ापा और मौत धर्म करने वालों को भी आती है और न करने वालों को भी आती है। दोनों में फर्क यह पड़ता है कि अधार्मिक इस स्थिति में बिलखता है, हाय-हाय करता है, पड़ोसी को भी जगा देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक इसे शांत भाव से सहन कर लेता है। दूसरों को पता नहीं चलता कि इसको कष्ट हो रहा है। मैंने देखा कुन्दनमलजी स्वामी को। उनके मस्से में घाव हो गया। डाक्टर ने कहा—चीरना होगा। चौथमलजी स्वामी कैंची से चीरने लगे। बिना सूंघनी के वे मूर्ति की तरह बैठे रहे। कहने लगे—चौथमलजी ! काटना हो जितना एक साथ काट लो। शांत भाव से सहने की शक्ति कहां से आती है ? जिनमें यह भेदज्ञान हो जाता है कि आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, उनमें सहने की शक्ति बढ़ जाती है।

मैंने अपनी माता साध्वी बालूजी से कहा—'माला जपती हो, वह तो ठीक है। इसके साथ थोड़ा और जोड़ दो—आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है।' इस मंत्र को उन्होंने अच्छे ढंग से पकड़ लिया। जब कभी मैं जाता और पूछता—कैसे हैं ? तो यही उत्तर मिलता—मेरे कोई बीमारी नहीं है, बिलकुल ठीक है, परम शांति है ? मैंने फिर कहा—बीमारी न कहना क्या असत्य नहीं है ? उन्होंने उत्तर दिया—नहीं है। आत्मा में शांति है, बीमारी शरीर में है, मेरे नहीं।

वे साध्वियों से कहतीं—अब तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध नहीं है, तुम अपने में और मैं अपने में।

मनुष्य को सुखी जीवन का सूत्र देते हुए बर्टेंड रसेल ने कहा—'वही मनुष्य सुखी है जो अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्धों को न तो अचानक तोड़ देता है और न उनमें विषैलापन उत्पन्न होने देता है। जिसके व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तित्वों के लिए स्थान है, वह समस्त मानव समाज के साथ आत्मीयता स्थापित करके आनन्द का अनुभव करता है, वह सदा सुखी है।'

उक्त मनःस्थिति का निर्माण सहिष्णुता के धरातल पर हो सकता है। जो व्यक्ति सहना जानता है, वह क्षमा के महान आदर्श तक पहुंच सकता है। सामूहिक जीवन की सफलता और सरसता का राज है—सहिष्णुता। ईसा की सतरहवीं शताब्दी में जापान के तत्कालीन मंत्री ओचीसान का परिवार अपने सौमनस्य के कारण पूरे जापान में ख्याति प्राप्त कर रहा था। सौ व्यक्तियों का प्रबुद्ध परिवार। वर्षों से संयुक्त परिवार की परम्परा। कभी किसी छोटी-मोटी बात को लेकर परस्पर वैमनस्य नहीं हुआ। जापान के सम्राट् यामातो के कानों तक यह बात पहुंची। उनके मन में आश्चर्य का भाव जागृत हुआ। स्थिति की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए वे मंत्री के घर पहुंचे। उस परिवार का दृश्य सचमुच विस्मित करने वाला था। सम्राट् ने इस असीम सौहार्द के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त की, कारण जानना चाहा। परिवार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे बुजुर्ग व्यक्ति वृद्ध हो चला था। बोलने में असमर्थ था। उसने संकेत से कलम और पत्र मंगवाकर कांपते हाथों से उस पर लिखा--'सहनशीलता।'

सहनशीलता क्षमा की निष्पत्ति है। इसमें बड़े और छोटे का प्रश्न नहीं उठता। बड़े छोटों को सहन करते हैं और छोटे बड़ों को सहन करते हैं। इस सहने में किसी के प्रति अहसान के भाव नहीं, आत्मधर्म की प्रेरणा होती है। जहां सहना पड़ता है या किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए सहा जाता है, वह विवशता है।

जो सब कुछ सह लेता है

निर्ग्रन्थ कौन होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'आयारो' का एक सूक्त है--**'सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे'**--निर्ग्रन्थ वह होता है जो शीत और उष्ण को सहन कर लेता है। शीत और उष्ण का अर्थ केवल सर्दी-गर्मी ही नहीं है। जो सब प्रकार की अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं को सह लेता है, वह निर्ग्रन्थ शब्द की गरिमा को धारण कर सकता है।

सामान्यत: निर्ग्रन्थ उसे कहते हैं जो परिग्रह से मुक्त होता है। पर यहां परिग्रह बहुत नीचे धरातल पर रह जाता है। उससे आगे जो राग-द्वेष की ग्रंथियां हैं, कषाय का वलय है, उसे तोड़ने वाला साधक निर्ग्रन्थ बन सकता है। इस भूमिका तक पहुंचाने वाला कोई तत्त्व है तो वह है समता। समता और मैत्री एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समता एक शक्ति है। इसे क्षमता सम्पन्न व्यक्ति ही संजोकर रख सकते हैं। अक्षम व्यक्ति समता-विहीन होते हैं। वे किसी भी परिस्थिति से प्रतिहत हो सकते हैं। उनमें सहनशीलता नहीं होती, इसलिए वे मैत्री के मंत्र की आराधना नहीं कर सकते।

निर्ग्रन्थ के कई लक्षण हैं। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और सत्य भी उनके लक्षण हैं। पर इन सबका समावेश समता में हो जाता है। जीवन में समता है तो ये सब गुण विकसित हो जाते हैं। समता के अभाव में इनकी अवस्थिति नहीं हो सकती। समता की सीमा का अतिक्रमण करते ही इन सबका लोप हो जाता है। यह निश्चिय की भूमिका है।

व्यवहार की भूमिका में समता का पर्याय है मैत्री। यह एक सापेक्ष सत्य है। किसी व्यक्ति के प्रति विरोध, अवहेलना, अनादर या आक्रोश का भाव जाग जाए, उससे क्षमा की याचना करना और अपने प्रति किसी दूसरे द्वारा किए गए व्यवहार के लिए क्षमा देना मैत्री है। यह उन लोगों के लिए है जो व्यवहार के जगत् में जीते हैं। व्यवहार के धरातल से ऊपर उठे हुए व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की मैत्री किसी के प्रति नहीं होती। उसका आदर्श होता है—'मित्ती मे सव्वभूएसु' विश्व के समस्त प्राणी, फिर वे कितने ही छोटे या बड़े क्यों न हों, उनके प्रति समत्व की अनुभूति। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति है। इसका विकास सबमें नहीं हो सकता। जिन्होंने मैत्री की शक्ति का पूरा विकास कर लिया उनके लिए संसार में कोई अमित्र हो ही नहीं सकता। वे ऐसे अमृत का सिञ्चन करते हैं, जिससे शत्रुता का विष घुल जाता है और व्यक्ति अमृतमय बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृदुता अनुप्रेक्षा

कोमलता का नाम मृदुता है। यह सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में सरसता रहती है। मृदु स्वभाव में लोच होती है। इस स्वभाव वाला व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो काम नहीं होता, वह मृदुता से हो जाता है। नैतिक चेतना का सूत्र है—मृदु व्यवहार। कुछ व्यक्ति क्रूर होते हैं। वे पशुओं के साथ तथा आदमियों के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करते हैं कि उनकी क्रूरता प्रत्यक्ष हो जाती है। यहां का आदमी पशुओं के प्रति इतना क्रूर होता है कि उसमें नैतिकता का विकास कैसे हो सकता है ? आदमी व्यवहार में कितना क्रूर व्यवहार करता है ? दहेज की भूख क्या क्रूर व्यवहार नहीं है ? प्रतिवर्ष सैकड़ों मासूम बच्चियां दहेज की बलिवेदी पर आहूत होती हैं। जब ये सारी क्रूरताएं चलती हैं तब लगता है कि नैतिकता की बात है कहां ? हमने सबसे बड़ी भूल यह की है कि हमने नैतिकता को अलग मान लिया और धर्म को अलग मान लिया। परलोक को सुधारने के लिए धार्मिक होना जरूरी है, मोक्ष और स्वर्ग के लिए धार्मिक होना जरूरी है, नैतिक होना जरूरी है। आदमी नैतिक हो या न हो, धर्म करने वाला हो, पूजा-पाठ करने वाला हो, जाप करने वाला हो फिर वह दुकान और घर पर कैसा ही व्यवहार करने वाला क्यों न हो। वह मानता है कि व्यवहार कैसा भी हो, गलती होगी तो भगवान के भजन से सारा पाप धुल जाएगा। एक-दो बार भगवान की आरती करेंगे और बस, पाप से छुटकारा मिल जाएगा। फिर कल से नई शुरूआत, नया चिन्तन, नई प्रवृत्ति। जहां इस प्रकार की धारणा बन जाती है कि धर्म अलग, अध्यात्म और धर्म की चेतना अलग, नैतिक चेतना अलग तो वहां नैतिक चेतना के विकास की चर्चा करने में संकोच होता है। आज चेतना का आमूलचूल परिवर्तन करना है।

मनुष्य में तीन दुर्बलताएं होती हैं—क्रूरता, विषमता और स्वयं को हानि पहुंचाने वाली प्रवृत्ति। इनमें क्रूरता का स्थान पहला है। मैं व्यवहार में परिष्कार चाहता हूं—इस बात का अर्थ है कि व्यवहार में क्रूरता है वहां कोमलता, मृदुता चाहता हूं। करुणा चाहता हूं कि मेरा व्यवहार दूसरों के प्रति करुणा से भरा हुआ हो। क्रूरता का अंश धुल जाए, धुलता चला जाए। क्रूरता समाप्त हो जाए। पूरी क्रूरता समाप्त हो जाए। आज की सारी विसंगतियां,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के सारे विरोधाभास, आज की सारी समस्याएं–चाहे आर्थिक क्षेत्र में हैं, चाहे राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में हैं उनका मूल उत्स है–मनुष्य की क्रूरता। क्रूरता के कारण ही आर्थिक कठिनाइयां पैदा हो रही हैं। आज जो आर्थिक समस्याएं हैं उनके मूल में सबसे बड़ा कारण है–मनुष्य की क्रूरता। क्या क्रूरता के बिना कोई आदमी किसी को धोखा दे सकता है ? किसी को लूट सकता है ? मिलावट कर सकता है ? रिश्वत ले सकता है ? ये सारी बातें नहीं हो सकतीं। एक क्रूरता के कारण सब बुराइयां हजम हो रही हैं। कभी सोचने का अवसर ही नहीं मिलता कि ऐसा नहीं होना चाहिए। एक बीमार पड़ा है–मृत्यु-शय्या पर। पर जब तक अधिकारियों की पेट-पूजा नहीं हो जाती तब तक हॉस्पीटल में भर्ती होना भी कठिन हो जाता है। एक आदमी को आवश्यक कार्य से कहीं यात्रा करनी है, पर जब तक रिश्वत का सहारा नहीं लेता तब तक टिकट ही नहीं मिलती। एक व्यवसायी गायों को, भैंसों को बिना मौत मार देता है। चारे में ऐसी मिलावट करता है कि चारा खाते ही पशु मरने लग जाते हैं। क्या क्रूरता के बिना ऐसा सम्भव है ? क्या आटे में मिलावट, मसालों में मिलावट, दाल में मिलावट, क्रूरता के बिना सम्भव है ? कभी सम्भव नहीं है। यह सारी आर्थिक भ्रष्टाचार की कहानी क्रूरता की कहानी है।

दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार क्रूरता से मुक्त हो। और यदि वह क्रूरता से मुक्त होता है तो अनेक समस्याएं अपने आप समाहित हो जाती हैं, फिर उनके समाधान खोजने की आवश्यकता नहीं होती।

हमारे भीतर अनन्त चेतना का स्रोत प्रवाहित हो रहा है। अपने आपको उस स्रोत में आप्लावित रखने के लिए उस स्रोत को देखना आवश्यक है। जो उस स्रोत को देख लेता है उसके आस-पास मैत्री की धाराएं फूट पड़ती हैं। मैत्रीभाव विश्व-बन्धुत्व का पहला सूत्र है, जो व्यक्ति प्रतिक्षण जागृत रहता है और द्वेषभाव से दूर रहता है, वह प्रशस्त जीवन जी सकता है। प्रशस्त जीवन का अर्थ है ऋजुता और मृदुता का विकास। ऋजु और मृदु व्यक्ति समभाव की साधना कर सकता है। जो समभाव की साधना करता है, वह आत्मभाव को प्राप्त होता है और आत्मभाव ही अनन्त चेतना का जागरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभय की अनुप्रेक्षा

आज का प्रत्येक आदमी भयभीत है। बड़ा-से-बड़ा व्यापारी भी भयमुक्त नहीं है। अध्यापक भी भयमुक्त नहीं है। वह भले ही दूसरों को भय की बात न कहे पर भीतर वह भयाक्रांत है कि कब, कैसे विद्यार्थी उसकी पिटाई कर दे ? मिनिस्टर या अन्य शिक्षाधिकारी उस पर झूठे-सच्चे आरोप लगाकर निष्कासित कर दे ? सर्वत्र भय व्याप्त है, क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, विस्मृतियां हैं, असत्य है। प्रज्ञा सोई पड़ी है, केवल बुद्धि का जागरण हुआ है। बुद्धि भय को नहीं मिटा सकती। वह भय को सूक्ष्मता से पकड़ लेती है। बुद्धिमान आदमी भय को दूर से पकड़ लेता है। आज के वैज्ञानिक भयग्रस्त हैं। आबादी बढ़ रही है। वह दिन भी आ सकता है जिस दिन आदमी को खाने के लिए अनाज नहीं मिल सकेगा। आबादी की यही रफ्तार रही तो वह दिन भी दूर नहीं है जब आदमी को चलने के लिए रास्ता नहीं मिल पाएगा। उसे रहने के लिए मकान और खाने को रोटी नहीं मिल पाएगी। वैज्ञानिक इन सारी समस्याओं से भयभीत हैं। सामान्य आदमी के समक्ष यह भय नहीं है। वह इस विषय में जानता ही नहीं, सोचता ही नहीं। वैज्ञानिक जानता है, निष्कर्ष निकालता है। सौ वर्ष बाद कोयला और पेट्रोल समाप्त हो जाएंगे, ऊर्जा के सारे स्रोत समाप्त हो जाएंगे, उस समय विश्व की क्या स्थिति होगी ? यह भय वैज्ञानिकों को है, औरों को नहीं। वे इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। बुद्धि जितनी प्रखर, तेज होगी उतना भय बढ़ेगा। बुद्धि का काम भय को मिटाना नहीं है। उसका काम है नए-नए भयों को उत्पन्न करना। अभय आता है प्रज्ञा से। जब प्रज्ञा जागती है, तब आदमी 'तथाता' बन जाता है। 'तथाता' का अर्थ है वर्तमान में जीना, जो प्राप्त है उसे स्वीकार कर लेना। घटना को घटना के रूप में स्वीकार कर लेना 'तथाता' है। उसके साथ भय को जोड़ना आवश्यक नहीं है। 'तथाता' आती है प्रज्ञा से। बाह्य विस्मृति और अन्तर जागरण यह है 'तथाता'।

अभय की मुद्रा

अभय का भाव जब-जब जागता है, तब-तब अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्ष्य है—प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिलकुल प्रसन्नता। कोई समस्या नजर नहीं आती। कोई तनाव नहीं होता। भीतर में बिलकुल शांति। जब भय की भावधारा होती है। तो हमारा सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय होता है यानी पिंगला सक्रिय हो जाती है और जब अभय की भावधारा होती है तो पैरा-सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय हो जाता है, इड़ा नाड़ी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नहीं होती, शांति और सुख का अनुभव होता है। सब कुछ अच्छा लगता है।

प्रश्न है हम अधिक-से-अधिक अभय की मुद्रा में कैसे रह सकें ? अधिक-से-अधिक की अभय की भावधारा को कैसे प्रवाहित कर सकें ? अधिक-से-अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सकें ? यह हमारे सामने प्रश्न है। हमने भय की भी चर्चा की और अभय की भी। भय हेय है। अभय उपादेय। हमें भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है। इसके लिए तीन साधन अपेक्षित हैं—उपाय, मार्ग और साधना। अभय का विकास उपाय के बिना संभव नहीं, मार्ग और साधना के बिना संभव नहीं। खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधना की।

एक उपाय है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शब्द की प्रणालियां हमारे शरीर के भीतर बनी हुई हैं। ये रास्ते, पगडंडियां, राजपथ हमारे शरीर में बने हुए हैं, जिनके माध्यम से तरंगें हमारे पूरे शरीर में व्याप्त हो जाती हैं और वे हमें प्रभावित करती हैं। तरंग का सिद्धांत बहुत व्यापक सिद्धांत है। 'क्वान्टम थ्योरी' का विकास हुआ तब से नहीं, किन्तु ढाई हजार, तीन हजार वर्ष पहले से यह प्रकम्पन का सिद्धांत प्रस्थापित है कि संसार में सब प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सब कुछ तरंग ही तरंग है। भय की तरंग उठी और भय के प्रकम्पन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरंग को उठा सकें, अभय के प्रकम्पनों को पैदा कर सकें तो भय की तरंग वहीं समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धांत प्रतिपक्ष का सिद्धांत है कि एक-एक तरंग के द्वारा दूसरी तरंग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है और अच्छी तरंग को उठाया जा सकता है, बुरी को निरस्त किया जा सकता है। बुरी तरंग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है। हमारे पुरुषार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते हैं और कैसा हमारा प्रयत्न होता है ? जिस व्यक्ति ने प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभ भाव की तरंग के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ भाव की तरंगों को, विधायक तरंगों के द्वारा निषेधक तरंगों को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन में कोई बुरा विकल्प उठें, मन में बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की तरंग पैदा कर दें।

अपराध को पकड़ने का वैज्ञानिक उपकरण

काव्य-शास्त्र में इस भाव-धारा का बहुत विशद विवेचन हुआ है। तीन भावधाराएं हैं--स्थायीभाव, सात्विकभाव और संचारीभाव। किस मुद्रा में कौन से भाव जन्म लेते हैं ? व्यक्ति किस रूप में प्रकट होता है ? यह सारा ज्ञात हो जाता है। श्रृंगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण रस की दूसरी मुद्रा होती है, वीभत्स-रस की तीसरी मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शांत-रस की पांचवी मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राएं होती हैं। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न-भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावनानुभूति और मुद्रा सब जुड़े हुए हैं। हमारी मुद्रा का सम्बन्ध भाव से जुड़ा हुआ है। भय की भावधारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है। डरा हुआ आदमी सिकुड़ जाता है। चेहरा सिकुड़ता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुड़ता भी है और फैलता भी है। भय से सिकुड़ता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख पुष्प की भांति खिल जाता है, भयभीत मुख बिलकुल सिकुड़ जाता है। ऐसा लगता है कि बिलकुल पतला-दुबला हो गया है। भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहर आकृति में जो परिवर्तन होते हैं वे हमारे सामने स्पष्ट होते हैं। अन्तर के अवयवों में भी परिवर्तन होते हैं। हृदय की धड़कन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रन्थियां निष्क्रिय बन जाती हैं। मुख सूखने लग जाता है, आमाशय और आंतें सिकुड़ जाती हैं, भूख भी कम हो जाती है। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता है, उसकी भूख भी कम हो जाती है। त्वचा की संवाहिता में अन्तर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया। उसे डर है कि मेरा झूठ पकड़ा न जाए। अब न्याय करने वालों को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है ? आजकल कुछ यंत्रों का विकास हुआ है। अपराधी खड़ा है और यंत्र चल रहा है, गेल्वेनोमीटर की सूई घूम रही है। यंत्र लगा दिया गया है। अब उसके मन में है, कहीं पकड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न जाऊं। भय से उत्तेजना है। अन्तर अवयवों में उत्तेजना पैदा हो गयी। वह गेल्वेनोमीटर बता देगा की यह झूठ बोल रहा है। वह बता देगा कि इसने अपराध किया है। यह सारा होता है त्वचा-संवाहिता के द्वारा। त्वचा संवाहिता का मापन होता है और इस सचाई का पता चल जाता है। क्रोध का संवेग, भय का संवेग या दूसरे किसी प्रकार के संवेग की अवस्था में हमारी बाहर की मुद्रा भी भिन्न बनती है और भीतर की मुद्रा भी भिन्न बन जाती है। दोनों का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी एक दिन में शायद सैकड़ों-सैकड़ों मुद्राएं बना लेता है। यदि कोई सूक्ष्म यंत्र या ऐसा संवेदनशील कैमरा हो हाइफ्रिक्वेंसी का तो प्रत्येक मुद्रा का भेद मापा जा सकता है। पांच मिनट पहले जो मुद्रा थी, पांच मिनट बाद रहने वाली नहीं है। जैसे-जैसे भीतर में भाव बदलेगा, तत्काल मुद्रा में परिवर्तन आ जाएगा और इसी आधार पर मुखाकृति-विज्ञान का विकास हुआ है। आकृति विज्ञान के आधार पर मनुष्य की सारी चेष्टाओं को बताया जा सकता है, उसके भविष्य का भी निर्धारण किया जा सकता है।

जागृति का मूल–अभय

प्रमाद भय है, अप्रमाद अभय है। भगवान् महावीर ने कहा–**'सव्वओ पमत्तस्स भयं'**–प्रमाद को चारों ओर से भय घेर लेता है। सर्वत्र भय ही भय है उसके लिए। उसका एक क्षण भी अभय की दिशा में नहीं बीतता। उसका क्षण-क्षण भय में ही बीतता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता। उसे सबमें अविश्वास की गंध आती है। वह अपने धन की चाबी किसी को भी नहीं सौंपता। मन में भय रहता है कि कहीं वह धन लेकर भाग न जाए ? बेटे को भी नहीं, क्योंकि उसे भय है–धन की चाबी मिल जाने पर बेटा फिर उसे पूछेगा नहीं। उसे अपेक्षा नहीं रहेगी। अपनी पत्नी को भी नहीं, क्योंकि व्यक्ति सोचता है–मां और बेटा–दोनों मिलकर मेरी फजीहत करेंगे। मेरी टिकट कटा देंगे। व्यक्ति अन्तिम समय तक भी चाबी दूसरे को देना नहीं चाहता, क्योंकि उसमें भय है। भय प्रमाद है।

कुछ लोग इसे जागरूकता भी कह देते हैं। परन्तु गहराई से सोचने पर प्रतीत होता है कि इस जागरूकता के पीछे भय काम करता है। यदि यह भय न हो कि ये बाद में मेरे साथ क्या करेंगे तो यह जागृति भी नहीं आती। इस जागृति का कारण भी भय है। कभी-कभी हम ऐसे कमरों में ठहरते हैं जहां आलमारियों में लाखों का धन पड़ा रहता है। न पहरेदार रहते हैं, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौकीदार, केवल हम रहते हैं। मकान का मालिक सुख की नींद सोता है। वह जागरण नहीं करता, क्योंकि उसके मन में भय नहीं है कि मुनि उस धन को निकाल लेंगे। उसके मन में डर नहीं है। वह जागता नहीं, सुख से सोता है। जागना क्यों पड़ता है ? जागना तब पड़ता है जब पीछे भय हो। जहां भय नहीं है, वहां निश्चिंतता है।

जब भय की स्थिति आ गई हो तो उससे डरना नहीं चाहिए। पहले यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई खतरा सहसा उत्पन्न न हो। परन्तु जब खतरा पैदा हो ही गया तो व्यक्ति की प्राण-ऊर्जा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह निडर होकर उस खतरे का सामना कर सके। इस प्रकार करने से खतरा आता है और चला जाता है, व्यक्ति का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता। दुनिया में सब उसे सताते हैं जो कमजोर है, सशक्त को कोई नहीं सताता।

अभय की निष्पत्ति—वीतरागता

जब सहिष्णुता सधती है तब अभय घटित होता है। समूचे धर्म का रहस्य है अभय। धर्म की यात्रा का आदि-बिन्दु है अभय और अन्तिम बिन्दु है अभय। धर्म का अथ और इति अभय है। धर्म अभय से प्रारंभ होता है और अभय को निष्पन्न कर कृतकृत्य हो जाता है। वीतरागता का आरम्भ अभय से होता है और वीतरागता की पूर्णता भी अभय में होती है।

जो व्यक्ति भयमुक्त नहीं होता वह कभी धार्मिक नहीं बन सकता, कायोत्सर्ग नहीं कर सकता। कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना। अभय का यह पहला बिन्दु है।

शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना, सरल-सी बात लगती है, परन्तु यह इतनी सरल बात नहीं है। शरीर के प्रति बने हुए भय से छुटकारा पा लेना सरल बात नहीं है। **'ममेदं शरीरम्'**—यह शरीर मेरा है जिस क्षण में यह स्वीकृति होती है, उसी क्षण में भय पैदा हो जाता है। यह भय की उत्पत्ति का मूल कारण है। शरीर का ममत्व भय उत्पन्न करता है। ममत्व और भय दो नहीं हैं। जहां ममत्व है, वहां भय है और जहां भय है, वहां ममत्व है। ममत्व को छोड़ना भय-मुक्त होना है और भय-मुक्त होने का अर्थ है ममत्वहीन होना।

लक्ष्य की निश्चिंतता से जैसे आत्म-बल बढ़ता है, वैसे निर्भयता भी बढ़ती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति बढ़ती है। अहिंसा के मार्ग में सिर्फ अंधेरे का डर ही बाधक नहीं बनता, और भी बाधक बनते हैं। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने-अनजाने अनेक डर सताने लग जाते हैं, तब अहिंसा से डिगने का रास्ता बनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नहीं डिगता। वह जानता है—ऐश्वर्य जाए तो चला जाए, मैं उसके पीछे नहीं हूं। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मौत के लिए तथा औरों के लिए है। मैं सच बोलूंगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच बोलूंगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच रहूंगा। फिर चाहे कुछ भी क्यों न सहना पड़े ! अहिंसक को धमकियां और बन्दर 'घुड़कियां' भी सहनी पड़ती हैं। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नहीं घबराता। इन सब बातों से भी एक बात और बड़ी है। वह है—कल्पना का भय। जब यह भावना बन जाती है—अगर मैं यों चलूंगा तो अकेला रह जाऊंगा, कोई भी मेरा साथ नहीं देगा, यह अहिंसा के मार्ग में कांटा है। अहिंसक को अकेलेपन का डर नहीं होना चाहिए। उनका लक्ष्य यही है, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक दिन दुनिया उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य भिक्षु भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरों के आक्षेप, असहयोग यदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिंसा के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

भय भय को उत्पन्न करता है, अभय अभय को। सदृश की उत्पत्ति का जैविक सिद्धांत मनुष्य की मानसिक वृत्तियों पर भी घटित होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से संवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव—ये दोनों हाइपोथेलेमस से पैदा होते हैं। ये दोनों इमोशनल हैं। हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं जहां से नाना प्रकार की प्रवृत्तियों का संचालन होता है। संवेग का संचालन शरीर से होता है। सारे संवेग हाइपोथेलेमस में पैदा होते हैं। भय का भी यही स्थान है।

अभय का दान वही व्यक्ति दे सकता है जिसने स्वयं अभय प्राप्त किया है और जिसमें से अभय की तरंगें निकलती हैं। वे तरंगें आस-पास के सारे वातावरण में अभय का विकिरण करती हैं। वही व्यक्ति अभय हो सकता है, जो अभय का दान करता है। वही व्यक्ति अभय का दान कर सकता है, जो अभय होता है।

भय बहुत बड़ा संवेग है। इससे छुटकारा पाना बहुत आवश्यक है। अभय के द्वारा ही भय को समाप्त किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मानुशासन अनुप्रेक्षा

'संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है। संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है। नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है। जो अशस्त्र का मूल्य जानता है वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है।'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है। कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।'

'लोक का सिद्धांत देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख। सब जीवों में समता देख, शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है।'

'कषाय-विजय, काम-विजय या इन्द्रिय-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं—इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त्त नहीं होते।'

आत्मा की असुरक्षा के हेतु हैं—इन्द्रियों की और मन की चंचलता। इन्द्रियां विषय को ग्रहण करती हैं और मन को अपना संवाद पहुंचाती हैं। मन अनुरक्ति और विरक्ति, चाहिए और नहीं चाहिए की दौड़-धूप में व्यग्र हो उठता है। पूर्वबद्ध संस्कारों के कारण आत्मा की ध्वनि दब जाती है और मन सक्रिय हो उठता है। यह असमाधि है, दुःख है। जिस साधक ने इन्हें ठीक समझकर, जानकर और देखकर समाधिस्थ बना लिया है, जिसकी इन्द्रियां अब स्वयं के अधीन हो गई हैं, जो अपना मालिक है वह आत्मगुप्त होता है।

व्यक्ति अपने प्राप्त के प्रति प्रतिपल प्रयत्नशील रहे तो वह अवश्य प्राप्त होता है। गति की शिथिलता चरणों को कमजोर बना देती है। अथक प्रयत्न से कुछ भी असाध्य नहीं है। साधक आत्मोन्मुख होकर बढ़ता है। वह चाहता है, लक्ष्य को हस्तगत करना, लेकिन बाधाएं उसे प्रताड़ित करती हैं। बाधाएं हैं—मोह, ममत्व, घृणा, राग, मानसिक चपलता, विषय-प्रवृत्ति आदि-आदि। साधक इन्हें परास्त किए बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। आत्म-स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्राप्ति में ये विघ्न डालते हैं। आत्म-साक्षात्कार की एक छोटी-सी प्रक्रिया है। उसके सहारे हम लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। प्रत्येक साधक में निम्न गुण आवश्यक हैं--

१. लक्ष्य में दृढ़-आस्था।
२. लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण।
३. लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न और दीर्घकालीन अभ्यास।
४. आसन का अभ्यास, शरीर-स्थैर्य।
५. वाक्-संयम।
६. सत् संकल्पों से मन को भावित करना।
७. चित्त-निरोध।

आत्मा वशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम्।
अजितात्मा विदन् सर्वमपि नात्मानमृच्छति।।

जिसने आत्मा को वश में कर लिया, उसने वास्तव में आत्मा को जान लिया। जिसने आत्मा को नहीं जीता, वह सब कुछ जानता हुआ भी आत्मा को नहीं पा सकता।

योग का अंतिम अंग समाधि है। उसका अर्थ है--आत्मनिष्ठा, बहिर्भाव से सर्वथा विलग होना। यहां परमात्मा और स्वात्मा का पूर्ण सादृश्य प्रतीत ही नहीं, अनुभूत होने लगता है। आत्मा की मौन ध्वनि मुखरित हो उठती है। जो परमात्मा है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह परमात्मा है--यह सत्य समाधि की नीची अवस्थाओं में भी उसे प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः परम सत्य की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है। भिन्नता व्यवहार में है। अभेद का उपासक भिन्नता के घेरे को लांघकर अभेद में चला जाता है। समाधि परमात्मस्थता का सर्वोच्च सोपान है। योगी वहां बहिःस्थता को सर्वथा भूल जाता है। वह क्या है ? किसका है ? कैसा है ? कहां है ? इन विकल्पों से अतीत हो जाता है। उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रहता। वह आत्म-चैतन्य और आत्मानन्द में इतना खो जाता है कि बाहर उसे कुछ दिखाई नहीं देता।

समाधि अभेद-दृष्टि से परमात्मा के साथ एकीकरण है और भेद-दृष्टि से आत्मा का स्वयं परमात्मा होना है। अभेदद्रष्टा आत्मा का परमात्मा के साथ विलीनिकरण में व्यग्र रहते हैं। आत्मा का स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रकारांतर से वहां स्वतः प्रस्फुट हो जाता है। आत्मा के एकत्व और अनेकत्व की दो दृष्टियों का समन्वय ही हमें पूर्णता का अनुभव करा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येनात्मा साधितस्तेन, विश्वमेतत् प्रसाधितम्।
येनात्मा नाशितस्तेन सर्वमेव विनाशितम्।।

जिसने आत्मा को साध लिया उसने विश्व को साध लिया। जिसने आत्मा को गंवा दिया, उसने सब कुछ गंवा दिया।

जैन-दर्शन का सारा चिंतन आत्मा की परिक्रमा किए चलता है।

आत्मा का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है

आत्मा पर आस्था ही सम्यग् दर्शन है।

आत्म-प्राप्ति की प्रवृति ही सम्यग् चारित्र है।

आचारांग सूत्र में कहा है—**'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई'**—जो एक को (आत्मा को) जानता है, वह सबको जानता है।

आत्मा-विजय ही परम विजय है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए, वह देह-रक्षा भी संयम है। आत्मा को गंवाकर देह की रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नहीं होता। आत्मा की सुरक्षा सुख का और असुरक्षा दुःख का हेतु है। इसलिए आत्मा को जानो, आत्मा को वश में करो, यही धर्म का सार है। भगवान् महावीर ने कहा—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चई।।

सभी इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करो। अरक्षित आत्मा जन्म-मरण को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा दुःखों से मुक्त हो जाता है।

समाज-व्यवस्था में दर्शन

स्वाधीनता दर्शन की बहुत बड़ी देन है। सब लोग विचारों की स्वतंत्रता चाहते हैं, लेखन और वाणी की स्वतंत्रता चाहते हैं। स्वतन्त्रता का घोष प्रबल है। कोई पराधीनता नहीं चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोष का विषय बन गया है। वैसे ही नौकर शब्द भी अतीत की वस्तु बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्षता की कड़ी टूटने पर कोई बड़ी हानि नहीं; व्यवस्था न रहे तो कोई दोष नहीं; शासन न रहे तो कोई आपत्ति नहीं; यदि स्व-शासन आ जाए। स्व-शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। **'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के'**—कुशल वह है जो न बद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न बन्धा हुआ हो और न मुक्त हो, यह कैसे हो सकता है ? शासन छोड़ा नहीं जा सकता। जहां शासन नहीं, वहां त्राण नहीं। कोई भी अत्राण रहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं चाहता। इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह परशासन से बद्ध नहीं है और आत्मानुशासन से मुक्त नहीं है।

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक है। कहीं भी देखा जाए, ईर्ष्या है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहनशीलता है। समाज में जहां सापेक्षता है, वहां ऐसा क्यों होता है, यह आज भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते हैं। वहां क्या होता है ? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन। एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना, दूसरी ओर कल्पना स्वार्थ-संघर्ष, यह दर्शन की दूरी नहीं तो और क्या है ?

व्यक्ति ने मान लिया, उत्कर्ष हो तो मेरा हो। मुख्य या शक्तिशाली मैं ही बनूं। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नहीं बनने देती, किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नहीं रहता।

व्यक्ति में जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने में पर का आरोप कर लेता है। संक्रांति वेला में प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है। विशाल वस्तु भी दर्पण में समा जाती है। व्यक्ति भी सोचता है, सारी सृष्टि मुझमें समाहित हो जाए, पर ऐसा सोचने वाला सत्य के निकट नहीं पहुंच पाता।

व्यक्ति समुद्र है। राग-द्वेष की उर्मियां उसमें कल्लोलें कर रही हैं। वहां सत्य का दर्शन नहीं होता। उन उर्मियों से ऊपर जाने वाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है, भीतर रहने वाले की नहीं।

समाजवादी प्रणाली में सत्ता कुछेक व्यक्तियों में केन्द्रित हो गई है। जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है। अपना व्रत लेकर चलने वाले कभी अत्राण नहीं होते।

शस्त्र शब्द में त्राण-शक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नहीं। भीषण आयुध रखने वाले भी संत्रस्त हैं।

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान् महावीर के दर्शन के लिए चला। इन्द्र ने सेना की रचना की। राजा पराजित हो गया, त्राण-अत्राण की अनुभूति करने लगा, क्योंकि वह पर की सीमा में चला गया था। अंत में वह भगवान् की शरण में गया और विजयी बन गया। अब इन्द्र पैरों में आ गिरा।

जो पर-शासन में पराजित हो गया, वह स्व-शासन में विजयी बन गया। समाज में रहने वाले स्व की सीमा में चलें। स्व-शासन का विकास होने पर समाज में अव्यवस्था नहीं होगी, किन्तु एक विशेष व्यवस्था होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम कृत्रिम नहीं होगा, किन्तु सहज होगा। प्रेरणा का मूल भय नहीं होगा किन्तु कर्त्तव्यनिष्ठा होगी।

प्रभु की प्रार्थना कैसे करें ?

प्रार्थना का सूत्र है—तन्मयता, प्रभुमय होने की शक्ति का जागरण। जब तक तन्मयता नहीं आती, तब तक प्रभु से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को प्रदीप्त करता है, प्रभुमय होने की शक्ति को जगाता है, उसकी प्रार्थना सफल हो जाती है। यदि ऐसा नहीं होता है तो वर्षों प्रार्थना करते रहने पर भी कुछ नहीं होता। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

वीतराग सपर्यात, तवाज्ञापालनं परम्।
आज्ञासिद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च।।

प्रभु की पूजा और प्रार्थना से भी अच्छा है कि व्यक्ति प्रभु की आज्ञा का पालन करे। वह लड़का पिता का प्रिय नहीं होता, जो पिता को प्रतिदिन नमस्कार करता है, किन्तु पिता की आज्ञा नहीं मानता। पिता को वह पुत्र अच्छा लगता है, जो आज्ञा का पालन करता है, अनुशासन में रहता है।

जो प्रभु के अनुशासन में चलता है, आज्ञा का पालन करता है, आज्ञा के अनुसार चलता है, वही वास्तव में प्रभु की प्रार्थना करने का अधिकारी हो सकता है। जो प्रभु के आदेशों को नहीं मानता, उसके विपरीत आचरण करता है, वह प्रार्थना करने का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रभु का आदेश है—पवित्र रहो, किन्तु आदमी विचारों और आचरणों से गन्दा रहता है। प्रभु का आदेश है—बुरे आचरण मत करो, ईमानदार रहो, किन्तु आदमी बुरे आचरण करता है, बेईमानी में फंसा रहता है। वैसा आदमी प्रार्थना करने योग्य नहीं है। वह प्रभु के आदेशों का उल्लंघन कर प्रभुमय बनने की अपनी योग्यता खो डालता है। वैसा व्यक्ति यदि प्रार्थना करता है तो यह विडम्बना है, आत्म-प्रवंचना है।

संसार में जितने भी विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदि उन्होंने वह रास्ता चुना जो ऊंचाई की ओर ले जाता है, मोक्ष या निर्वाण की ओर ले जाता है। इसी रास्ते पर चलकर वे महापुरुष बने।

जनतंत्र का मूल आधार है—स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है—व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने आप पर अपना नियन्त्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता। जनतन्त्र के युग में अभय का राज्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बढ़ जाता है।

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र है। उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है। इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोष नहीं देता। शासनतन्त्र के प्रमुख लोगों में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए, पर वह नहीं है। वे अपने पद का लाभ भी उठाते हैं। पक्षपात की भी उनमें कमी नहीं है। अपने कृपा-पात्रों के लिए वे कुबेर हैं तो अप्रियजनों के लिए अनुदार भी कम नहीं हैं। वे शासनतंत्र संभालते हैं जनता की भलाई के लिए और उनका संघर्ष चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए। आर्थिक घोटालों के अनेक आरोप उन पर लगाए जाते हैं और वे प्रमाणित भी हो जाते हैं।

आत्मानुशासन की जन्मभूमि है शिक्षा-संस्थान। वहां राष्ट्र की नयी पौध का निर्माण होता है। उसकी स्थिति भी स्वस्थ नहीं है। वहां विलास, फैशन और स्वच्छन्दता का इतना प्रबल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नहीं दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। परन्तु स्वार्थों का संघर्ष वहां भी अपनी जड़ें जमा चुका है। इसलिए उसकी तेजस्विता भी संदिग्ध हो चुकी है। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि एक साधु कहता है, मेरा नाम पहले क्यों नहीं आया ? उसका पहले क्यों आया ? कोई कहता है, प्रमुख मैं हूं, उसे प्रमुखता क्यों दी गई ? इस वातावरण में आत्मानुशासन की गंध ही कहां है ?

उस स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग हैं, हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नहीं बदल सकते। उसमें अपने संयम की आहुति देकर ही बदल सकते हैं। आज यह बहुत अपेक्षित है कि सब लोग आत्मानुशासन का संकल्प लें और जन-जन को यह समझाएं कि स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्मानुशासन का विकास।

शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

साम्यवादी प्रणाली में व्यक्तिगत नियन्त्रण पर बहुत ध्यान दिया गया। पर आदमी बदला नहीं। जब तक हमारा ध्यान संवेगों के नियंत्रण और अनुशासन पर केन्द्रित नहीं होगा, तब तक समाज में परिवर्तन लाने की बात नहीं आएगी। साम्यवादी शिक्षाप्रणाली में यह माना गया कि ज्ञान केवल जानने के लिए, विश्व का पुनर्निर्माण करने के लिए और समाज को बदलने के लिए है। किन्तु शिक्षा के द्वारा यह नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा में कहीं न कहीं त्रुटि है। और वह त्रुटि यह है कि शिक्षा में भावात्मक विकास की बात छूट गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज हमें इस बात पर ध्यान केन्द्रित करना है कि शारीरिक विकास के साथ बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास का सन्तुलन बने। व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर नहीं चलता। वह चलता है, भाव के स्तर पर। आदमी जो कुछ कर रहा है, उसका संचालन भीतर से हो रहा है। अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—भगवन्! आदमी पाप करता है उसका प्रेरक, प्रवर्त्तक कौन है?' कृष्ण ने कहा—आदमी को पाप में प्रेरित करता है काम और क्रोध। ये निषेधात्मक भाव हैं।

हम बुद्धि के स्तर पर समस्या को सुलझाना चाहते हैं, इसमें कोई संगति नहीं है। दर्शन पर यह आरोप लगाया गया कि वह जानने की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया नहीं है। यह सचाई नहीं है। जैन साहित्य में शिक्षा का जो प्रारूप मिलता है, उसमें दो शब्द व्यवहृत हुए हैं—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा ग्रहण करो और उसका प्रयोग करो। शिक्षा के साथ अभ्यास जुड़ा हुआ है। आज अभ्यास छूट गया, संवेग पर नियन्त्रण की बात छूट गई और अतिरिक्त भार बौद्धिक विकास पर आ गया।

भावात्मक विकास

आज अपेक्षा है कि शिक्षा के साथ भावात्मक विकास का क्रम जुड़े। इसके बिना हम जिस समाज की परिकल्पना करते हैं, वह कभी सम्भव नहीं है। बौद्धिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अपराध, हिंसा, आक्रामक-वृत्ति, आवेग, पारिवारिक कलह आदि बढ़ रहे हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? शिक्षा के द्वारा इन सब वृत्तियों में कमी आनी चाहिए। पर आज ऐसा नहीं हो रहा है। आज के विकसित राष्ट्रों में अपराधों की बाढ़-सी आ रही है। पागलपन बढ़ रहे हैं। जहां शत-प्रतिशत लोग शिक्षित हैं, वहां भी ऐसा ही हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली भी बुद्धि तक सीमित है। यह बात हमने पहले ही समझ ली थी, लेकिन हम उसको नकारते चले जा रहे हैं, समस्या को स्वयं पैदा कर रहे हैं। जब तक भावजगत् में शिक्षा का प्रवेश नहीं होगा तब तक शिक्षा के द्वारा समाज को बदलने की संभावना नहीं की जा सकती।

पिता पुत्र को दूध का गिलास पीने के लिए देता। गिलास तो वही, पर धीरे-धीरे दूध कम होता गया। पुत्र ने दूध घटने की बात पूछी। पिता ने कहा—'अकाल है। चरने के लिए हरा घास नहीं मिलता है।' लड़के ने कहा—मैं उपाय करता हूं। उसने गाय की आंखों पर हरे रंग का चश्मा लगा दिया। अब गाय को सूखा घास भी हरा दीखने लगा। वह चरने लगी। दूध बढ़ गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाय में भावात्मक परिवर्तन हुआ। वह घास भी अधिक खाने लगी और दूध भी अधिक देने लगी।

हम बाह्य को जानना ज्यादा पसन्द करते हैं। हमें कठपुतली ही दिखाई देती है जो बोलती है, नाचती है, गाती है, खेलती है। उसको जो पर्दे के पीछे संचालित कर रहा है, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। हमारे जीवन का संचालन भाव करते हैं, जो पर्दे के पीछे हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं है। जब तक शिक्षा के साथ-साथ भाव-जगत् का सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा तब तक न उपद्रव मिटेंगे, न हड़तालें समाप्त होंगी और न अनुशासन आएगा। हम बुद्धि के शस्त्र को तेज करते जा रहे हैं। उसका काम है काटना। नंगी तलवार बहुत खतरनाक होती है। उसके लिए म्यान चाहिए। म्यान में पड़ी तलवार खतरनाक नहीं होती। बुद्धि को हमने नंगी तलवार तो बना डाला, पर अब उस म्यान को खोज डालना आवश्यक है, जिससे कि सीधा खतरा न हो। यह है भाव-जगत् की क्रिया।

जीवन-विज्ञान का अर्थ पूरी शिक्षा-प्रणाली को बदलना नहीं है, बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करना नहीं है। बौद्धिक विकास जरूरी है। उसके बिना आदमी पशुता की ओर चला जाएगा। जीवन-विज्ञान का अर्थ इतना ही है कि बौद्धिक विकास के साथ भावात्मक विकास का सन्तुलन हो। यह होने पर शिक्षा प्रणाली का कार्य पूरा होता है।

भावात्मक विकास का एक पहलू है—नैतिक विकास। इसके दो रूप हैं—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। एक समाज या संस्था कुछ नियम उप-नियम बनाती है। वह ध्यान नहीं रखती है कि व्यक्ति की वासना, वृत्तियां, संवेग कैसे हैं ? विचार किए बिना वह बना देती है। यह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन है। साम्यवादी देश का एक नैतिक-सूत्र बन गया है कि व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उसमें व्यक्तिगत वृत्तियों, वासनाओं और संवेगों का ध्यान नहीं रखा गया। आखिर व्यक्ति व्यक्ति होता है। उसमें वासना है, लोभ की वृत्ति है। उनकी उपेक्षा कर व्यक्तिगत स्वामित्व का नियंत्रण कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह आर्थिक दौड़ में पिछड़ गया। जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो जाता है तो पुरुषार्थ कम हो जाता है। फलतः आर्थिक पिछड़ापन आ जाता है।

वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ है—व्यक्तिगत संवेगों और वृत्तियों पर नियंत्रण करना।

शिक्षा के साथ दोनों प्रकार की नैतिकताओं का संबंध होता है। विद्यार्थी समाज में जीता है। उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसको समाज के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियमों को मानना है, राष्ट्र के नियमों का पालन करना है, क्योंकि वह राष्ट्र में रहता है। यदि शिक्षा के द्वारा उसकी यह मानसिकता नहीं बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकता। इससे भी अधिक जरूरी है संवेगों पर नियंत्रण करना। यह नैतिकता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। यह शिक्षा के साथ जुड़े।

शिक्षा के साथ मानसिक शक्ति के विकास की बात भी जुड़ी होनी चाहिए। इस शक्ति का विकास जिस राष्ट्र, समाज या व्यक्ति में नहीं होता, वह कमजोर हो जाता है। जिन व्यक्तियों में मनोबल का विकास और भावात्मक विकास–दोनों न्यून हैं, शिक्षाशास्त्री उनके विकास के लिए नई-नई पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे हैं। आज अपेक्षा है कि सामाजिक परिवेश बदले और वर्ग-संघर्ष, वैमनस्य आदि समस्याएं समाहित हों। इसके लिए भावात्मक विकास अपेक्षित है।

अच्छे-बुरे का नियंत्रण कक्ष

वह साधना क्या है जिसके द्वारा कषाय को मंद नहीं किया जा सकता है ? यह एक प्रश्न है। इस पर हम सोचेंगे तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कषाय को मंद करने के लिए कही गयी हैं। उनका एक मात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, दान, शील–इन सबका उपदेश इसलिए है कि कषाय मंद हो। उपदेश और उपदेश का अगला चरण है–अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मंद करने के लिए आत्म-नियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है। फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करें ? सबसे पहले क्या करें ? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में चर्चाएं हुई हैं तो मनोविज्ञान ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है।

टालस्टॉय ने इस प्रश्न का सुन्दर समाधान दिया। उन्होंने कहा--'अच्छे जीवन की पहली शर्त है–आत्म-नियंत्रण और आत्म-नियंत्रण की पहली शर्त है–उपवास। हमें आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करना चाहिए।' यह है एक महर्षि का चिंतन, जो वर्तमान युग का साधक या महर्षि कहलाता था।

भगवान् महावीर ने तपस्या के बारह प्रकार बतलाए। उन्होंने कहा–'आत्म-नियंत्रण का प्रारंभ तपस्या से करो, अनशन से शुरू करो।' प्राचीन चिन्तन और वर्तमान चिन्तन–दोनों एक बिन्दु पर मिल गए। जो भी आत्मा का अनुभव करने वाले साधक हैं वे दो मार्ग या दो लक्ष्य पर नह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचते। संप्रदायों के विचार दो दिशाओं में पहुंच सकते हैं, दो दिशामागी हो सकते हैं, किन्तु अध्यात्म के विचार दो दिशागामी नहीं हो सकते। अध्यात्म के मार्ग से जो पहुंचेगा वह एक ही बिन्दु पर पहुंचेगा।

भगवान् महावीर ने कहा–'आत्म-नियंत्रण में सबसे बड़ी बाधा है भोजन। भोजन सुस्ती लाता है।' टालस्टॉय ने कहा–'जो भोजन का संयम नहीं करता वह सुस्ती को कैसे मिटा सकेगा ? जो आलस्य, सुस्ती और प्रमाद को नहीं मिटा पाता, वह आत्म-नियंत्रण कैसे कर पाएगा।' उन्होंने कहा–हमारी कुछ मौलिक इच्छाएं होती हैं। यदि हम उन इच्छाओं को समाप्त नहीं कर सकते तो उन इच्छाओं के आधार पर पलने वाली दूसरी जटिल इच्छाओं को कभी समाप्त नहीं कर सकते। जीने की कामना, भोजन की कामना, काम की कामना और लड़ने की कामना–ये मौलिक इच्छाएं हैं। सभी प्राणियों में ये बनी रहती हैं। यदि इन पर नियंत्रण नहीं पाया गया तो इनके आधार पर पलने वाली अन्य जटिल इच्छाओं पर कभी नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक सबसे पहले मौलिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण करे।'

हम आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करें, अनशन से शुरू करें, कम खाने से करें और खाने की वृत्तियों का संक्षेप करके करें और अपनी वृत्तियों को उभारने वाले रसों के संयम के द्वारा करें। यह आत्म-नियंत्रण का पहला सूत्र है।

आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र है–शरीर। हम शरीर को साधें, यह बहुत आवश्यक है। जब तक स्नायुओं को नया अभ्यास नहीं दिया जाता, स्नायुओं को नई आदत के निर्माण का अभ्यास नहीं दिया जाता, तब तक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं किया जा सकता। विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' में मनोवैज्ञानिक ढंग से चर्चा करते हुए लिखा है–'अच्छा जीवन जीने के लिए अच्छी आदतों को बनाना जरूरी है और अच्छी आदतों के निर्माण के लिए अभ्यास जरूरी है। यदि हम अभ्यास किए बिना यह चाहें कि हमारी आदतें बदल जाएं तो ऐसा कभी नहीं होगा। असफलता ही हाथ लगेगी।' उन्होंने अच्छी आदतों के निर्माण के लिए कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं–

१. अच्छी आदतें डालनी हों तो सबसे पहले अच्छी आदतों का चिंतन करो, अभ्यास करो और पुरानी/बुरी आदतों को रोको।

२. अच्छी आदतें डालने के लिए शरीर को एक विशेष प्रकार का अभ्यास दो, क्योंकि शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण किए बिना हमारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदतें अच्छी नहीं हो सकतीं। स्नायुओं को हमने जो पहले से आदतें दे रखी हैं, उनको यदि हम नहीं बदलते तो वे एक चक्र की भांति चलती रहती हैं। ठीक समय आता है और मिठाई खाने की बात याद आ जाती है, क्योंकि हमने जीभ को एक आदत दे रखी है। ठीक समय आता है और स्नायु उस वस्तु की मांग कर लेते हैं। खाने की, सोचने की, विचार करने की, कार्य करने की जैसी आदत हम स्नायुओं में डाल देते हैं, वैसी आदत हो जाती है। जो लोग बहुत ऊंचे मकानों में रहते हैं, वे पहली बार जब सीढ़ियों से उतरते हैं तब बहुत सावधानी से उतरते हैं। दूसरी-तीसरी बार उतरते हैं तो सावधानी कम हो जाती है और जब चौथी बार उतरते हैं तो कोई सावधानी की जरूरत नहीं होती। पैर अपने आप एक-एक सीढ़ी उतरते हुए नीचे आ जाते हैं। चलने के साथ मन को जोड़ने की वहां आवश्यकता नहीं होती। टाइप करने वाले प्रारंभ में अक्षरों को देख-देख कर टाइप करना सीखते हैं। जब वे अभ्यस्त हो जाते हैं, तब उनकी अंगुलियां अभीष्ट अक्षरों पर पड़ती हैं और जैसा चाहा वैसा टाइप हो जाता है। फिर 'कि बोर्ड' को देखने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि अंगुलियां अभ्यस्त हो चुकी होती हैं। हम स्नायुओं को जैसी आदत देते हैं, वे अपने काम में लग जाते हैं। उस काम की संपूर्ति में मन की संपूर्ति आवश्यक नहीं होती।

इस प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा—जब आदत डालो तो कोई अपवाद मत रखो, छूट मत रखो। पूरी आदत बना दो। आज ध्यान किया। स्नायुओं को ध्यान की आदत दी। कल छोड़ दिया। परसों छोड़ दिया। चौथे दिन फिर ध्यान में बैठे। इस प्रकार छूट देने से वह आदत नहीं बनती। छूट मत दो। प्रतिदिन यह कार्य करते रहो। भगवान् महावीर ने कहा—प्रतिक्रमण करना है तो वह यथासमय करना ही है। ऐसा नहीं कि आज किया, कल छोड़ा, परसों छोड़ा और फिर चौथे दिन किया। ऐसा करने पर प्रतिक्रमण की आदत कभी नहीं बनेगी। आज क्षमा करें, सहिष्णुता का भाव दिखाएं और कल फिर लड़ाई करें, फिर क्षमा करें तो क्षमा की आदत नहीं बनेगी। आदत डालनी है तो कोई अपवाद मत रखो जब तक कि वह आदत न बन जाए। वह स्वभाव न बन जाए तब तक कोई अपवाद मत रखो। यह है हमारा कायक्लेश का दूसरा सूत्र। कायक्लेश का सूत्र है आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को इतना साध लो, जिससे कि वह वही कार्य करे जिसका तुम निर्देश दो। यह है आत्म-नियन्त्रण का दूसरा सूत्र—शरीर को साधना !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-नियंत्रण का तीसरा सूत्र है—प्रतिसंलीनता। इसका अर्थ है—जो कुछ हो रहा है वह न होने दें, किन्तु उसे उलट दें। दो क्रम चलते हैं। एक है प्राकृतिक क्रम और एक है साधना का क्रम। हमें कुछ विशेष अवयव उपलब्ध होते हैं। एक है शक्ति-केन्द्र। सारे काम की चेष्टाएं इस केन्द्र से संचालित होती हैं। काम की सारी वृत्तियां यहां उभरती हैं और मनुष्य इसके सहारे अपनी काम-वासना पूरी करता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त संस्थान है काम-वासना की पूर्ति के लिए। प्रतिसंलीनता के द्वारा हम बदल सकते हैं। यह है साधना का क्रम।

आत्म-शोधन की प्रक्रिया

आत्म-नियंत्रण से परे आत्म-शोधन की चर्चा प्राप्त होती है। आत्म-शोधन हुए बिना आत्म-नियन्त्रण का कार्य पूरा नहीं होता। आत्म-नियन्त्रण की अपनी सीमा है। आदत को बदलने के लिए, स्वभाव को बदलने के लिए, व्यक्तित्व के पूरे रूप को बदलने के लिए आत्म-शोधन आवश्यक है। यह कोरा दिशान्तरण नहीं है, मार्गान्तरीकरण नहीं है, किन्तु संपूर्ण रूपान्तरीकरण है। मनोविज्ञान का मार्गान्तरीकरण एक मौलिक वृत्ति के मार्ग को बदलने की प्रक्रिया है, उसको दूसरी दिशा में ले जाने की पद्धति है। एक व्यक्ति में काम की मनोवृत्ति है। जब वह वृत्ति उदात्त बनती है, तब कला, सौन्दर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों में बदल जाती है। आत्म-शोधन में दिशान्तरण नहीं होता, किंतु स्वभाव मूलतः बदल जाता है। उसका सर्वथा विलय हो जाता है और वह वृत्ति बदल जाती है। उसके तीव्र विपाकों, तीव्र अनुभवों को इतना मन्द कर दिया जाता है कि वह आदत या स्वभाव कोई बाधा उपस्थित न कर सके।

प्रश्न है कि आत्म-शोधन की प्रक्रिया क्या है और उसके सूत्र कौन-कौन से हैं ? अध्यात्म के साधकों ने, आत्म-द्रष्टाओं ने इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण खोजें कीं और सौभाग्य है कि उनकी खोजें आज भी हमारे समक्ष सुरक्षित हैं।

उनका पहला चरण है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग है—शरीर का शिथिलीकरण। इससे पुरानी आदतों में परिवर्तन आता है, उनका शोधन होता है।

कायोत्सर्ग का संकल्प सूत्र है—**'तस्य उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।'**

साधक संकल्प की भाषा में कहता है—'जो आदत या स्वभाव प्रिय नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसको उत्तर करने के लिए, उसका उदात्त रूप करने के लिए, प्रायश्चित करने के लिए, विशोधि करने के लिए, मन को निर्मल बनाने के लिए, जो व्यसन या आदत का घाव हो गया है, उस घाव को भरने के लिए, उस शल्य को मिटाने के लिए, उन बुरी आदतों के द्वारा जो मूर्च्छा के परमाणु, कर्म के परमाणु, चारों ओर शरीर और मन पर व्याप्त हो गए हैं, उन पापकारी परमाणुओं का उन्मूलन करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूं।

कायोत्सर्ग सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है, स्वभावों को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव परिवर्तन नहीं कर सकता।

सेल्फ हिप्नोटिज्म के विशेषज्ञों के चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं। इस पद्धति का पहला सूत्र दिया है—'ऑटो रिलेक्सेशन।' इसका अर्थ है—स्व-शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की ही प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग किए बिना स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया फलित नहीं हो सकती। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा। यह पहला सूत्र है।

स्वभाव परिवर्तन का दूसरा सूत्र है—सेल्फ एनेलिसिस—अनुप्रेक्षा। जिसे हम बदलना चाहते हैं, जिस आदत में परिवर्तन लाना चाहते हैं, उसका विश्लेषण करना होता है। उसकी अनुप्रेक्षा करनी होती है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना होगा। सेल्फ एनेलिसिस हिप्नोटिज्म का दूसरा सूत्र है। कायोत्सर्ग की पद्धति का दूसरा सूत्र है—अनुप्रेक्षा। दोनों समानान्तर रेखाओं पर चलते हैं। यदि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूं तो मुझे सबसे पहले अपना आत्म-विश्लेषण करना होगा कि क्रोध क्यों बुरा है ? क्यों छोड़ना चाहता हूं ? यदि वह बुरा नहीं है तो छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। क्या क्रोध बुरा है—इसका मैं विश्लेषण करूं। इसका विश्लेषण करूंगा, अनुप्रेक्षा करूंगा, गहरे में उतरूंगा, अपाय विचय ध्यान की स्थिति तक पहुंच जाऊंगा। वहां मुझे ज्ञात होगा कि क्रोध एक प्रकार का ज्वर है। वह जब शरीर में उतरता है तब शरीर को तोड़ देता है और शक्तियों को क्षीण कर देता है। क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल जब क्रोध करता है तब सबसे पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है। मस्तिष्क ज्वर-पीड़ित हो जाता है। उस समय इतनी उत्तेजना और इतनी अतिरिक्त ऊर्जा खपती है कि बड़ी बेचैनी छा जाती है और सारा अंग-प्रत्यंग प्रतप्त जैसा हो जाता है। क्रोध का दूसरा प्रहार होता है—हृदय पर। क्रोध आते ही हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। उसकी गति तेज हो जाती है और उसे अस्वाभाविक ढंग से काम करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ता है। क्रोध का तीसरा प्रहार होता है—एड्रीनल ग्रन्थि पर। क्रोध के आते ही एड्रीनल ग्रन्थि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है, हृदय की शक्ति क्षीण होती है और एड्रीनल ग्रन्थि की शक्ति क्षीण होती है। ये तीनों—मस्तिष्क, हृदय और एड्रीनल ग्रन्थि जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। क्रोध के कारण इन तीनों की शक्तियां क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब सारा नाड़ी-तंत्र गड़बड़ा जाता है। जब हृदय की शक्ति क्षीण होती है तब समूचा रक्त-संचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रन्थि तंत्र की शक्तियां क्षीण होती हैं तब शक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती है।

ये हैं क्रोध के परिणाम। यह है उसका विपाक-विचय। अनुप्रेक्षा करते-करते जब मैं इन परिणामों पर पहुंचता हूं तब मुझे लगता है कि क्रोध कम करना चाहिए, उसे छोड़ देना चाहिए।

फिर प्रश्न होता है—क्या मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं ? साधक इस पर विचार करता है। इस प्रश्न पर विचार करते-करते वह इस तथ्य पर पहुंचता है कि मुझमें बहुत बड़ी क्षमता है। मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं। इस चिंतन से वह अनुप्रेक्षा के अगले चरण तक पहुंच जाता है। वह विवेक पर पहुंच जाता है।

कायोत्सर्ग का तीसरा सूत्र है—विवेक। साधक सोचता है कि मैं क्रोध को इसलिए छोड़ सकता हूं कि मैं क्रोध नहीं हूं। क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। यदि क्रोध मेरा स्वभाव होता तो मैं क्रोध को कभी नहीं छोड़ पाता। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। किन्तु क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है। मैं क्रोध नहीं हूं। मैं उससे भिन्न हूं। मैं ज्ञानमय हूं, मैं दर्शनमय हूं। मैं आनन्दमय हूं। क्रोध मेरे ज्ञान को आवृत करता है। क्रोध मेरे दर्शन को आवृत करता है। क्रोध मेरे आनन्द को आवृत करता है। उसे विकृत करता है। मेरी शक्तियों को विनष्ट करता है। इस चिन्तन से वह इस विवेक पर पहुंच जाता है—मैं क्रोध नहीं हूं और क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है।

स्वभाव परिवर्तन के तीन सूत्र हैं—कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा और विवेक।

जब साधक ने यह मान लिया कि क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूं तब यह बात बहुत सुलझ जाती है, ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब ज्ञान स्पष्ट हो जाता है तब चरण अपने आप आगे बढ़ने लगते हैं।

भगवान् ने कहा—'पढमं नाणं तओ दया'। पहले ज्ञान स्पष्ट होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। आत्म-सम्मोहन का एक कथन है—ज्ञान एक शक्ति है। ज्ञान जब स्पष्ट हो जाता है, तब आचरण की सुविधा हो जाती है।

स्वभाव परिवर्तन का चौथा सूत्र है—ध्यान। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। दोनों भृकुटियों के बीच का स्थान है—दर्शन-केन्द्र। यह हमारे अन्तर-ज्ञान का केन्द्र है। यह अन्तर्दृष्टि और सम्यग्-दृष्टि का केन्द्र है। जितना आन्तरिक ज्ञान प्रकट होता है, वह इसी केन्द्र से प्रकट होता है। जब ध्यान दर्शन-केन्द्र पर स्थापित होता है, तब अपनी बात को भीतर तक पहुंचाने में बड़ी सुविधा हो जाती है। मनोविज्ञान मानता है कि जो बात हमारे स्थूल मन तक पहुंचती है, वह कार्यकर नहीं होती। उससे व्यक्तित्व का परिवर्तन नहीं हो सकता। जब हम दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करते हैं तब हमारा विचार, हमारा संकल्प अन्तर्मन तक पहुंच जाता है। वह संकल्प लेश्या-तंत्र और अध्यवसाय-तन्त्र तक पहुंच जाता है। परिवर्तन घटित होने लगता है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान करना चौथा चरण है।

स्वभाव-परिवर्तन का पांचवा सूत्र है—शरण। हमें शरण में जाना होगा। आत्म-सम्मोहन के वर्तमान सिद्धान्त में शरण की बात नहीं मिलती। वहां आत्म-शिथिलीकरण, आत्म-विश्लेषण और ऑटो-सजेशन की बात मिलती है, स्वत:सूचना की बात मिलती है। किन्तु शरण की बात नहीं मिलती।

शरण में जाना बहुत महत्त्व का सूत्र है। प्रश्न है—किसकी शरण में जाना ? और किसी दूसरे की शरण में जाने की जरूरत नहीं है, अपनी ही शक्ति की शरण में जाना है या हमें उसकी शरण में जाना है। जो अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-आनन्द और अनन्त-शक्ति का धनी है। जिसके ये चारों अनन्त प्रस्फुटित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है। जिसमें ये बीज अंकुरित हो चुके हैं, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है। किसी व्यक्ति विशेष की शरण में नहीं जाना है। इस अनन्त-चतुष्टयी की शरण में जाना है। जब यह शरण उपलब्ध हो जाती है तब तैजस शक्ति का विकास होता है। उस समय विद्युत् की इतनी तीव्र तरंगें उपलब्ध होती हैं कि रूपान्तरण का क्रम आरम्भ हो जाता है।

संवेग-नियन्त्रण की पद्धति

जिस व्यक्ति का अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण होता है वह बहुत आगे बढ़ जाता है। जिसमें नियंत्रण की पूरी क्षमता नहीं होती है, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति में कायम रह जाता है। जो संवेदनाओं का दास बन जाता है वह अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। उसका अध:पतन होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। हम इस सचाई का अनुभव करें कि संवेदनाओं पर नियंत्रण किए बिना जीवन में विकास नहीं किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार करना हो तो पश्चिमी जगत की यात्रा करें। वहां एक नया दर्शन मिलेगा। वहां इतना बौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन तथा सुख-सुविधा की सामग्री होने पर भी इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण वहां की स्थिति अत्यन्त दुःखद और पीड़ाकारक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र में अनेक नगरों की यह स्थिति है कि नागरिक घर से निकलता है और सायं यदि सकुशल लौट आता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नहीं, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नहीं है कि झगड़ा होने पर ही गोली चले। कोई झगड़ा नहीं, कोई द्वेष नहीं, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन आज छा गया है कि कोई भी, कभी भी, किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है संवेदनाओं के अनियंत्रण से।

प्रश्न होता है कि संवेदनाओं पर नियंत्रण कैसे करें ? आदमी संवेदनाओं के साथ चलता है, जीता है। ऐसी स्थिति में संवेदनाओं पर नियंत्रण करना सरल बात नहीं है। इन्द्रिय-संवेदनाओं से परे होकर जीना साधु-संन्यासियों के लिए तो शक्य हो जाता है, पर विद्यार्थी ऐसा कर सके, बहुत कठिन बात है। आज का बच्चा प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संवेदनाओं के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमा घरों पर। घर पर आता है तो ध्यान जाता है टी. वी. पर। कभी क्रिकेट की कमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गाने। उसका पूरा दिन इन्द्रियों की संवेदनाओं के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नहीं जानता, विपाक को नहीं जानता। किंपाक का फल दीखने में सुन्दर होता है। उसका रंग-रूप मनोहारी होता है। पर उसको खाने का परिणाम होता है मृत्यु। इन्द्रिय-संवेदनाओं की भी यही स्थिति है। ये संवेदनाएं प्रवृत्तिकाल में सुखद लगती हैं, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो प्रवृत्ति-काल में अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम-काल दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल में बुरे होते हैं पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय दर्शन में वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय संवेदनाओं का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। बच्चा इस तथ्य को नहीं जानता, अतः माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए कि उसे यह भान हो सके कि इन्द्रिय-संयम जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन की अवस्था है, आत्मानुशासन अत्यन्त जरूरी है। संवेदनाओं पर नियंत्रण पाने का उपाय है परिणामबोध यानी बच्चों को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा इसकी अवगति देना बहुत जरूरी है। यह पहला उपाय है—संवेदन-नियंत्रण का।

संवेदन-नियंत्रण का दूसरा उपाय है—श्वास-नियंत्रण। यह दीर्घश्वास की प्रक्रिया है श्वास नियंत्रण का अर्थ है--पूरा गहरा श्वास/दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि उसके मस्तिष्क के लिए ऑक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का सम्बन्ध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना ऑक्सीजन चाहिये उससे तिगुना ऑक्सीजन मस्तिष्क को चाहिये। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति में मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। वह तीव्र विकास कर पाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारु रूप से काम नहीं कर पाएगा। विद्यार्थी में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा, उसका मन पढ़ाई में नहीं लगेगा। वह एकाग्र नहीं हो पाएगा। सारी गड़बड़ियां पैदा होने लगेंगी। ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास को दो भाषाओं में समझाया गया है—

१. जितना समय श्वास लेने में लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने में लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।

२. श्वास लेने में कम समय और श्वास छोड़ने में अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने में आठ मात्रा का समय लगता है तो छोड़ने में उससे डेढ़ा—बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाता है, तब न बेचैनी सताती है और न जम्हाई।

इस प्रकार लयबद्ध श्वास में दो बातें समान रूप से होंगी। चाहे तो श्वास लेने, निकालने में बराबर समय लगे या निकालने में ज्यादा समय लगे। इसका लाभ जान लेना भी आवश्यक है।

बच्चा जब १३-१४ वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी थाइमस और पिनियल--ये दोनों ग्रन्थियां निष्क्रिय हो जाती हैं। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है कि उसमें सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव हो जाता है। पिनियल ग्रंथि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियंत्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चीजों से बच जाता है। १३-१४ वर्ष की अवस्था में यौन सक्रियता बढ़नी शुरू हो जाती है और यदि पिनियल निष्क्रिय होती है तो उनकी नियंत्रण की शक्ति कम होती है और तब बालक अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करें। कामवृत्ति का केन्द्र है—नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियंत्रण रहता है तब वृत्तियां शान्त रहती हैं। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तियां सक्रिय होने लगती हैं।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान की भी वही निष्पत्ति है और योग की भी वही निष्पत्ति है। दोनों की निष्पत्ति एक है।

दीर्घश्वास से अपान पर नियन्त्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका ठीक अभ्यास करा दिया जाता है तो वह आरम्भ से ही बुरी आदतों में नहीं फसेगा। वह बुराइयों से बच जाएगा।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं कि बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हें रोकने का क्या उपाय है ?

हम सीधा-सा उपाय बताते हैं कि दस मिनट तक दीर्घश्वास का प्रयोग करें। एक मिनट में दो श्वास लो। समस्या हल हो जाएगी। केवल विद्यार्थी ही नहीं, कोई भी इस प्रयोग से लाभ उठा सकता है। जब-जब बुरे विचार, निम्न-वृत्तियां, वासनाएं आक्रमण करती हैं तब दीर्घ-श्वास का प्रयोग करने से, इनको रोका जा सकता है। दीर्घश्वास इनका प्रतिरोधक है।

संवेदन-नियन्त्रण के लिए भी दीर्घश्वास बहुत आवश्यक है। आप यह न सोचें कि संवेदन-नियन्त्रण से आपकी गृहस्थी में अन्तर आ जाएगा। आप चिन्ता न करें, बाधा नहीं आएगी। किन्तु इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण जो समस्याएं आती हैं, उनसे बचा जा सकता है।

संवेदन-नियन्त्रण का उपाय है—प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का वासनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है। कान और नाक का विकारों के साथ संबन्ध है। मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं। उसका सम्बन्ध नाक और इन्द्रियों के साथ है। प्राचीन आचार्यों ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए उन्होंने नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा में दोनों आंखें नाक पर टिकी देखी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम किसी भी दृष्टि से सोचें--चाहे बौद्धिक विकास के लिए, चाहे भावनात्मक विकास के लिए, चाहे जीविका की सफलता के लिए या सह-अस्तित्व की सफलता के लिए, हमें संवेदनों पर नियन्त्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नहीं है। जिसके पास उपाय नहीं है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय में ही सफलता की मंजिल तक पहुंच जाता है। इसलिए उपाय को खोजें, अपनाएं और मंजिल तक पहुंचें। संवेदनों पर नियंत्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को उपाय और परिणामबोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी जीवन अच्छा होगा परन्तु उसका पूरा सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा। इस प्रकार हम नई समाज-व्यवस्था में विद्यार्थी को एक घटक के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। नया मार्ग और नई दिशा उसके सामने रख सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति

अनासक्ति की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि — २ मिनट
२. कायोत्सर्ग — ५ मिनट
३. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। — ३ मिनट
४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें — ३ मिनट
५. शांति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'अनासक्ति का विकास हो रहा है। पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव क्षीण हो रहा है'—इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। — ५ मिनट

अनुचिन्तन करें :—मैं पदार्थ की प्रकृति को जानता हूं। वह मेरे लिए उपयोगी है। उससे मुझे सुविधा मिलती है। किंतु सुख और शांति नहीं। ये मेरे आन्तरिक गुण हैं। मैं संकल्प करता हूं कि मैं पदार्थ के प्रति मूर्च्छित नहीं बनूंगा। सदा अपने प्रति जागरूक रहूंगा। — १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — २ मिनट

सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि — २ मिनट
२. कायोत्सर्ग — ५ मिनट
३. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। — ३ मिनट
४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें। — ३ मिनट
५. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है—इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। — ५ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुचिंतन करें–

शारीरिक संवेदन
ऋजु जनित संवेदन
रोग जनित संवेदन
मानसिक संवेदन
सुख-दुःख
अनुकूलता-प्रतिकूलता

भावात्मक संवेदन :–

विरोधी विचार
विरोधी स्वभाव
विरोधी रुचि

ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, उतनी ही मेरी शक्तियां बढ़ेगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

मृदुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें–श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट
४. दर्शन-केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. शांति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है। अहं का भाव क्षीण हो रहा है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

१. व्यक्ति और वस्तु के प्रति मेरा व्यवहार विनम्र होना चाहिए।

२. सत्य के प्रति विनम्र भाव, जो मैं कहता हूं वही सत्य है, इस आग्रह से बचने का मनोभाव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. मुझे अपने अहं का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

४. कृतज्ञता के लिए साधुवाद, धन्यवाद देना, सत्य प्रकृति का अनुमोदन करना जीवन की सफलता का एक आवश्यक तत्त्व है।

५. अपनी भूल के लिए खेद प्रकट करना, अप्रिय व्यवहार हो जाने से क्षमायाचना करना अपने आपको बड़ा बनाने का उपाय है। इन सबके प्रति मैं जागरूक बना रहूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

अभय की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें :–
श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।

४. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर गुलाबी रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–'अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

भय से विकसित शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं। नई शक्तियां विकसित नहीं हो पातीं। इसलिये मुझे अभय होने का अभ्यास करना चाहिए। जो डरता है उसे सभी डराते हैं। भय आदमी को कमजोर बनाता है। कमजोर आदमी का कोई सहयोग नहीं करता। शक्ति के विकास के लिए अभय की साधना करूं यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मैं निश्चय ही भय से छुटकारा पा लूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें–श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. शांति-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. शांति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'नियंत्रण की क्षमता बढ़ रही है। मन की चंचलता कम हो रही है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें, फिर नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

अनुशासन या नियंत्रण के बिना समाज नहीं चल सकता। जब आत्म-नियंत्रण सशक्त होता है तब बाहरी नियंत्रण की अपेक्षा कम होती है। आत्म-नियंत्रण की शिथिलता होने पर बाहरी नियंत्रण की मात्रा बढ़ जाती है। मैं नहीं चाहता कि बाहरी नियंत्रण के द्वारा मेरी स्वतंत्रता पर अंकुश लगे।

'अपने पर अपना अनुशासन अणुव्रत की परिभाषा'–इस सत्य को मैंने समझा है। इसलिए मैं संकल्प करता हूं कि मैं आत्मानुशासन का विकास करूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

मुक्ति की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें–श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. ब्रह्म-केन्द्र (जीभ) पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'इच्छा का परिष्कार हो रहा है। स्वार्थभाव क्षीण हो रहा है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें, फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

जीवन यात्रा के संचालन का केन्द्र-बिंदु लोभ है। इससे इच्छा और स्वार्थ की भावना पैदा होती है। उसकी प्रेरणा से मनुष्य सुख-सुविधा चाहता है और उसकी साधन-सामग्री का संचय करता है।

स्वार्थ सफलता की बहुत बड़ी प्रेरणा है, उसे सामाजिक प्राणी सर्वथा रोक नहीं सकता। दूसरे के स्वार्थ को हानि पहुंचाए बिना अपना स्वार्थ साधने को अमान्य नहीं किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वार्थ की अति होने पर दूसरों के हितों को हानि पहुंचा कर अपना हित साधने के लिए क्रूर आचरण और व्यवहार किये जाते हैं। उस स्थिति में स्वार्थ समाज के लिए खतरा बन जाता है। असीम स्वार्थ की अवस्था में क्रोध, चौर्य-वृत्ति, स्वादलोलुपता, असत्य, इन्द्रियलोलुपता, कामलोलुपता, अपराधी मनोवृत्ति, सामाजिक कर्त्तव्य की उपेक्षा, हित-शिक्षा के प्रतिकूल भाव, कटु वचन का प्रयोग, इस प्रकार की प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं। इसलिए मुझे अति स्वार्थ से बचने का अभ्यास करना चाहिए।

स्वार्थी मनोवृत्ति से अल्पकालीन लाभ होते हैं, दीर्घकालीन नहीं। स्व को व्यापक बनाकर तथा स्वार्थ त्याग करने वाली महान् आत्माओं का जीवन-वृत्त पढ़कर उन्हें आदर्श मानकर स्वार्थ की संकुचित सीमाओं को तोड़ा जा सकता है। १० मिनट

६. महाप्राण की ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

ऋजुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. अरुण रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
श्वास के साथ अरुण रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।
३ मिनट

४. दर्शन-केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'ऋजुता का भाव पुष्ट हो रहा है। वक्रता का भाव क्षीण हो रहा है'—इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें, फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

ऋजुता और सत्य—दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। जहां ऋजुता है वहां सत्य है और जहां सत्य है वहां ऋजुता है। ऋजुता को छोड़कर सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

ऋजु व्यक्ति ही अपने भावों को दूसरों तक सम्यग् प्रकार से पहुंचा सकते हैं और दूसरों के भावों को सम्यग् ग्रहण कर सकते हैं। ऋजु व्यक्ति ही कथनी और करनी की दूरी को कम कर सकते हैं। ऋजुता एक बहुत बड़ा मानवीय गुण है। मेरा संकल्प है कि मैं इसे अपने में विकसित करूं।
१० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. सफेद रंग का श्वास लें। अनुभव करें–
श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।
३ मिनट
४. पूरे ललाट पर सफेद रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. पूरे ललाट पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'सब मेरे मित्र हैं। मैं सबके प्रति मैत्री का प्रयोग करूंगा'–इस शब्दावली का नौ बार अच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें।
५ मिनट

शत्रुता का भाव भय पैदा करता है और भय शरीर एवं मन को दुर्बल बनाता है, इसलिये मुझे मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए।

जैसे ही शत्रुता का भाव आता है प्रसन्नता गायब हो जाती है। अपनी प्रसन्नता को सुरक्षित रखने के लिए मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए।
२ मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

धैर्य की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें–
श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।
३ मिनट
४. प्राण-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. प्राण-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'मैं परिस्थिति को झेलने की क्षमता को विकसित करूंगा। उससे पराजित नहीं होऊंगा'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

जिसमें उतावलापन होता है, जो उचित समय की प्रतीक्षा करना नहीं जानता, उसका मन अधिक चंचल हो जाता है। अधिक चंचलता मन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्त-व्यस्त बना देती है। इससे स्मृति और एकाग्रता की शक्ति कम होती है। इसलिये धैर्य रखना बहुत जरूरी है। मैं धैर्य रखने का अभ्यास करूंगा।

१० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

मानसिक संतुलन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें–
श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।
३ मिनट
४. दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'आवेश अनुशासित हो रहे हैं। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें, फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। १० मिनट

अनुचिंतन करें–

अस्वस्थ मन शरीर को अस्वस्थ बनाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य बहुत जरूरी है। अस्वाभाविक आकांक्षा, असहिष्णुता, अवांछनीय घटना मन को असंतुलित बना देती है। मानसिक असंतुलन सफलता की बहुत बड़ी बाधा है। समस्या का सामना करना और मानसिक संतुलन खोना एक बात नहीं है। मैं समस्या से जूझते हुए भी अपना मानसिक संतुलन बनाए रखूंगा। मेरा विश्वास है कि प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास के द्वारा मैं अपने मन को इतना साध लूंगा कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संतुलित रह सके।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयबद्ध दीर्घश्वास ५ मिनट
३. भस्त्रिका ५ मिनट
४. कायोत्सर्ग ५ मिनट
५. संकल्प– ५ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैं स्वावलम्बी रहूंगा। मै अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करूंगा।'

अभ्यास पद्धति–शान्ति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–५ मिनट उच्चारण पूर्वक, ५ मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और ५ मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहूंगा। कर्त्तव्य के बाधक तत्त्वों–क्रोध, लोभ, भय आदि को अनुशासित रखने का अभ्यास करूंगा।'

अभ्यास पद्धति–शान्ति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए, ५ मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

राष्ट्रीय दायित्व की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं अपने राष्ट्रीय दायित्व के प्रति सचेत रहूंगा। मैं वैसा कोई काम नहीं करूंगा जिससे राष्ट्र का अहित हो, उसकी प्रतिष्ठा कम हो।'

अभ्यास पद्धति–दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं सत्य के प्रति आस्थावान् रहूंगा। मैं असत्य नहीं बोलूंगा, पूर्वाग्रह से बचूंगा।'

अभ्यास पद्धति–शांति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

समन्वय की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	२ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं विरोधी बातों और घटनाओं में संबंध खोजने का प्रयत्न करूंगा। मैं सर्वांगीण दृष्टिकोण का विकास करूंगा।

अभ्यास पद्धति–दर्शन-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

सम्प्रदाय निरपेक्षता की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. संकल्प–

'मैं साम्प्रदायिक कट्टरता से बचूंगा। मैं विभिन्न मान्यताओं और संप्रदायों के प्रति सद्भावना का विकास करूंगा।'

अभ्यास पद्धति–आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। मैं जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा।'

अभ्यास पद्धति–विशुद्धि-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मन्द उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा

१.	महाप्राण ध्वनि	२ मिनट
२.	लयबद्ध दीर्घश्वास	५ मिनट
३.	भस्त्रिका	५ मिनट
४.	कायोत्सर्ग	५ मिनट

५. संकल्प–

'मैं शांतिपूर्ण सहवास का अभ्यास करूंगा। मैं विध्वंसात्मक और आक्रामक प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करूंगा।'

अभ्यास पद्धति–आनन्द-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए–पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

करुणा की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें : श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट
४. आनन्द-केन्द्र पर गुलाबी रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'सम्यग् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है।' इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

क्रोध, अहंकार और लोभ के आवेग मनुष्य को क्रूर बनाते हैं। क्रूर मनुष्य दूसरों को सताता है, ठगता है, अप्रिय व्यवहार करता है। कोई नहीं चाहता मेरे साथ अप्रिय व्यवहार हो तो फिर मुझे दूसरों के प्रति अप्रिय व्यवहार क्यों करना चाहिए ? मुझे अच्छा जीवन जीने के लिए, सामुदायिक जीवन को शांतिमय बनाने के लिए, करुणा का विकास करना है। मैं संकल्प करता हूं कि मेरे में करुणा का भाव पुष्ट होगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. सफेद रंग का श्वास लें, अनुभव करें : श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट
४. ज्योति-केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करें। ३ मिनट
५. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें :

'मेरी संकल्प-शक्ति का विकास हो रहा है। प्रामाणिकता का भाव पुष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रहा है। इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

अप्रामाणिकता एक असाधारण आवेग है। यह बहुत बड़ी बुराई है। जो भावना से अपरिपक्व होता है वही अप्रामाणिक व्यवहार करता है। मैं अप्रामाणिकता की वृत्ति पर विजय पा सकता हूं। जिस क्षण अप्रामाणिक व्यवहार करने की बात मन में आएगी, उसी समय बदल दूंगा। मैं अपने आपको भावित करता रहूंगा। कोई भी परिस्थिति मुझे अप्रामाणिक नहीं बना सकती। मैं अपने विवेक को काम में लूंगा। आवेगों के आधार पर काम नहीं करूंगा। मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं निरन्तर प्रामाणिकता का विकास करूंगा।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

भेद-विज्ञान की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. आनन्द केन्द्र पर ध्यान करें ५ मिनट
४. आनन्द केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर श्वास भरते हुए अनुप्रेक्षा करें– ६ मिनट

मेरी आत्मा इस भौतिक शरीर से भिन्न है–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें।

५. अनुचिन्तन करें–

स्थूल शरीर भौतिक पदार्थ वाला है।

यही आसक्ति का मुख्य कारण है।

जो इस आसक्ति को कम करता है। अथवा लगाव को कम करता है, वह दुःख, दर्द को कम महसूस करता है। इसलिए मैं शरीर की आसक्ति को कम करने के लिए भेद-विज्ञान का अभ्यास करूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। २ मिनट

शक्ति की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ मिनट
३. अरुण रंग का श्वास लें। अनुभव करें–श्वास के साथ अरुण रंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. आनन्द केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. दोनों फुफ्फुस पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'मेरी प्राण शक्ति बढ़ रही है, कमजोरी क्षीण हो रही है'–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिंतन करें–

विषय वासनाएं मन को कमजोर बनाती हैं। प्राणशक्ति कमजोर मन में नहीं बढ़ती। इसलिए मैं विषय वासनाओं के जाल में नही फंसूंगा। मैं अनिच्छा गुण का विकास करूंगा। जब मानसिक शक्ति बढ़ेगी तब प्राण शक्ति का विकास होगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। २ मिनट

एकत्व की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें–श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. शांति केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. शांति केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

'मैं अकेला हूं, मेरी आत्मा किसी से अनुबन्धित नहीं है। इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें।

६. अनुचिंतन करें–

व्यक्ति अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। व्यक्ति अकेला ही संवेदना करता है और अकेला ही अनुभव करता है। व्यक्ति अकेला ही अतीत की स्मृति करता है और अकेला ही सोचता है। व्यक्ति अकेला ही सुख-दुःख का अनुभव करता है–ये सारे गुण अकेले में ही होते हैं, किसी से अनुबन्धित नहीं। इसलिए मैं अकेला हूं। १० मिनट

७. लम्बे और गहरे दीर्घश्वास लें। हर श्वास के साथ संकल्प करें–'मैं अकेला हूं।' एवं श्वास संयम (कुम्भक) के साथ अकेलेपन का अनुभव करें। ५ मिनट

८. अब इस शब्दावली का उच्चारण करें–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगो मे सासओ अप्पा, नण दंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।

इसके भावार्थ पर अनुचिंतन करें--

ज्ञान-दर्शनयुक्त मेरी आत्मा ही शाश्वत है। बाकी सारे पदार्थ क्षणिक व अशाश्वत हैं। ५ मिनट

९. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

अनित्य-अनुप्रेक्षा

जिस स्थान पर बैठें हैं, यह मात्र संयोग है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। स्थान के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। स्थान से विसंबन्ध का अनुभव करें।

जिस कमरे में बैठे हैं, यह मात्र संयोग है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। कमरे के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। कमरे से अपने विसंबन्ध का अनुभव करें।

जिस आसन पर बैठें हैं, यह मात्र संयोग है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। आसन के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। आसन से अपने विसंबन्ध का अनुभव करें।

शरीर पर जो वस्त्र पहने हुए हैं, यह मात्र संयोग है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। वस्त्र के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। वस्त्र से अपने विसंबंध का अनुभव करें।

यह शरीर मात्र एक संयोग है, जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। शरीर के साथ संयोग का अनुचिन्तन करें। अनुचिन्तन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। शरीर से अपने विसम्बन्ध का अनुभव करें।

शरीर में होने वाले ये रोग मात्र एक संयोग हैं। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। रोग के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। रोग से अपने विसंबंध का अनुभव करें।

ये मन की उलझनें, मानसिक समस्याएं, मात्र एक संयोग हैं। जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। मानसिक समस्याओं के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। समस्याओं से अपने विसंबंध का अनुभव करें।

ये उपाधि, आवेग-आवेश, क्रोध अहंकार, जितनी उपाधियां हैं, मात्र संयोग हैं। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। उपाधियों के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। उपाधियों से अपने विसंबंध का अनुभव करें।

ये स्वभाव, आदतें (लड़ने की आदत, नशे की आदत, अलग-अलग प्रकार की आदतें) मात्र संयोग हैं। जो संयोग होता है उसका निश्चित वियोग होता है।

स्वभाव, आदतों के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। स्वभाव, आदतों से अपने विसम्बन्ध का अनुभव करें। कोई भी आदत शाश्वत नहीं है। वह बदली जा सकती है।

यह सूक्ष्म शरीर जहां से उपाधियां आती हैं, मात्र संयोग है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। सूक्ष्म शरीर के साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। उपाधियों से अपने विसंबंध का अनुभव करें।

मेरा चैतन्य स्थान, वस्त्र, शरीर, रोग, मानसिक उलझनें, आदतें सूक्ष्म-शरीर इन सबसे भिन्न है। इन सबके साथ संयोग जुड़ा हुआ है। जो संयोग होता है, उसका निश्चित वियोग होता है। इनके साथ संयोग का अनुचिंतन करें। अनुचिंतन करते-करते अनुभव के स्तर पर आएं। चेतन से इन सबके विसम्बन्ध का अनुभव करें।

जिस क्रम से, स्थान से, जहां बैठे हैं, चले थे, अब फिर सब सयोगों को पार कर उसी क्रम में लौटें। सूक्ष्म शरीर का, आदतों का, रोग, मानसिक उलझनें, शरीर, कपड़े, आसन, स्थान प्रत्येक का अनुचिंतन करते-करते पुनः स्थान पर आएं।

इमं सरीरं अणिच्चं, इमं सरीरं अणिच्चं, इमं सरीरं अणिच्चं—यह शरीर अनित्य है। प्रतिक्षण अनेक कोशिकाएं मिट रही हैं, नई बन रही हैं। कभी आशा, कभी निराशा, नाना प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं।

इमे रोगा अणिच्चा—ये रोग अनित्य हैं, स्थायी नहीं हैं, चले जाने वाले हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इमे भावा अणिच्चा—ये स्वभाव चले जाने वाले हैं।

यह विसम्बन्ध का प्रयोग है, स्थूल से सूक्ष्म की तरफ चलें। सारे सम्बन्धों को देखते चले जाएं।

ये जुड़े हुए हैं, इनको देखते चले जाएं। पर संयोग मूर्च्छा न बन जाए। तब बाद में जो कुछ बचेगा, वह मैं हूं। चिंतन करें। अनुचिंतन करें। गहराई से चिंतन करें।

(नोट—अनित्य-अनुप्रेक्षा करने से पहले अर्हम् की ध्वनि और ध्येय सूत्र का उच्चारण करें तथा कायोत्सर्ग की मुद्रा में यह प्रयोग करें।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org